शोध सारावली

स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शोध सारावली

स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में सम्पन्न शोध कार्यों का सारांश शोधार्थियों और पाठकों के मार्गदर्शन के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ में संकलित किया गया है। यों तो अब गुरुकुल विश्वविद्यालय में दर्शन, मनोविज्ञान, अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान में भी शोध की सुविधा उपलब्ध हो गयी है, परन्तु पहले वेद, संस्कृत और हिन्दी साहित्य तथा प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित विषयों में ही शोध की अनुमति प्राप्त हुई थी। अतएव अभी तक इन्हीं विषयों में शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में वेद, संस्कृत, हिन्दी, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तथा पुरातत्त्व और दर्शन विभागों में अद्यावधि किये गये 87 शोध प्रबन्धों के सारांश, शोधकर्ता, निर्देशक तथा शोध-वर्ष के साथ दिये गये हैं।

इन शोध प्रबन्धों के पीछे समाज के पुनर्निर्माण, भारतीय चिन्तन दृष्टि की विशिष्टता, राष्ट्रीय निर्माणधारा तथा वैज्ञानिक प्रगति के मुख्य प्रवाह से जुड़ने की चेष्टा कार्यरत रही है और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को वैदिक साहित्य और चिन्तन के सामंजस्य द्वारा नई विचार भूमि पर स्थापित करने का उद्देश्य इन्हें भारतीय वाङ्मय और सामाजिक परिप्रेक्ष्य के लिए उपयोगी बनाता है।

मूल्य : २२०.०० रुपये
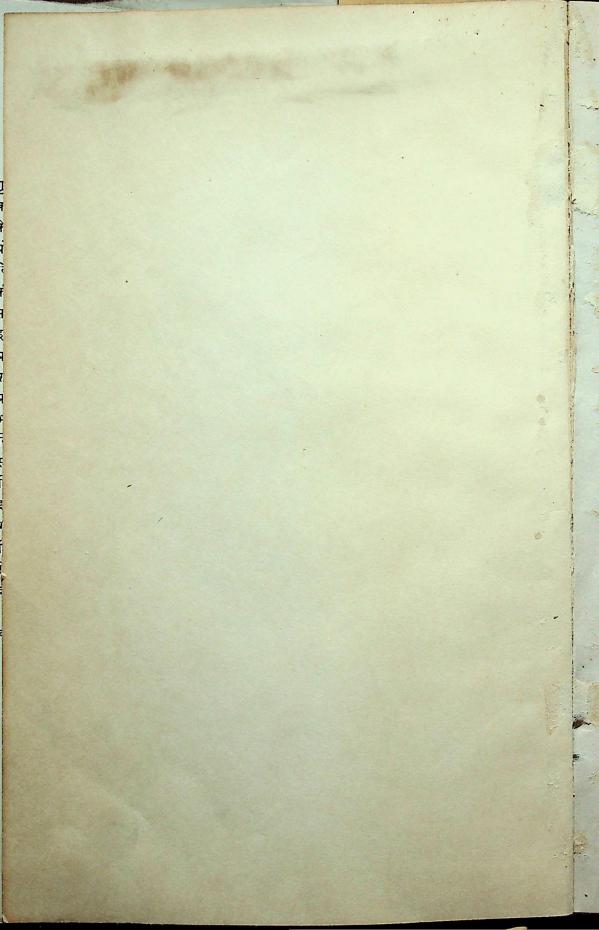
शोध सारावली

[गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधप्रबन्धों का सार-संग्रह]

प्रकाशक

स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शोध सारावली

सम्पादक-मण्डल

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
[वेद विभागाध्यक्ष]

प्रो० डॉ० विष्णुदत्त राकेश
[हिन्दी विभागाध्यक्ष]

डॉ० निगम शर्मा
[संस्कृत विभागाध्यक्ष]

डॉ० जयदेव वेदालंकार
[दर्शन विभागाध्यक्ष]

जगदीश विद्यालंकार
[पुस्तकालयाध्यक्ष]

संयोजक-सम्पादक

प्रो० डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
[इतिहास विभागाध्यक्ष]
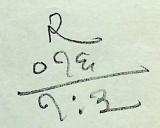
प्रकाशक : स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

एकमात्र वितरक : वाणी प्रकाशन,
4697/5, 21-ए, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण : 1988

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
में मुद्रित

सम्पादकीय

आपके समक्ष शोध-सारावली प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। विश्वविद्यालय के वेद विभाग, संस्कृत विभाग, हिन्दी विभाग, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग और दर्शन विभाग में 1972 से 1987 तक जो शोधकार्य सम्पन्न हुआ उसका सारांश इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया जा रहा है। विश्वविद्यालय का यह प्रकाशन शोध के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

शोध-सारावली के प्रकाशन की प्रथम प्रेरणा, विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर आर०सी० शर्मा से मिली और इसे पूर्ण करने का निश्चय प्रकाशन निदेशक प्रोफेसर विष्णुदत्त राकेश ने अन्य विभागाध्यक्षों से मिलकर किया। विभिन्न विभागों के अन्य प्राध्यापकों में डा० मनुदेव, डा० महावीर, डा० सन्तराम वैश्य और डा० राकेश शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस सार-संग्रह को पूर्णता प्रदान करने में सक्रिय योगदान किया।

विश्वविद्यालय के पदाधिकारियों में उपकुलपति आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, कुलसचिव डा० वीरेन्द्र अरोड़ा, उपकुलसचिव डा० श्यामनारायण सिंह और पुस्तकालयाध्यक्ष जगदीश विद्यालंकार ने प्रस्तुत कार्य को सम्पन्न करने में अमूल्य सहयोग प्रदान किया है।

विनोदचन्द्र सिन्हा
संयोजक-सम्पादक,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग
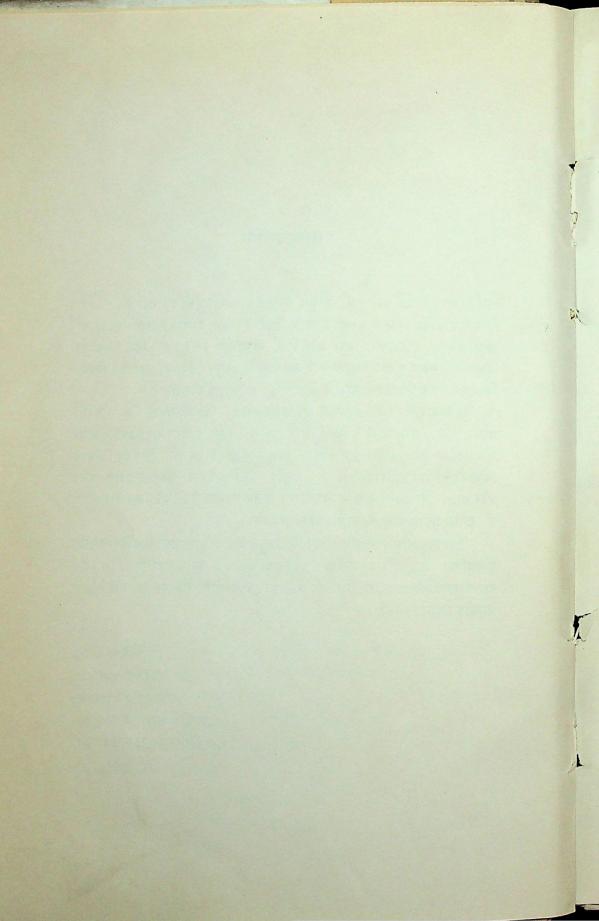
दो शब्द

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र से गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में सम्पन्न वेद, संस्कृत दर्शन, हिन्दी तथा प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विषयक शोधकार्य का सारांश 'शोध सारावली' के नाम से छपकर शोधार्थियों और शोध में रुचि लेनेवाले विद्वानों के सामने जा रहा है। बहुत दिनों से यह भी सोचा जा रहा था कि गुरुकुल में प्रकाशन केन्द्र की स्थापना की जाय और उसके अन्तर्गत गुरुकुल के आचार्यों, स्नातकों और शोधोपाधि प्राप्त विद्वानों के ग्रन्थों को प्रकाशित किया जाय। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्त विशेष अनुदान राशि से इस कार्य को मूर्त रूप देने के लिए ही प्रकाशन केन्द्र स्थापित कर दिया गया है और प्रो० विष्णुदत्त राकेश, हिन्दी विभागाध्यक्ष, की देखरेख में इसका कार्य सुचारु रूप से चल निकला है। मैं सहायतार्थ अनुदान आयोग के अधिकारियों को धन्यवाद देता हूँ।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कला, वेद तथा विज्ञान महाविद्यालयों में जिस गति से वैविध्यपूर्ण शोधकार्य प्रारम्भ हुआ है उसका सामंजस्य अन्य विश्वविद्यालयों में होनेवाले शोधकार्य से होना चाहिए। पुनरावृत्ति, पिष्टपेषण तथा पारस्परिक सामंजस्य के अभाव में परिमाण में अधिक होता हुआ भी शोधकार्य गुणता की दृष्टि से हीनतर ही रहता है, अतः शोधार्थी के लिए यह जानना उपयोगी है कि किस विषय पर कहाँ से कितनी मात्रा और विशेषता में क्या कार्य हो चुका है और क्या कार्य हो रहा है? ऐसी उपयोगी सूचनाओं के प्रकाशन तथा शोधकार्य के सार-संग्रहों के आकलन से शोधार्थी अनावश्यक श्रम और समय की बरबादी से बच जाता है। शोध क्षेत्र के विस्तार, प्रतिपाद्य और प्रस्तुतीकरण की सीमाओं से परिचित होकर वह चिंतन के नये क्षितिज ढूंढ़ लेता है और फिर श्रम, दूरदर्शिता, स्वाध्याय और अन्वेषण की जिज्ञासा से अपने कार्य में प्रवृत्त होकर निर्धारित लक्ष्य तक पहुँच जाता है। मेरी दृष्टि में ऐसे संकलन कार्यों की उपयोगिता असंदिग्ध है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में उपाधि के लिए प्रस्तुत और स्वीकृत शोध-प्रबन्धों के सार संग्रह के प्रकाशित हो जाने से जहाँ विश्वविद्यालय के शोधकार्य और दिशाओं की जानकारी विद्वानों को मिलेगी वहाँ नये-पुराने शोधार्थी भी इससे समुचित लाभ उठा सकेंगे।

मेरी कामना है कि प्रकाशन का यह सिलसिला अविच्छिन्न बना रहे तथा नित्य नयी सूचनाओं के संकलन-समायोजन से इस ग्रन्थ का परिष्कार और विस्तार होता रहे।

प्रो० रामचन्द्र शर्मा
कुलपति

प्रकाशन केन्द्र की ओर से

विश्वविद्यालय का दर्जा मिल जाने पर गुरुकुल में स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्यापन तथा उपाधि सापेक्ष अनुसंधान का कार्य प्रारम्भ हुआ। वेद, संस्कृत, हिन्दी और प्राचीन भारतीय इतिहास विषयों में शोध की अनुमति पहले मिली। अब तो दर्शन, मनोविज्ञान, अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञान में भी शोध की सुविधा उपलब्ध हो गयी है। शोधकार्य का माध्यम संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी है अत: गुरुकुल में इन तीनों भाषाओं में शोध ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये। अधिकांश प्रबन्ध हिन्दी में ही लिखे गये। गुरुकुल प्राच्यविद्याओं के अध्ययन-अनुसंधान के लिए पहले से ही समादृत रहा है अत: इसके इसी स्वरूप को सुरक्षित रखने का प्रयत्न विश्वविद्यालय के शिक्षा-शास्त्रियों और अधिकारियों द्वारा होता रहा। यहाँ का पुस्तकालय भी भारतीय साहित्य, संस्कृति, इतिहास और दर्शन पर उत्कृष्ट कोटि की प्रचुर पठनीय सामग्री उपलब्ध करा सकने में सक्षम होने के कारण बाहर के विश्वविद्यालयों के शोध प्रेमियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। मुद्रित देशी-विदेशी ग्रन्थों के साथ-साथ अनेक दुर्लभ हस्तलेख और पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुएँ पुस्तकालय तथा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यही कारण है कि वेद-कला महाविद्यालय के विभागों में अनुसंधान विभाग की स्थापना हो जाने पर स्नातकों का ध्यान शोध की ओर गया तथा आर्य समाज, वैदिक साहित्य, संस्कृति, इतिहास, हिन्दी साहित्य, दर्शन और मानविकी के आधुनिक विषयों का भारतीय चिन्तन क्षितिज अन्वेषित करने के लिए शोधार्थी गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुए।

गुरुकुल में सम्पन्न शोधकार्य का सर्वेक्षण करने से पता चलता है कि प्राच्य विद्याओं में यहाँ वेद, वेदांग, स्मृतिशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, काव्य, दर्शन, पुरा-तत्व, संस्कृति, इतिहास और हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं और विशेषकर मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के स्रोतों और प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रवृत्ति-परक अध्ययन से सम्बन्धित कार्य अधिक हुआ है। संस्कृत में परम्परित साहित्य के शास्त्रीय अध्ययन के अतिरिक्त आधुनिक सामाजिक शास्त्रों के विनियोग की

प्रणाली भी अपनायी गयी है। इस दृष्टि से 'भवभूति के पात्रों में स्वात्म प्रक्षेपण' शोध-प्रबन्ध उल्लेखनीय है। वेद में दयानन्द, सायण, महीधर तथा उव्वर का तुलनात्मक अध्ययन, शिक्षा-वेदांग तथा दयानन्द की वृहत्त्रयी जैसे शोध ग्रंथ रेखांकित करने योग्य हैं। प्राचीन पाण्डित्यपूर्ण शैली पर ऋग्वेद में उपसर्ग या रामानुज और दयानन्द की दार्शनिक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन या वृहत्त्रयी और लघुत्रयी पर वैदिक प्रभाव या सांख्य शास्त्र और चरक संहिता— एक दार्शनिक तुलनात्मक अध्ययन या जीवात्मा के वेद प्रतिपादित स्वरूप की विवेचना ध्यान देने योग्य हैं। इतिहास में अहिच्छत्रा, यौधेयगणराज्य, बाली में भारतीय संस्कृति का विकास तथा प्राचीन भारत और कम्बुज, हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल स्टडी आफ दी प्रतिहार इन्सक्रिप्शंस तथा मौर्यकाल में नौकरशाही प्रबन्ध चर्चा करने योग्य हैं। हिन्दी में सम्प्रदाय विशेष के साहित्य, लोक-संस्कृति, तुलनात्मक अध्ययन, आर्य समाज सम्बन्धी साहित्य और मध्यकालीन भक्ति तथा रीतिसाहित्य के ज्ञात-अल्पज्ञात साहित्य पर शोध ग्रंथ लिखे गये। इनमें मध्यकालीन साहित्य की वैदिक पृष्ठभूमि, भारतीय रस चिन्तन पर वेदान्त दर्शन का प्रभाव, सूफी सन्तपरम्परा में नूर मुहम्मद, हिन्दी व्याकरण : उद्‌भव और विकास, हिन्दी शब्द समूह का विकास, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, आचार्य पद्‌मसिंह शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति, आर्य समाज तथा प्रेमचन्द और सप्तकत्रय : आधुनिकता एवं परम्परा बहु प्रशंसित शोध ग्रंथ हैं। निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन प्रबन्धों का फलितार्थ प्रौढ़ है तथा ये सभी शोध की शक्ति और सामर्थ्य से पूर्ण हैं।

गुरुकुल में उपाधि सापेक्ष शोध प्रबन्धों के अतिरिक्त उपाधि निरपेक्ष शोध-सामग्री भी पुष्कल परिमाण में उपलब्ध होती है। विश्वविद्यालय के स्थापना काल से ही गुरुकुल के आचार्य एवं स्नातक इस बात के लिए चिन्तित रहे हैं कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान का मौलिक स्वरूप विचारकों के सामने रखा जाना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों की पूर्वग्रह युक्त शोध कृतियों के राष्ट्रीय हित और जातीय अस्मिता की रक्षार्थ सटीक उत्तर दिए जाएँ तथा भारत की ज्ञान-गुरुता और उच्चतर लेखन की सम्भावनाओं का उद्‌घाटन किया जाए। इस दृष्टि से 1910 में गोवर्धन शास्त्री की पुस्तिका 'वेदों का अनादित्व' प्रकाशित हुई और फिर 1914 में संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन लिखकर इन्द्रजी ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। हिन्दी माध्यम से विज्ञान विषयक लेखन की शुरुआत भी गुरुकुल में हुई। गुरुकुल काँगड़ी प्रकाशन मन्दिर से 1910 में विज्ञान प्रवेशिका भौतिकी तथा रसायन जैसी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। महेशचरण सिन्हा का 'वनस्पतिशास्त्र' इसी उद्देश्य से लिखी अपने विषय की मुख्य पुस्तक है। गुरुकुल के स्नातकों में अत्रिदेव कृत संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद भारतीय ज्ञानपीठ तथा आयुर्वेद का इतिहास हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से छपे। इन्द्रजी का आर्यसमाज का इतिहास सार्वदेशिक सभा से तथा

भारतीय स्वाधीनता का इतिहास सस्ता साहित्य मण्डल से मुद्रित हुए। जयचन्द्रजी ने साहित्य सम्मेलन कोटा के अधिवेशन की अध्यक्षता की। उनकी भारतीय इतिहास की मीमांसा, भारतभूमि और उसके निवासी, भारतीय इतिहास की रूपरेखा तथा इतिहास प्रवेश मौलिक रचनाएँ हैं जिनकी शोध दृष्टि की प्रशंसा डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और डॉ० नीलकण्ठ शास्त्री ने मुक्तकण्ठ से की है। प्राणनाथजी की पुस्तक राजनीति शास्त्र और भारतीय सम्पत्ति शास्त्र, आचार्य रामदेव की पुस्तक भारतवर्ष का इतिहास, नारायणराव की स्तूपनिर्माण कला, चन्द्रगुप्त वेदालंकार की बृहत्तर भारत, धर्मदत्त विद्यालंकार की प्राचीन भारत में स्वराज्य, भगवद्दत्त की वैदिक स्वप्न विज्ञान, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार की अपने देश की कथा, आचार्य प्रियव्रत की वेदों का राष्ट्रीय गीत और वरुण की नौका, डॉ० हरिस्त वेदालंकार की कालिदास के पक्षी, ओमप्रकाश विद्यालंकार की होमियोपैथी के सिद्धान्त तथा डॉ० रामनाथ वेदालंकार की 'वेदों की वर्णन शैलियाँ' गुरुकुल के चर्चित प्रकाशन हैं जिनसे विश्वविद्यालय की महिमा का संवर्धन हुआ है। इनमें डॉ० रामनाथजी ग्रंथ के अतिरिक्त शेष उपाधि निरपेक्ष शोध ग्रंथ हैं।

यहाँ डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार की चर्चा विशेष रूप से करना चाहता हूँ। सत्यव्रतजी ने वैदिक साहित्य, संस्कृति, दर्शन, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, होमियोपैथी तथा नैतिक साहित्य से सम्बन्धित उत्कृष्ट साहित्य की रचना की है। उनकी कृतियाँ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में निविष्ट रहीं। डॉ० राधाकृष्णन, श्री लालबहादुर शास्त्री, जयप्रकाशनाराण, मुंशी प्रेमचन्द तथा डॉ० रामनारायण सक्सेना जैसी हस्तियाँ उनके ग्रन्थों की प्रशंसक रहीं। उनके उपनिषद् और गीताभाष्य, वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, सामाजिक विचारों का इतिहास, व्यावहारिक मनोविज्ञान, भारत की जनजातियाँ तथा संस्थाएँ और समाजशास्त्र के मूल तत्व प्रामाणिक ग्रंथ हैं। डॉ० सत्यकेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के इतिहास लेखक हैं। उन्होंने चालीस से अधिक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें प्राचीन भारत, भारतीय संस्कृति का विकास, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, दक्षिणपूर्व और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारतीय इतिहात का वैदिकयुग, प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ, यूरोपका आधुनिक इतिहास विश्व की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा 8 खण्डों में आर्यसमाज का इतिहास पुरस्कृत, समादृत बहुप्रशंसित ग्रंथ हैं। आचार्य प्रियव्रत कृत वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त तीन खण्ड मौलिक अनुसंधान के उच्चतम निदर्शन हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों पर किसी विश्वविद्यालय से शोधोपाधि नहीं मिली है तथापि मौलिक तथ्यान्वेषण, निजी सूझ-बूझ, प्रखर पाण्डित्य, स्वच्छ निरूपण, नवीन आख्या, विश्लेषण क्षमता तथा विषय प्रतिपादन की गम्भीरता और तटस्थ विवेचन की दृष्टि से इन रचनाओं की गुणवत्ता किसी भी शोधोपाधि से विभूषित विश्वविद्यालयीय

उत्कृष्ट शोधग्रंथ से किसी भी अंश में न्यून नहीं है। समीक्षात्मक आकलन, तथ्य शोधन और संतुलित निष्कर्ष इन कृतियों की प्रमुख विशेषता है यदि हम इन कृति को भी गुरुकुल द्वारा सम्पन्न शोधकार्य में समाविष्ट कर लेते हैं तो गुरुकुलीय शोध का इतिहास समृद्ध एवं भास्वर हो जाता है। हम ऐसा किसी व्यामोहवश नहीं कर रहे हैं क्योंकि उक्त सभी ग्रंथों को संदर्भ के रूप में अन्य विश्वविद्यालयों के विद्वान् अपनी शोधकृतियों में प्रयुक्त करते रहे हैं, अतः स्रोत सामग्री के रूप में प्रयुक्त किए जाने के कारण इनकी शोधपरकता प्रमाणित हो गयी है। इतिहास, संस्कृति, साहित्य, दर्शन और भारतीय सामाजिक चिन्तन के आलोक में लिपटा यह उपाधि निरपेक्ष कार्य गुरुकुल की प्रासंगिकता को प्रतिष्ठित करता है और 78 वर्षों की साधना को मुखर करता हुआ आधुनिक अनुसंधायकों को चुनौती देकर कहता है कि जातीय संगठन, समाज सुधार, देश प्रेम, चरित्रनिर्माण, जनसाधारण में साहित्यिक और राजनीतिक चेतना के विकास, रचनात्मक शिक्षा प्रयोग तथा राष्ट्र निर्माण के लिए उपयोगी और प्रयोजननिष्ठ मूल्यवादी साहित्य संरचना की दृष्टि से मेरा मूल्यांकन करो, मैं देश की विकासधारा के साथ खड़ा हुआ मिलूंगा।

भारत सरकार से विश्वविद्यालय की मान्यता मिल जाने पर 1962 में शोध का एक पृथक् विभाग भी स्थापित किया गया। वेदों के विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार को इसका अध्यक्ष मनोनीत किया गया। पण्डितजी ने इस विभाग के तत्वावधान में विष्णुदेवता, भृगुदेवता, ऋषिरहस्य, सविता देवता, वैदिक आध्यात्म विद्या, वैदिक स्वप्न विज्ञान तथा बृहस्पति देवता ग्रंथों का लेखन तथा प्रकाशन किया। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डॉ० सम्पूर्णानंद तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे वैदिक विद्वानों ने इस कार्य को उच्चकोटि का शोध कार्य बताया। पण्डित जीग्वैद विषयक गम्भीर अनुशीलन का प्रतिफलन इन पुस्तकों में हुआ है। वेद विभाग में शोधकार्य प्रारम्भ हो जाने के बाद यह विभाग स्वतन्त्र रूप से कार्य न कर सका और अब पण्डितजी शिक्षामन्त्रालय की चूड़ामणि विशेष योजना के अन्तर्गत विश्वविद्यालय में कार्य कर रहे हैं।

विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा ने जो स्वयं विचारक और साहित्यिक हैं तथा जिन्होंने लोक प्रकाशन, समाज, शिक्षा और मूल्य तथा दयानंद के शिक्षा एवं राजदर्शन पर लिखा है, गुरुकुल में प्रकाशन केन्द्र की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की। वह गुरुकुल कांगड़ी प्रकाशन मंदिर को जो मृतप्राय हो चुका था, पुनः जीवित करना चाहते थे। उन्होंने गुरुकुल पत्रिका, वैदिक पाथ, आर्यभट्ट और प्रह्लाद नाम से पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ कराया। उनके मन पर स्वामी श्रद्धानन्द और आचार्य रामदेव की छाप थी। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने सद्धर्म-प्रचारक, श्रद्धा तथा सत्यव्रतजी ने अलंकार नामक पत्र गुरुकुल से निकालकर देश के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में हलचल पैदा कर दी

था। सद्धर्म-प्रचारक के उर्दू संस्करण ने पंजाब में आधुनिक जीवन चेतना की लहरें उठाई। रामदेवजी ने वैदिक मैगजीन अंग्रेजी में निकाली। विश्वविख्यात साहित्यकार टालस्टाय और रोमां रोला से अनेक विषयों पर रामदेवजी का पत्रव्यवहार इसी पत्रिका के माध्यम से हुआ। श्री हूजा ऐसा ही वातावरण पुनः निर्मित कराना चाहते थे। उन्होंने कुछ प्राध्यापकों को तथा छात्रों को उनके शोध प्रबंधों के प्रकाशनार्थ आंशिक अनुदान भी दिया तथा उससे डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा का 'हिस्ट्री आफ दी शुंग डाइनेस्ट्री', डॉ० जबरसिंह सेंगर का 'भारत और कम्बुज के सम्बन्ध', डॉ० हरगोपालसिंह का 'साइकोथरेपी इन इण्डिया', कु० अंजलि का 'भवभूति के पात्रों में स्वात्म प्रक्षेपण', दीनानाथ शर्मा का 'सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व,' डॉ० गंगाराम गर्ग का 'वर्ल्ड पर्सपैक्टिव आन स्वामी दयानन्द सरस्वती' और डॉ० जयदेव के सम्पादन में 'महर्षि दयानन्द की साधना और सिद्धांत' जैसे ग्रंथ भी छपे पर प्रकाशन केन्द्र की विधिवत् स्थापना विश्वविद्यालय में न हो सकी।

वर्तमान कुलपति प्रो० रामचन्द्र शर्मा, सेवा निवृत्त, आई० ए० एस०, ने इस कार्य की गुरुता को देखते हुए 'स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र' की स्थापना का सुझाव रखा और प्रबंधकारिणी समिति के अनुमोदन पर इस सुझाव को कार्यान्वित भी कर दिखाया। इसके लिए उन्होंने अनुदान आयोग से एक लाख रुपये का विशेष अनुदान भी प्राप्त कर लिया। प्रो० शर्मा का लक्ष्य है कि इस संस्थान से उन्हीं ग्रंथों को प्रकाशित किया जाए जो शोध के क्षेत्र में मानदण्ड स्थापित करनेवाले हैं तथा जो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को वैदिक साहित्य के सामंजस्य द्वारा नई विचारभूमि पर प्रस्तुत करने की सामर्थ्य रखते हैं। समाज के पुनर्निर्माण, भारतीय चिन्तन दृष्टि की प्रभुता, राष्ट्रीय निर्माण धारा तथा वैज्ञानिक प्रगति के मुख्य प्रवाह से कटा हुआ शोध इतिहास की वस्तु हो सकता है, जीवन की नहीं। गुरुकुल के प्रख्यात किन्तु दुष्प्राप्य और सर्वथा अप्राप्य ग्रन्थों के क्रमशः पुनर्मुद्रण की योजना भी इस केन्द्र के विचाराधीन है।

गुरुकुल में सम्पन्न अद्यावधि शोध कार्य का सारांश इस प्रकाशन केन्द्र से 'शोध सारावली' के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इससे भावी शोधार्थियों का मार्ग-दर्शन तो होगा ही, विश्वविद्यालय के शैक्षिक अवदान की झाँकी भी विद्वानों को मिल सकेगी।

इस अवसर पर विश्वविद्यालय के कुलाधिपति डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, परिद्रष्टा श्री सोमनाथ मरवाह एडवोकेट, कुलपति प्रो० रामचंद्र शर्मा तथा कुल-सचिव डॉ० वीरेन्द्र अरोड़ा के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके विद्योचित संकल्प और आशीर्वाद से प्रकाशन केन्द्र खड़ा हो सका।

प्रकाशन प्रबंधक श्री जगदीश विद्यालंकार तथा 'शोध सारावली' के संयोजक-सम्पादक प्रो० डा० विनोदचन्द्र सिन्हा का धन्यवाद।

इन शब्दों के साथ 'सारावली' सुधी पाठकों के हाथों में सौंपते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है।

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
एवं
निदेशक
स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र

विषय-सूची

वेद विभाग के शोध कार्य

संस्कृत विभाग के शोध कार्य

हिन्दी विभाग के शोध कार्य

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग के शोधकार्य

दर्शन विभाग के शोधकार्य

वेद विभाग के शोधकार्य

शोध छात्र / छात्रा	विषय, निर्देशक, वर्ष
1. विश्वपाल वेदालंकार	वेदों में आयी हुई संख्याओं पर अनुसंधान, पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, 1980
2. दिलीप वेदालंकार	वेदों में मानववाद, पण्डित धर्मदेव विद्या-मार्तण्ड, 1980
3. योगेन्द्र पुरुषार्थी	वैदिक संहिताओं में योग तत्व, पण्डित रामप्रसाद वेदालंकार, 1980
4. सत्यप्रकाश रामबहल	महर्षि दयानन्द की बृहद्त्रयी : एक समा-लोचनात्मक अध्ययन, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, 1984
5. मनुदेव	बृहदारण्योपनिषद : एक अध्ययन, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, 1985
6. रामेश्वरदयाल गुप्त	जीवात्मा के वेद प्रतिपादित स्वरूप की विवेचना का सारांश, डॉ० भारत भूषण, 1986
7. कामजित	महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में इन्द्र देवता का अध्ययन, डॉ० सत्यव्रत राजेश, 1987
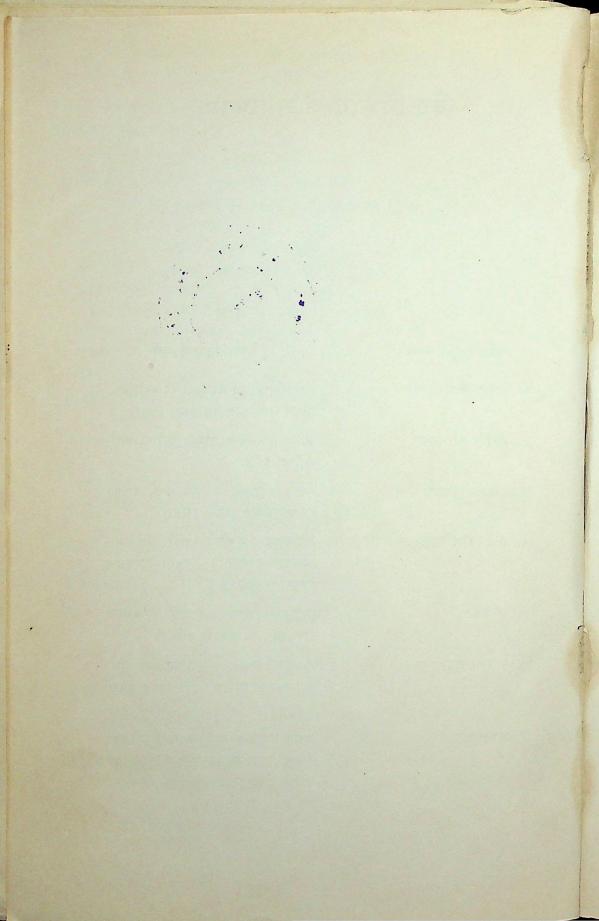
वेदों में आयी हुई संख्याओं पर अनुसन्धान

शोधकर्ता—विश्वपाल वेदालंकार
निर्देशक—पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड
वर्ष—1980

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का आधार वेदों की संख्याएँ हैं। हमने यहाँ संख्याओं के वाचक शब्दों पर अति स्पष्ट होने से ध्यान नहीं दिया है। जैसे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते"। यहाँ समानं वृक्षं में समान एक का वाचक है, परन्तु यह अति स्पष्ट है। इसलिए इस निबन्ध को छुआ ही नहीं गया। वेद में जो सामान्य सरलार्थक संख्याएँ हैं जैसे द्विपाद्, चतुष्पाद्, शतम्, सहस्रम्, शतकुतो, जीवेम शरदः शतम् आदि पर न किसी का विवाद है और यदि विवाद कहीं है भी तो उसे दिखाते हुए हम सामान्य रूप से ही चले हैं। इसके अतिरिक्त भी वेद में अन्य बहुत-सी संख्याएँ वेद में ही स्पष्ट हैं तथा किसी भी विद्वान् के लिए चिन्तन और विवाद का विषय नहीं बनीं। उनका सामान्य स्पष्टीकरण करते हुए चले हैं। शेष जो संख्याएँ ऊहा के योग छोटी तथा बड़ी हैं, वो ही शोध का मुख्य विषय है और उन संख्याओं पर कई शोध लिखे जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न नामों के आधार पर हमने जहाँ तक हो सका है पूरा प्रयत्न किया है बल्कि संग्रह में कई जगह तो ऐसे चिन्तन हाथ लगे हैं जो बहुत ही आनन्ददायक है। जैसे—"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः" इस पर पं० प्रवर श्री विद्यानिधि जी ने पाणिनीशाष्टक के "स्वौजस-मौटछस्" इस सूत्र को लगाया है। 21 प्रत्यय सारे संसार के रूपों (देवः, देवौ, देवाः) आदि को धारण करते हैं।

इस शोधग्रन्थ में तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय गूढ़ या रहस्यात्मक अध्याय है जो वास्तव में शोध का विषय है। वेद की संख्याएँ रहस्यात्मक हैं। उनके अर्थ चिन्तन में एक नयी पद्धति का जन्म होता है। गूढ़ अर्थों को धारण करके ये संख्याएँ वेद के महत्त्व को प्रकट करती हैं। यथा—षष्ठि सहस्रा भवंति नव द्विर्दश, सहस्रं

विंशतिशता, त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवाः, दशमि सहस्रै त्रिवरुणः, त्रिसप्त सप्ततीनाम्, शतं दश त्रीणि शतानि सहस्रदश आदि।

द्वितीय अध्याय गण अध्याय है। इसमें 1 से 10 तक के भिन्न-भिन्न गणों के अतिरिक्त 21, 33, 100, 1000 आदि के गण हैं, जिनको कठिन नहीं कहा जा सकता और इसलिए वे सामान्य अध्याय का ही एक भाग है, जो अधिक मात्रा में एक जैसी होने के कारण अपना-अपना स्थान दूसरी जगह बना बैठी है।

तृतीय अध्याय उन सामान्य संख्याओं का है जो सरल होने के साथ किसी एक गण में हम सम्मिलित नहीं कर सकते थे या जिनका प्रयोग वेद में बहुत ही कम जगह हुआ है। अर्थात् जिन्हें हम न तो गण का रूप दे सकते हैं और न गूढ़ ही कह सकते हैं। वे हैं एकादश से लेकर कहीं-कहीं पर आनेवाली गूढ़ संख्याएँ जो अति स्पष्ट होने के कारण अपना स्थान सामान्य अध्याय में ही पा सकी हैं।

सारांश

परमात्मा के नियम अटल हैं। जैसे परमात्मा अजर-अमर है वैसे ही उसके सारे क्रिया-कलाप भी अपने पथ पर सुदृढ़ हैं। सारा चराचर जंगम स्थावर एक पल भी बिना विश्राम किये घूमता रहता है। एक-एक कण गतिमान् है। ब्रह्माण्ड में बड़े-बड़े नक्षत्र भ्रमणशील हैं जिनकी गणना मनुष्य की बुद्धि से बाहर की वस्तु है। इतना होते हुए भी उसके किसी नियम में न कभी परिवर्तन दिखायी देता है और न ही कोई ग्रह-उपग्रह आपस में टकराता दीखता है। जबकि अपनी तेज गति से सृष्टि के आदि से निरन्तर गतिमान् है। इन सबका क्या कारण हो सकता है? यही उस प्रभु की अलौकिक महिमा है जिसे वह बहुत ही आसानी से चला रहा है। वेद में बतलाया है कि इस सृष्टि का कार्य-कलाप तो उसका चतुर्थांश ही है, बाकी तीन भाग तो उसके आनन्द स्वरूप में हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह आसानी से सृष्टि के कार्य को करता हुआ उसे सँभाले हुए रखता है, बल्कि एक-एक वस्तु को गणित के अनुसार समय और गति में इस तरह विभाजित कर दिया है कि उनमें न तो कोई चीज नियम से विरुद्ध चल सकती है और न ही उसमें किसी दुर्घटना का अवसर आ सकता है।

इस गणित को परमात्मा ने न केवल अपने ही व्यवहार में प्रयोग किया बल्कि अपनी सृष्टि के श्रेष्ठ प्राणी मानव को इसकी शिक्षा के लिए वेद में इस विद्या को अंकित किया है। सृष्टि में घटित प्रत्येक बात को छोटी से बड़ी तक तो संख्याओं द्वारा प्रतिपादित किया है। इन छोटी-बड़ी बातों के लिए संख्याएँ भी छोटी-बड़ी हैं, जिनमें से कुछ अत्यन्त सरल होने के कारण बुद्धिगम्य हैं और कुछ बहुत बड़ी होने के कारण रहस्यात्मक और दुरूह बन गयी हैं।

इन संख्याओं को सामान्य रूप से दो विभागों में बाँटा जा सकता है—सरल

और कठिन के रूप में। मैंने इसी बात को लेकर शोधप्रबन्ध में कठिन संख्याओं के लिए एक रहस्यात्मक अध्याय बनाया है और दूसरी सरल संख्याओं के लिए दो अध्याय इसलिए बनाये हैं कि उनका एक अध्याय किसी भी रूप में नहीं बन सकता था। जैसे सहस्र संख्या बहुत्व वाची है और बहुत से मन्त्रों में इसका प्रयोग हुआ है, जो सब जगह इसी भावार्थ को द्योतित करती है। इसी तरह शतम् चतस्रः प्रदिशः आदि अनेक संख्याएँ अनेक स्थानों पर एक ही अर्थ को बतलाती हैं। इसलिए उनको पृथक्-पृथक् न कहकर एक-एक स्थान पर कहना ही उचित था। इसके अतिरिक्त कुछ मन्त्रों में सरल होते हुए भी एक साथ ही कई संख्याओं का प्रयोग हुआ है जो एक जगह रहकर ही अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर रह सकती हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् करने पर अर्थात् उस-उस संख्या के गण के साथ जोड़ने पर उनका स्पष्टीकरण अच्छी तरह नहीं हो सकता था। इसलिए गत अध्याय से पृथक्-सरल संख्याओं के लिए सामान्य अध्याय का निर्माण करना पड़ा।

यद्यपि तीन अध्यायों के अतिरिक्त गण अध्याय के दो या तीन अध्याय और सामान्य संख्याओं में छोटी-बड़ी संख्याओं का पृथक्-पृथक् विभाजन करके दो-तीन अध्याय बनाये जा सकते थे, परन्तु उससे विषय सरलता की अपेक्षा जटिलता को धारण कर लेता।

शोधप्रबन्ध का मुख्य ध्येय रहस्यात्मक संख्याओं का स्पष्टीकरण ही है। जिनमें रहस्यात्मक संख्याओं के अध्याय के अतिरिक्त गण अध्याय में 30, 34, 99 आदि संख्याएँ भी हैं। इन संख्याओं पर विद्वानों के पूरे-पूरे भावों को दिखाते हुए हमने उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिसे अन्तिम और अन्तरंग प्रयास नहीं कहा जा सकता। स्वामी दयानन्द जी के गम्भीर भावों को विद्वानों के सूक्ष्म चिन्तन के सहयोग से हमने सुलझाने का यत्न किया है। शेष संख्याएँ स्पष्ट होते हुए भी उन पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु शोधप्रबन्ध के विस्तार के भय से हमने उन पर इतना ही बल दिया है कि वे स्पष्ट रूप से समझ में आ सकें और अधिक विस्तृत रूप भी धारण न कर सकें।

इस शोध में वेदों में आयी हुई विभिन्न विद्वानों के आधार पर विभिन्न विषय के ग्रन्थों का आश्रय लेकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साथ ही विद्वानों के मौलिक चिन्तन को यथाशक्ति उपलब्ध करके यथास्थान उद्धृत किया है। पत्र-पत्रिकाओं में वर्णित विभिन्न विद्वानों के मत तथा साक्षात्कारादि गत विचारों का भी समावेश यथास्थान किया गया है।

वेदों में मानववाद

शोधकर्ता—दिलीप वेदालंकार
निर्देशक—पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड (स्वामी धर्मानन्द)
वर्ष—1980

उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी में मानव के समष्टिगत कल्याण को लेकर पश्चिम में मानववाद के नाम से एक चिन्तनधारा व जीवन-दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। सैकड़ों दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने मानव गौरव की स्थापना कर उसे सब प्रकार के अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों से मुक्त कर कल्याण के पथ पर प्रवृत्त होने का सन्देश दिया। इसके लिए उन्होंने ज्ञान और नैतिकता पर बल दिया। किसी को ईश्वर और अध्यात्म की आवश्यकता प्रतीत हुई तो अधिकांश ने इनके बिना ही मानव-कल्याण, विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति की कल्पना की। किन्तु दोनों विचारधाराओं के चिन्तक मानव-जीवन को एक अविच्छिन्न इकाई के रूप में प्रस्तुत कर उसके सर्वांगीण विकास और मानव-मानव में समता की भावना उत्पन्न करने के लिए कोई सुनिश्चित एवं सुनियोजित दर्शन, समाज व्यवस्था, शासन व्यवस्था और आचार शास्त्र (Ethics) नहीं दे सके।

हमारा विश्वास है कि वैदिक साहित्य में मानव के व्यष्टि और समष्टिगत सर्वविध विकास का सही मार्ग प्रतिपादित है। वह मार्ग सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है और मानव मात्र के लिए समान-रूप से सेवनीय है।

उसमें लिंग भेद, जाति भेद, वर्ग संघर्ष और हिंसा का कोई स्थान नही। वैदिक धर्म कोश आदर्शवाद नहीं है प्रत्युत मानवहित एवं विश्व-शान्ति के लिए एक सुनिश्चित दर्शन, आचरण शास्त्र, समाज व्यवस्था तथा शासन व्यवस्था प्रस्तुत करता है। उसमें मानवोपयोगी विज्ञान, कला-कौशल और उद्योग आदि का भी सन्निवेश है।

इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम **वैदिक दर्शन एवं मानववाद** नामक अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि वैदिक दर्शन सर्वान्तर्यामी परमात्मा को सब प्राणियों का

पिता-माता मानता है एवं इस प्रकार मातृभाव एवं विश्वबन्धुत्व का सबल आधार प्रदान करता है। प्राणिमात्र में एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन करके समदृष्टि उत्पन्न करता है। ब्रह्म की तरह जीव और प्रकृति की भी वास्तविक सत्ता मानकर मानव को सांसारिक अभ्युदय से विमुख नहीं करता। कर्म सिद्धान्त में आस्था उत्पन्न कर मनुष्य को नैतिक कार्यों में प्रवृत्त करता है तथा हिंसा आदि से दूर रखता है। वैदिक दर्शन तर्क को भी ऋषि मानता है और रूढ़ियों, आडम्बरों और अन्धविश्वासों में न फँसकर मानव-शक्ति द्वारा अज्ञान का निवारण कर सत्य मार्ग पर अग्रसर करता है। वैदिक संहिताओं में परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति की सिद्धि युक्तियों के आधार पर की गयी है, यद्यपि ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग एकमात्र अन्तःप्रत्यक्ष (Intution) ही बताया है।

तदनन्तर **वैदिक धर्म और मानववाद** नामक अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार यज्ञ की मूल भावना त्याग एवं परोपकार है एवं षोडश संस्कार व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मा सम्बन्धी परिष्कार करते हैं। यम-नियम वैदिक धर्म के सम्बल हैं, इनमें जहाँ 'यम' समष्टि की स्थिति के लिए अनिवार्य है, वहाँ 'नियम' व्यष्टि के जीवन को पवित्र कर बहुत उन्नत कर देते हैं।

वैदिक आचारशास्त्र एवं मानववाद नामक अध्याय में वेद के सब नैतिक तत्त्वों एवं उदात्त प्रार्थनाओं को प्रस्तुत किया गया है। मानव-मात्र आचार एवं नीति सम्बन्धी उन निर्देशों एवं प्रार्थनाओं का पालन कर सुखी हो सकता है।

'वैदिक समाज व्यवस्था और मानववाद' नामक अध्याय में हमने बतलाया है कि यद्यपि व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद, साम्यवाद, समाजवाद आदि सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव भी मानववादी चिन्तनधाराओं से ही हुआ है तथापि ये सब समानता, स्वतन्त्रता और मानवहित के उद्देश्य को लेकर ही चलते हैं। किन्तु निश्चित दर्शन के अभाव एवं एकांगी होने के कारण ये संगठन मानववाद के उद्देश्य को पूरा करने में सर्वथा असफल रहे हैं। यही कारण है कि मानव समानता, मानव-स्वतन्त्रता, विश्वबन्धुत्व एवं विश्वशान्ति की रट लगाकर भी ये नेता हिंसा के ताण्डव को रोकने में असफल रहे हैं। वस्तुतः वैदिक अध्यात्मवाद के सबल आधार के बिना वास्तविक मानववाद मृगमरीचिका ही है। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था सब प्रकार के वर्गभेदों को समाप्त कर लोक-संग्रह और व्यष्टि की सर्वविध उन्नति के मार्ग खोलती है।

वेद की मानववादी शासन-व्यवस्था भी प्रजातन्त्र की पद्धति पर आध्यात्मिक एवं नैतिक आधार लिए हुए है तथा सब प्रकार के अन्याय, अत्याचार, शोषण एवं विषमताओं को समाप्त करती है।

अन्त में वेद में **मानवोपयोगी ज्ञान-विज्ञान, कला कौशल एवं वाणिज्य** नामक अध्याय में हम देखते हैं कि वेद कोश दर्शन और थोथा धर्म ही नहीं, अपितु उसमें

मानव के कल्याण के लिए अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, उद्योग-व्यापार का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य मानव की ऐहिक एवं पारलौकिक उभयविध उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। उसमें किसी वर्ग, जाति व सम्प्रदाय को लक्ष्य करने का विचार नहीं किया गया, अपितु समस्त मानव जाति को लक्ष्य मानकर व्यष्टि के अभ्युदय और निःश्रेयस् का मार्ग बतलाया गया है। इसमें मानव गौरव की सजग स्थापना होते हुए भी न तो काण्ट की भाँति ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की पूजा का विधान किया गया और न ही जॉन स्टुअर्ट मिल की तरह मानववाद को उपयोगितावाद से पोषित करने की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है। इसमें भी अज्ञान को अभिशाप मानकर अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की बार-बार प्रार्थना की गयी है। आडम्बरों और तर्कहीन विश्वासों का विरोध किया गया है। नैतिक आचार-विचार की प्रमुखता मानी गयी है और इस प्रकार इस युग के दार्शनिकों द्वारा कल्पित 'मानववाद' का स्फीत, स्वस्थ एवं मनोरम रूप वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है।

उपसंहार

इस चराचर जगत् में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो विवेक-बुद्धि से समन्वित है। वही ज्ञान की प्राप्ति कर तदनुसार शुभ कर्मों का सम्पादन कर कल्याण-पथ का पथिक बनने का अधिकारी है। मनुष्य योनि एवं मनुष्यत्व की महत्ता को विश्व के सभी धर्म-ग्रन्थों, विचारकों और दार्शनिकों ने एक स्वर से सोद्घोष स्वीकार किया है।

सम्पूर्ण सृष्टि में मानव की श्रेष्ठता और मानव शरीर की दुर्बलता के कारण समय-समय पर मानव कल्याण को लेकर अनेक प्रकार के अध्ययनों, आन्दोलनों, दर्शनों व चिन्तनधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ है। सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल का मूल मनुष्य ही है। इस मानव-हित को लेकर पाश्चात्य जगत् में 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में मानववाद दर्शन की एक विचारधारा के रूप में प्रारम्भ हुआ। मानववाद समष्टिगत होकर व्यष्टि कल्याण का जीवन दर्शन है। मानवीय गुणों के प्रति जागरूकता ने पुनर्जागरण काल में मानव-गौरव की स्थापना की और साहित्यकारों, शास्त्रियों, शिक्षा-विशारदों, धार्मिक नेताओं तथा राजनीतिक और सामाजिक चिन्तकों को आकृष्ट किया। बीसवीं शताब्दी के प्रो० शिलर ने कहा कि मानव अनुभव ही इस संसार में चिन्तन का विषय, समस्त मूल्यों का मापदण्ड और समस्त वस्तुओं का निर्माता है। इस प्रकार मानववाद आधुनिक काल का एक प्रसिद्ध और बृहद् दर्शन बन गया और साम्यवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद तथा अन्य अनेक रूपों में मानव-हित के उद्देश्यों को लेकर समाज के चिन्तकों के मनन का

विषय बना। मानव-हित के लिए मानववाद को धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक भौतिकवादी एवं राजनीतिक आदि अनेक दर्शनों की प्रतियोगिता में आना पड़ा। पश्चिम में काण्ट, सार्त्रे, शिलर, जाकमारितां, शाइत्जर, कारलिस लेमांट, जान स्टुअर्ट मिल आदि तथा भारतीय विचारकों में भी श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, श्री पी० टी० राजू, श्रीमती ऐलनराय तथा श्री शिवनारायण राय आदि कितने ही विद्वानों ने मानववाद को अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया।

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने व्यावहारिक बुद्धि की मुख्यता का उल्लेख किया तथा शिलर उसे प्रेय की धारणा को प्रधान और सत्य व यथार्थ की धारणाओं को गौण मानते हैं। सार्त्रे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को आवश्यक मानते हैं और उनका अस्तित्व-वाद मानव केन्द्रित होकर रह गया है। फ्रेंच विचारक जाकमारितां आन्तरिक मानवीय गुणों का विकास करने पर बल देते हुए भौतिक जीवन के आनन्द को क्षुद्र मानते हैं और त्यागमय वीरोचित जीवन की कामना को मानववाद में आवश्यक बतलाते हैं। वे मानववाद में धर्म और ईश्वर के साथ नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति को अनिवार्य मानते हैं। इसके विपरीत जॉन स्टुअर्ट मिल आदि अनेकानेक दार्शनिक मानववाद का मूलभाव ऐसी नैतिकता को मानते हैं जो ऐहिक जीवन, भौतिकवाद तथा सांसारिक सुख तक सीमित है तथा जो प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता का भौतिक दृष्टि से ही मूल्यांकन करती है—आध्यात्मिकता अथवा पारलौकिकता के लिए उसमें कोई स्थान नहीं।

प्रो० पेरी ने शिक्षा-सम्बन्धी तत्त्व पर अपनी परिभाषा में प्रकाश डाला। प्रो० लेमाण्ट ने सृजनात्मक स्वतन्त्रता और मानव-मानव में मैत्री भावना को अपने मानववाद में स्थान दिया है। डॉ० अलबर्ट शाइत्जर ने मनुष्य मात्र की समानता को महत्त्व दिया है। इस समानता के लिए नैतिक गुणों का विकास और उनका पोषण अनिवार्य माना है। श्री अब्राहम का मत भी मानववाद में अलौकिक तथा दैवी विशेषताओं का संकेत करता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि अभी बीसवीं सदी में पश्चिम में पनपे मानववाद का कोई निश्चित स्वरूप एवं नियत परिभाषा नहीं बन पायी है। तथापि यह एक ऐसा जीवन दर्शन है जो लोकमंगल की भावना, समत्व की भावना तथा भेदभावों, पूर्वा-ग्रहों एवम अन्धविश्वासों से उन्मुक्त होकर औदात्य और त्याग का दिव्य सन्देश देता है तथा मानव के अन्तःबाह्य परिष्कार के द्वारा उसे मानवोचित गुणों से युक्त करके पूर्ण विकास की ओर अग्रसर करता है। किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान मानववाद के चिन्तकों एवं पोषकों ने मानव कल्याण के विभिन्न तत्त्वों पर प्रायः एकांगी दृष्टि से ही विचार किया है। जिन चिन्तकों ने मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक उभयविध विकास की आव-

श्यकता को अनुभव किया, वे भी मानव जीवन की कोई ऐसी निश्चित योजना प्रस्तुत नहीं कर सके जिसका अवलम्बन करके मानव व्यष्टि एवं समष्टिगत अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि कर सके।

इसके विपरीत वैदिक संस्कृति के प्रणेता तत्त्वदर्शी महर्षियों ने आत्मानुभूति व अन्तर्दर्शन से इस समस्त चराचर सृष्टि के मूल में निहित सृष्टि का निमित्त कारण, सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी उस परमसत्ता का साक्षात्कार किया जिसके नियन्त्रण में यह निखिल ब्रह्माण्ड चल रहा है। उसके नियम—ऋत—अटल एवं शाश्वत हैं। प्राणिमात्र उसी परमपिता परमात्मा की सन्तान रूप है। ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी है। वास्तविक दया के लिए न्यायव्यवस्था परमावश्यक है। यह बात लोकसिद्ध है। अतः उसकी अटल न्यायव्यवस्था-कर्म सिद्धान्त के फलस्वरूप ही प्राणी विभिन्न योनियों में संसरण करता है। वस्तुतः समस्त प्राणियों में निहित आत्मा एक है। वह अजर-अमर है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मानुसार ही विभिन्न शरीरों को प्राप्त होता है। अतः सब प्राणियों में एक आत्म तत्त्व के दर्शन करना तथा सबको परमपिता की सन्तान समझकर उनमें भ्रातृभाव रखना वैदिक दर्शन की शिक्षा है। इसके साथ ही वैदिक कर्म सिद्धान्त सब प्रकार की नैतिकता का मूल है।

भौतिकता और आध्यात्मिकता का सन्तुलन और सामंजस्य वैदिक संस्कृति की ऐकान्तिक विशेषता है। यहाँ मानव-जीवन को एक अविच्छिन्न ईकाई मानकर उसके शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक—सर्वविध—विकास की योजना बनायी गयी है। वैदिक आश्रम व्यवस्था जहाँ व्यक्ति के पूर्ण विकास की व्यवस्था है वहाँ वैदिक वर्ण व्यवस्था मानव के सामूहिक विकास की। दोनों एक साथ चलती हैं।

वैदिक संस्कृति का प्राण है—'यज्ञ'। यह मात्र कर्म-काण्ड व बाह्य न होकर मनुष्य की आत्मा का अंग भी है और व्यक्ति को—सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय—त्याग की प्रेरणा देता है।

एक ईश्वर में अटूट विश्वास एवं उसकी उपासना, परमात्मा की अटल व्यवस्था ऋत तत्त्व के अनुसार सत्यमय जीवन, सब प्राणियों में समदृष्टि, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति मानना, अष्टंगयोग द्वारा व्यष्टि-समष्टि का सर्वविध उत्कर्ष करना ही वैदिक समाजवाद का तथा वैदिक शासन व्यवस्था का भी मूल मन्त्र है।

वेद में मानव के नैतिक और आत्मिक विकास के लिए जहाँ एक सुनियोजित आचारशास्त्र का विधान है वहाँ मानव के भौतिक अभ्युदय के लिए विविध प्रकार के विज्ञान, शिल्प उद्योग एवं कलाएँ भी वेद में वर्णित हैं, जिनका वर्णन संक्षिप्त रूप से इस ग्रन्थ में किया गया है।

वैदिक संहिताओं में योग-तत्त्व

प्रस्तुतकर्ता—योगेन्द्र पुरुषार्थी
निर्देशक—प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
वर्ष—1980

एक तुलनात्मक परिशीलन का संक्षिप्त विवरण

जीवमात्र के अन्तःकरण में अनादिकाल से अन्तर्निहित क्लेशमात्र के लिए 'घृणा' (द्वेष) और अक्षयसुख पाने की 'कामना' (राग), बुद्धिप्रधान मनुष्य में जन्म पाकर स्वभावतः उभर आती है; अतः प्रत्येक मानव क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए छटपटाता और आनन्दमयी 'अक्षयशान्ति' पाने के लिए कटिबद्ध दीखता है किन्तु उसके हाथ प्रायः असफलता ही लगती है। क्योंकि प्रकृति से प्रवाहित काम-क्रोधादिक 'विषयविकारों' से अभिभूत होकर किये गये उसके अहंभावयुक्त, अनृतावरण से आच्छादित, 'क्लिष्टकर्म' तापत्रय को ही उपजाते हैं अतः फलविपाक के रूप में मानव को कष्ट ही भोगना पड़ता है; जो यत्किंचित् सुख उसे इस भोगात्मक जगत् में मिलता भी है; वह क्लेश मिश्रित होने से अन्तःशान्ति प्रदान नहीं कर पाता।

सृष्टि के आदि में सर्वज्ञ करुणानिधि जगदीश्वर ने मानवमात्र को इस अनागत-आपत्ति से सचेत करते हुए वैदिक संहिताओं में उन उपयुक्त दिव्य-साधनों का उपदेश दे दिया है, जिन्हें निज जीवन में चरितार्थ करके लेने पर मनुष्य अपने क्लेश-कर्मों को समूल नष्ट करके परमानन्दमय अक्षय शान्त पद 'मोक्ष' को हस्तगत कर सकता है।

मानव जीवन की चिरन्तन अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए दिव्य-साधनरूप योगविद्या ही अन्यतम उपाय है। यही योगविद्या परमानन्द प्राप्ति तथा ब्रह्म-साक्षात्कार की साधिका है। अपौरुषेय वेदों के गूढ़ रहस्यों को अपनी अल्पज्ञतावश न समझ कर कुछ विद्वान यह घोषित कर चुके हैं कि इन वेदों में अध्यात्मविद्या का अभाव है। निराशाजनक भ्रान्त धारणा को निर्मूल करने के लिए शोध-प्रबन्ध का विषय-प्रवेश समुचित मीमांसा करके आशाजनक निर्भ्रान्त वैदिक विचार प्रस्तुत करता है।

आज भारतीय संस्कृति के हितैषी वर्तमानकालीन शिक्षा एवं सामाजिक दोष चोरी-जारी, बलात्कार एवं मातृशक्ति का घोर अपमान देखकर नितान्त विगलित हो रहे हैं। जगह-जगह एक संस्कृति सभ्यता दूसरी सभ्यता संस्कृति को निगलना चाहती है, मानवता का दर्शन होना कठिन हो गया है। ऐसी व्यथित अवस्था का एकमात्र कारण नैतिक शिक्षा तथा आध्यात्मिक विद्या का अभाव ही है। इस अभाव की पूर्ति हेतु योगाभ्यास की परिपाटी एवं योगमय जीवन व्यतीत करने की परमावश्यकता है। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए उपजीव्य यह विद्या वैदिक काल से मार्गदर्शिका रही है। ऋषि-महर्षियों ने सदैव इसी विद्या के अनुसार जीवन व्यतीत किया है। यह कोई नवीन विद्या नहीं, इसके अनेकों प्रमाण ऋग्वेदादि संहिताओं में पुष्कलमात्रा में मिलते हैं।

भारतीय संस्कृति की दृढ़ आधारशिला योग-विद्या की अपनी एक गुरुपरम्परा भी है। समस्त विचार सारणी से यह तथ्य सामने आया है कि योगविद्या का आदि स्रोत वेद ही है। एवं आदि प्रवक्ता 'हिरण्यगर्भ' परमात्मा है।

हिरण्यगर्भ से लेकर पतंजलि तक यह योग परम्परा वैदिक पद्धति के अनुसार प्रचलित रही। ह्रास की सम्भावनाओं से पतंजलि ऋषि ने इन वैदिक सिद्धान्तों को सूत्ररूप में निबद्ध किया, उन्हीं सूत्रों (योगदर्शन) पर प्रामाणिक भाष्य वेदव्यास ने लिखा, जिसकी टीका-टिप्पणी ही अद्यावधि योगाभिलाषियों का मार्गदर्शन कर रही है। योगदर्शन में अष्टांगयोग का प्रतिपादन प्रमुख रूप से किया गया है। परन्तु वैदिक उपनिषदों में पंचकोष शुद्धि को भी मुक्ति के साधनों में विशेष प्रभावकारी माना है। इन दोनों पद्धतियों को आश्रय मानकर प्रथम खण्ड के पाँच अध्यायों में पंचकोष निरूपण वैदिक संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में किया है।

स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमयकोष सम्पूर्ण धर्म-कर्म तथा आन्तरिक कोषों का आधार है अतः साधना की दृष्टि से अन्नमयकोष के अवयवों का ज्ञान साधक के लिए आवश्यक है। वैदिक संहिताओं में शरीर के योगोपयोगी अंगों का विशेष विवरण मिलता है। हृदयादि अंगों का कार्य तथा साधना में उपयोगिता को शरीर-विज्ञान की दृष्टि से स्पष्ट कर दिया है। स्थूल शरीर को पुष्ट तथा साधना के लिए उपयुक्त बनाने के लिए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शौच, तप आदि साधनों की उपयोगिता का उल्लेख किया गया है।

स्थूल शरीर को क्रियाशील रखने में प्राणों का सर्वोपरि स्थान है। प्राण ही जीवन को धारण किये हुए हैं। प्राणों की पुष्टि से ही शरीर की स्वस्थता, बलिष्ठता तथा सार्थकता है। प्राणों की पुष्टि के लिए प्राणायाम करना तथा प्राणों की देवता भावना से साधना करना आवश्यक है। स्तम्भवृत्ति प्राणायाम प्राण की सूक्ष्मता के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

प्राण का मन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होने से प्राणायाम के द्वारा प्राण को

सूक्ष्मतर करके हृदय, भ्रुकुटि आदि स्थान विशेषों पर रोकने से मन भी स्थिर हो जाता है। मनोनिग्रह की सफल साधना के लिए उषाकाल से पूर्व उठकर, रुचिकर स्थान पर तीव्र वैराग्य भावना से आत्मसमर्पणपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। भोजन सात्विक तथा परिमित ही सहायक है।

मन के बाद बुद्धि का परिशोधन आवश्यक है। सात्विक बुद्धि ही साधना में सहायक होती है अतः बुद्धि की सात्विकता के लिए सात्विक पदार्थों का सेवन, सतत 'ओ३म्' पद का जाप, आलस्य को त्याकर प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा करना आवश्यक साधन है। विज्ञानमयकोश की सिद्धि के लिए श्रद्धा और जिज्ञासु भावना अत्यधिक सहायक है।

सात्विक बुद्धि से आत्मतत्व का अन्वेषण सम्भव है, सात्विक बुद्धि सम्पन्न करके हृदय स्थान में ध्यान तथा समाधि के निरन्तर-निर्विघ्न अभ्यास से आत्मतत्त्व की अनुभूति होने लगती है। आत्मतत्त्व का स्थान हृदय है अतः वहीं उसकी खोज करनी योग्य है अन्यत्र नहीं। इस प्रकार संक्षेप में प्रथम खण्ड में पंच कोश शोधन का अभ्युपाय निरूपित है।

शोध-प्रबन्ध का द्वितीय खण्ड अष्टांग योग का परिशीलन प्रस्तुत करता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यमों का साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों में पाँचों यमों का सुन्दर परिशीलन किया गया है। यमों का शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक परिपालन साधना को दृढ़ करता है तथा सामाजिक सम्बन्ध को सुखकारी बनाता है। नियमों का पालन साधक की आन्तरिक स्थिति को परिपुष्ट करता है। सब प्रकार की पवित्रता ही पवित्रतम परमेश्वर से मिलाने में सहायक है। वेद में योगयज्ञ के यजमान को शुद्ध पवित्र होकर बैठने का आदेश दिया है। ऐषणाओं की शान्ति के लिए, वृत्तियों को विराम देने के लिए सन्तोष अत्यधिक सहायक है यह अनुभवसिद्ध है।

मोक्षशास्त्रों का अध्ययन, आत्मचिन्तन तथा ओ३म् का जाप साधना को समृद्ध करते हैं, इसके साथ ही ईश्वरार्पण की भावना समाधि की प्राप्ति में नितान्त सहायक हैं।

यम-नियमों का पालन व्यावहारिक जीवन में करके साधना की अग्रिम स्थितियों के लिए कोई एक स्वस्तिक या सुखासन का निश्चित अभ्यास लगभग 3 घण्टे बैठने का करना चाहिए।

स्थिर आसन से बैठकर योग्य गुरु से साधना में सहायक प्राणायाम का अभ्यास करना योग्य है। प्राणविद्या, मनोनिग्रह तथा ज्ञान के आवरक दोषों को क्षीण करती है। प्राणायाम के सम्यक् सिद्ध हो जाने से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं तथा प्रत्याहार की सिद्धि सम्भव हो जाती है।

प्रत्याहार की साधना कठिन साध्य होती है। एक वेद मन्त्र में साधक अपनी

इन्द्रियों की चंचलता से व्याकुल हुआ कहता कि 'मेरे ये कान न सुनने योग्य शब्दों को सुनने के लिए दूर तक चले जाते हैं, इसी प्रकार मेरे नेत्र तथा हृदयस्थ मन संकल्प विकल्प के वितान पर आरूढ़ होकर दूर तक चला जाता है।' मन्त्रगत भावों से स्पष्ट हो जाता है कि मन की चंचलता मानव को साधना के मार्ग से हटाने में पूर्व से ही तत्पर है। परन्तु वैदिक काल से ही उपासक, जीवन को सफल बनानेवाले योग विद्या के माध्यम से सदैव प्रयास करते रहे हैं अत: आज भी जितेन्द्रिय होकर प्रत्याहार की साधना को सफल करने का पूर्ण यत्न करना चाहिए।

धारणा में स्थान विषयक मतभेद प्राय: उपासकों में पाया जाता है। वेद में आन्तरिक स्थान हृदय को ही धारण के लिए उपयुक्त बताया है।

योगाभ्यासियों में ध्यान के प्रकारों में मतैक्य नहीं है, कुछ स्थानों का संकेत वेद मन्त्रों में भी उपलब्ध होता है। ध्यान के प्रमुख स्थान सुषुम्ना नाड़ी एवं ज्योतिर्मयध्यान तथा अन्तर्नादमयध्यान आदि का वर्णन मिलता है।

'यदग्नेस्यामहं' मन्त्र समाधि के स्वरूप को स्पष्ट व्यक्त करता है। ध्याता की ध्येयाकार वृत्ति का स्वरूप ही समाधि है। अष्टांग योग का समाधि परिणाम है। समाधि प्राप्ति के जो साधन वेद में बताये गये हैं वे अनुभवसिद्ध हैं, संक्षेप में कहे गये ये वैदिक साधन इतर साहित्य में वर्णित साधनों से उत्कृष्ट तथा परिपूर्ण हैं। मन्त्र में कहा है—'मस्तिष्क तथा हृदय को समविचारवाला अर्थात् एक करके संशय को त्यागकर श्रद्धापूर्वक मन की चंचलता का निराकरण करता हुआ, बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि करके ब्रह्मरन्ध्र में प्राण एवं प्राणवृत्तियों को प्रेरित करता हुआ समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है।' वैदिक योग में शून्य समाधि को महत्व नहीं दिया गया, वहाँ जो प्रज्ञा विवेक जगानेवाली मधुमति प्रज्ञाज्योति, तथा धर्ममेघ समाधियों के संकेत मिलते हैं।

वैदिक संहिताओं में, तन्त्रों के माध्यम से डाकिनी-साकिनी, भैरव आदि इष्ट देवताओं को सिद्ध करनेवाली क्रियाओं का कोई संकेत नहीं; वरन् धारणा-ध्यान-समाधि के त्रिकसंयम से स्वाभाविक उत्पन्न विभूतियों का वर्णन मिलता है जिनका उल्लेख सप्तमाध्याय में किया गया है।

उपासक योगाभ्यास को भलीभाँति सिद्ध करके लोकोपकार में उसका प्रयोग करता है तो शनै:-शनै: निष्काम भावना के परिणामस्वरूप जीवन मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है। अष्टमाध्याय में मोक्ष के साधनोपाय के साथ-साथ वेदमन्त्रों के द्वारा 36 हजार बार सृष्टि-प्रलय का काल मोक्ष की अवधि का निश्चय किया है। इतने काल के बाद जीवात्मा पुन: श्रेष्ठ माता-पिता को प्राप्त करता हुआ जन्म धारण करता है। इस प्रकार इस विवेचन में मोक्ष से पुनरावृत्ति को वैदिक मत स्वीकार करके विपक्ष का युक्तियुक्त खण्डन किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधन भी वेदों में हो सकते हैं परन्तु हमने इस परिशीलन के माध्यम से पंचकोश

विवेक तथा अष्टांगयोग को ही समझा है। वास्तव में आवागमन के चक्कर से मुक्त होने के दो ही पथ वेद से लेकर पातंजलयोग तक साहित्य में मुख्य हैं; 1. कार्यरूप तीनों शरीरों को उत्पत्ति के विलोम क्रम से उनके कारण 'त्रिगुणों' में विलीन करके पुनः प्रसव के अयोग्य बना दिया जाय। साथ ही तीनों शरीरों में अधिष्ठित पंचकोष का पूर्ण शोधन तथा विवेक प्राप्त कर लिया जाय। 2. अष्टांगयोग का सुदीर्घ पथ; इसका अनुष्ठान करके धारणा-ध्यान-समाधि-संयमों की साधना द्वारा 'स्वरूप-प्रतिष्ठा' कर ली जाय। विशेष रूप से अहंभाव को चूर्ण करते हुए, गला देना कठिन कर्म है, और ईश्वरार्पण कर देना, समर्पण से अहंकार का विकार नष्ट करके इसे सुधार देना सरल मार्ग है। सरल मार्ग का उद्घाटन इस प्रबन्ध का उद्देश्य है जिसको आद्योपान्त पढ़कर जान सकते हैं।

इस परिशीलन में जो कुछ भी चिन्तन-मनन वैदिक परिप्रेक्ष्य में किया गया है उसमें कुछ तो शोधार्थी के निजी अनुभव से तथा विद्वान् अभ्यासियों से भी पूर्णतया उपयुक्त सिद्ध हुआ है। समाधि की उच्चभूमियों तथा विभिन्न विभूतियों को सिद्ध करना एवं उनकी वस्तुस्थिति को सिद्ध करना शेष रह जाता है जिसका अनुशीलन आगामी योगाभिलाषी शोधार्थियों से अपेक्षित है।

कई-कई मानव जीवनकाल पर्यन्त वेदों के परिशीलन में समय लगानेवाले ऋषिपुंगव थककर कह गये, कि 'अनन्ता वे वेदाः' अर्थात् वेद अनन्त हैं, वेद का ज्ञान अनन्त है। इसी प्रकार तुच्छ से इस परिशीलन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि 'अनन्तो वै योगः' वेदगत यह योगविद्या अनन्त है। इतना लिखकर दो पद्यों के साथ विराम लेता हूँ।

निदानं कोशानामुदितमथशुद्धिश्च कथिता,
सहाङ्गैरष्टाभिर्विहितमिह योगद्धयमपि।
विभूतिर्योगस्य श्रुतिविहित मुक्तेश्चकरणम्,
यतेरन् भोगार्त्ताः परमपदमासुं निशिदिवा॥

बुधजनपदकञ्जेष्वर्पितोऽयं 'प्रबन्धः',
सुरतरु सुमनोभिर्गुम्फिता मालिकेव।
तथापि तव ऋचानामीश ! पारं न यातम्,
विरमति मम सिद्धा लेखनी योगभूत्यै॥

MAHARSHI DAYANANDA KI BRIHAT-TRAYI-EK SAMALOCHANATMAK ADHYAYAN-

By
Satya Prakash Rambahal
Under the Guidance of :
Acharya Ram Prasad Vedalankar
Year—1984

SYNOPSIS

Chapter

I. THE CONCEPT OF BRIHAT-TRAYI
   (1) The Importance of the number 'Three'
   (2) The Concept of Brihat-trayi
   (3) Brihat-trayi and Ayurveda
   (4) Brihat-trayi and Classical Sanskrit Literature
   (5) Brihat-trayi and Sankaracharya
   (6) Brihat-trayi and Maharshi Dayananda
   (7) Notes and References

II. VARIOUS CONDITIONS PREVALENT IN INDIA BEFORE DAYANANDA'S ADVENT
   (1) Introductory
   (2) Political Conditions
   (3) Social, Religious and Cultural Conditions
   (4) Literary Conditions
   (5) Introduction to Life and Ideas of Maharshi Dayananda —Biographical Sketch
   (6) His Ideas
   (7) Notes and References

III. DAYANANDA'S WORK IN CHRONOLOGICAL ORDER

Purpose and Influence behind each work

IV. THE SATYARTH PRAKASH

(1) Introductory
(2) History of the First Edition
(3) Missing Chapters of the First Edition
(4) Dayananda and the Final Responsibility for the First Edition
(5) The History of the Second Edition
(6) A Brief Comparison between the two Editions
(7) The First Satyarth Prakash and Hindi
(8) Purpose and Influence Behind the Satyarth Prakash
(9) Philosophical Themes in Satyarth Prakash :
 A. Epistemology
 B. God
 C. The Soul
 D. Bondage and Liberation
 E. The World of Experience
 F. The Ethics
 G. Human Society and Social Institution
 H. The Satyarth Prakash and Dayananda's Contribution to Philosophy

V. THE SANSKAR VIDHI

(1) Introductory
(2) The Importance of Karmakanda in an Arya's Life
(3) Brief Introduction to Karmakanda Literature
(4) The Sanskaras—their meaning and Number
(5) The Sanskaras—their purpose and Significance
(6) The Decline of the Sanskara Before Dayanada's Advent
(7) Dayananda's Sanskar Vidhi—History etc.
 Purpose
 Descriptive Technique
(8) Various Sanskaras described in Sanskar Vidhi

VI. THE RIGVEDADIBHASHYABHUMIKA

(1) Introductory
(2) The Veda & Its Importance
(3) The Need for Interpreting the Veda

SUMMARY

CHAPTER—1

This chapter seeks to first define the term 'Brihattrayi' and examine the basis of its implications in three distinct examples —Ayurveda, Classical Sanskrit Literature and Shankara, and then to show how the term also finds a meaningful application to the works of Maharshi Dayananda. Ofcourse, Pandit

Yudhishthir Mimansaka is on record for having made use of the term in relation to the Satyarth Prakash, the Sanakar Vidhi and the Rigvedadibhashyabhumika of Dayananda. But this has been by way of only a passing reference. This dissertation seeks to critically estimate the importance of the contribution of Dayananda's Brihattrayi towards redefining and strengthening Hinduism for the purpose of building the foundations for a new India. An effort has been made to point out a few differences between Shankara and Dayananda in their understanding of the three prasthanas in their respective 'Brihattrayi's.

CHAPTER—2

In order to be in a position to evaluate the works of any important figure, one ought to have a bird's eye-view of the various conditions prevalent in the period prior to his coming. Dayananda made his first public appearance as a reformer after 1863, and prior to that time, India was witnessing a period of decline on several fronts—political, economical, social, cultural, religious, literary etc. etc. As pointed out in the final chapter, a text like the Satyarth Prakash can be fully appreciated only when placed in its complete and true historical perspective. The same is the case with the other two texts. Dayananda was a product of a particular age—one of bondage. And whatever he wrote was intricately tied up with issues related to the Age. Hence, the importance of this second chapter dilating on the conditions attended to the times just prior to Dayananda.

CHAPTER—3

Brihattrayi is a term relating to three principal texts. And in the case of Dayananda, there were many more than texts, all replete with practically the same theses found in the three. Chapter three seeks to list them all in chronological order and explain the purpose and influence behind each work.

CHAPTER—4

With this chapter, one begins the major part of the dissertation. It treats of the Satyarth Prakash, a text which has seen two editions. The First Edition has a very unusual

historical account attached to it, with a fiery controversy started with respect to some so-called doctrines found in the body of the text, in addition to a mystery surrounding two final chapters that were missing from the printed text. All this has been written down, examined and sifted out very critically, and a decision made where necessary. The purpose and influence behind the Satyarth Prakash, and the contribution towards Hindi Prose in the last quarter of the nineteenth century have all been assessed. The history of the second edition has also been included, in addition to a brief comparison of the two editions, showing their major similarities and dissimilarities. Several of Dayananda's views respecting Philosophy, as have been penned in his Satyarth Prakash-II, have been treated. And finally, a complete section attempts to identify the originality of Dayananda's contribution to Philosophy.

CHAPTER—5

This chapter deals with the Sanskar Vidhi. It resembles Chapter four in plan arrangement. Before going to the Sanskar Vidhi proper, an attempt has been made to first introduce the concept of Sanskara and Karmakanda, shedding light on the importance of Karmakanda in an man's life, the meaning, number, purpose and significance of the Sanskaras, and the decline of the Sanskaras before Dayananda's advent in India. A Historical account of the Sanskar Vidhi, in addition to the purpose and influence behind the text is also summarised. In treating the various sanskaras found in the Sanskar Vidhi, the attempt has been made to point out the contribution that Dayananda has made towards these sanskaras, and how he has made his text different from the other texts penned by both medievel and modern writers, bearing in mind the need to simplify these rituals and ensure their Vedic character. A comparison of the two editions of the Sanskar Vidhi has also been attempted, as has been done in the case of the two editions of the Satyarth Prakash.

CHAPTER—6

This treats of the Rigvedadibhashyabhumika. Again, it resembles the chapters on the Satyarth Prakash and Sanskar

Vidhi. First, one gets a glimpse into several introductory points related to the Veda--e.g., the importance of the Vedas, the need for Vedic Interpretation, Various schools of Vedic Interpretation, History of Vedic Interpretation, the problem of Vedic Interpretation etc. etc. The Importance of the Rigvedadi-bhashyabhumika can be gauged only against a background of these details. A History of the RVBB has been provided, in addition to a brief comparison of the Bhumikas of both Sayana and Dayananda. The major part of this chapter seeks to identify the areas wherein Dayananda has expressed himself as fundamentally opposed to the views held by all his fellow-commentators like Sayana, Uvvata, Mahidhara, Max Muller and other Europeans, and also to examine the validity of the views of both schools – one represented by Dayananda and the other by all the other scholars.

CHAPTER—7

This is the chapter that is fundamental to the whole purpose of the dissertation. It seeks to identify the achievements of Dayananda's three principal works making up his Brihattrayi. In the beginning, it has been claimed that Dayananda was responsible for having brought about a complete over-hauling of the whole status quo as it found itself expressed in Hinduism before and during the Swami's time. The ways in which this status quo became reshaped are identified in this chapter. The achievements of these three texts concern themselves with a wide range of thems, and these have all been sifted out and named. There appears, towards the end of the chapter, an overall conclusion, in which the Brihattrayi's of both Sankara and Dayananda have been once again compared for the type of contribution that they have both made towards saving Hinduism from dangers.

बृहदारण्यकोपनिषद् : एक अध्ययन

प्रस्तुतकर्ता—मनुदेव
निर्देशक—आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार
वर्ष—1985

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश

वैदिक वाङ्मय और उपनिषद् । उपनिषद् पद का निर्वचन । उपनिषदों का प्रतिपाद्य । उपनिषदों की संख्या । उपनिषदों का कालक्रम तथा वर्गीकरण । बृहदारण्यकोपनिषद् का स्रोत तथा प्रामाणिकता । नामविचार तथा कर्तृत्व । बृहदारण्यकोपनिषद् के प्राचीन व अर्वाचीन भाष्यकार । बृहदारण्यकोपनिषद् की विषयवस्तु । औपनिषदिक दर्शन के विविध व्याख्याता—शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बाकाचार्य, बल्लभाचार्य, भास्कराचार्य, श्रीकण्ठाचार्य, पं० शिवशंकर शर्मा ।

द्वितीय अध्याय : ब्रह्म मीमांसा

निर्वचन । ब्रह्म शब्द पर सूक्ष्मेक्षिका । ब्रह्मविद् अर्थ में ब्रह्मन् शब्द । वेद अर्थ में ब्रह्मन् शब्द । ब्रह्मा नामक ऋषि । गौण अर्थ में ब्रह्मन् शब्द । कतिपय क्लिष्ट पदों की संगति । उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप । विदेशी विद्वानों की दृष्टि में ब्रह्म का स्वरूप । वेदों में ब्रह्म का स्वरूप । बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप—पूर्ण ब्रह्म, पोषक ब्रह्म, कालातीत ब्रह्म, अधिष्ठाता ब्रह्म, इन्द्रियातीत ब्रह्म, अद्वितीय ब्रह्म, अप्रमेय ब्रह्म, अवा ब्रह्म, सर्वज्ञ ब्रह्म, अभय ब्रह्म, ब्रह्म के दो रूप, नेति-नेति ब्रह्म, स्रष्टा ब्रह्म, प्रश्नातीत ब्रह्म, अन्तर्यामी ब्रह्म, देशातीत ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म । भाष्यकारों की दृष्टि में ब्रह्म का स्वरूप—शंकराचार्य, विद्यारण्य, सुदर्शनाचार्य, भर्तृहरि, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, पं० शिवशंकर शर्मा ।

तृतीय अध्याय : आत्म मीमांसा

निर्वचन। आत्मा के पर्यायवाची शब्द। उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप। बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप—आत्मसत्ता की अनिवार्यता, रुद्र आत्मा, आत्मा की कर्म स्वतन्त्रता, सर्वगुणसम्पन्न आत्मा, आप्तसाम आत्मा, आत्मा का कर्तृत्व, आत्मा का प्रियत्व, आत्मा पुरुष के रूप में, आत्मा की तीन अवस्थाएँ, निष्कर्ष। भाष्यकारों की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप—शंकर, वाचस्पति मिश्र, विद्यारण्य, सर्वज्ञातमुनि, सुरेश्वराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, शिवशंकर शर्मा। बृहदारण्यकोपनिषद् पर सूक्ष्म दृष्टि—क्या जीव ब्रह्म हो सकता है? क्या जीव और ब्रह्म एक है? जीवात्मा शरीर में कहाँ रहता है?

चतुर्थ अध्याय : माया और जगत्

निर्वचन। माया के पर्यायवाची शब्द—अविद्या, अज्ञान, प्रकृति, अव्यक्त, आकाश, अव्याकृत, प्रधान, अध्यास, शक्ति, उपाधि। माया का स्वरूप। माया त्रिगुणात्मक है। माया ज्ञान विरोधी तमोरूप व भावरूप है। अज्ञान का लक्षण। अज्ञान अनुभवगम्य है। बृहदारण्यकोपनिषद् और माया। जगत्। जगत् की सत्ता। उपनिषदों में जगत् की सत्ता। बृहदारण्यकोपनिषद् में जगत् सम्बन्धी मान्यताएँ। जगत् का क्षर रूप। उपादान कारण। जगत् का मूल। भाष्यकारों की दृष्टि में जगत् का स्वरूप—शंकर, सुरेश्वर, मधुसूदन, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, शिवशंकर शर्मा। क्या जगत् मिथ्या है?

पंचम अध्याय : परलोक और मोक्ष

पारलौकिक जीवन की प्रामाणिकता। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित पारलौकिक जीवन। पूर्वजन्म। देवलोक और पितृलोक। देवयान और पितृयाण, जीवन का उत्क्रमण। मोक्ष। उपनिषद् का लक्ष्य। मोक्ष अनुभवगम्य है। वेदों में मोक्ष की मूल प्रवृत्ति। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित मोक्ष—मोक्षप्राप्ति की अनिवार्यता, मृत्यु और अमृत का रहस्य, मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष की अनुभूति, आनन्द मीमांसा। आध्यात्मिक अनुभूति की सीढ़ियाँ। मोक्ष प्राप्ति के उपाय। जीवनमुक्त। मुक्ति से पुनरागमन। भाष्यकारों की दृष्टि में मोक्ष का स्वरूप—शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, पं० शिवशंकर शर्मा।

षष्ठ अध्याय : सृष्टि संरचना

सृष्टि संरचना में वेद का मत। सृष्टि प्रवाह से अनादि है। सृष्टि एवं यज्ञ की एकरूपता। बृहदारण्यकोपनिषद् में सृष्टि रचना का वर्णन—असद्वाद, आत्मवाद,

ब्रह्मवाद, भूतवाद। भाष्यकारों के मत में सृष्टि की रचना—शंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, शिवशंकर शर्मा।

सप्तम अध्याय : धर्म मीमांसा

धर्म की कल्पना। धर्म की व्यापकता। धर्माचरण। औपनिषद् धर्म और व्यक्ति। देवमण्डल। देवलोक एवं उसका मार्ग। देवों का स्वरूप। पुरुष सृष्टि एवं देव। देवताओं की संख्या। अग्नि। अग्नि का जन्म। इन्द्र, रुद्र विष्णु, सविता, सूर्य, आदित्य, वरुण, प्रजापति, अन्य देवता और प्रजापति विभिन्न अप्रधान देवता, अर्चन तथा यज्ञ, होता। अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्म। सोमयज्ञ, बाजपेय यज्ञ, पाकयज्ञ, पंचमहायज्ञ। मन्त्रकर्म, संस्कारगत विधिविधान। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन। जातकर्म, नामकरण, उपनयन, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ एवं संन्यास, अन्त्येष्टि। उपासना, उपासनाओं के प्रतीक। व्याहृति, सम्प्रत्ति कर्म। वैश्वानराग्नि, पंचाग्नि विद्या। सप्तान्न विद्या।

अष्टम अध्याय : याज्ञवल्क्य मीमांसा

जीवनी। याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचार। जनक की सभा में अश्वल के प्रश्न। आर्त्तभाग के प्रश्न, भुज्यु के प्रश्न, उषस्त चाक्रायण के प्रश्न, कहोलेक प्रश्न, वाचक्नवी गार्गी के प्रश्न, याज्ञवल्क्य विजेता के रूप में। विदग्ध के प्रश्न, याज्ञवल्क्य प्रश्नकर्ता के रूप में। याज्ञवल्क्य क्रोध मुद्रा में। याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर। जनक को उपदेश। जागृति—स्वप्न—सुषुप्ति का उपदेश। ब्रह्मलोक आनन्द। मैत्रेयी को आत्मोपदेश।

नवम अध्याय : समाज दर्शन

सामाजिक जीवन। वर्ण, ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य—शूद्र। आश्रम—ब्रह्माचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम। परिवार—संयुक्त परिवार—पिता, पुत्र, विवाह। समाज में स्त्रियों का स्थान—कन्या, पत्नी, माता। ब्रह्मवादिनी। स्वैरिणी। वस्त्राभूषण। भोजन एवं पेय।

आर्थिक जीवन—अर्थपरक चिन्तन, कृषि, धान्य, पशुपालन, वस्त्रोद्योग, धातु उद्योग, काष्ठ उद्योग, इतर उद्योग, यातायात, व्यापार, विनिमय।

राजनीतिक जीवन—राजनीतिपरक चिन्तन, राज्योत्पत्ति। राज्य के प्रकार, सम्राट्, राज्य के कर्तव्य, राज्य और संविधान। राज्य और न्याय, सुरक्षा और सेना।

शैक्षणिक जीवन—शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा शब्द का प्रयोग एवं अर्थ, उत्तम आचरण, धार्मिक विकास, साहित्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति, आचार्य के रूप में पिता। चरक। विनय। शुल्क। शिक्षा और समाज। शिक्षा और राज्य।

दशम अध्याय : काव्य-वर्णन शैली-भाषा

काव्य—दर्शन और कविता। काव्य लक्षण, अनुप्रास, उपमा, मालोपमा, वाक्यार्थोपमा, रूपक, सन्देह, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, निदर्शना, परिकर, विरोधाभास, विभावना, अन्योन्य। काव्यलिंग, उदात्त। गुण—माधुर्य-गुण, ओजोगुण, प्रसाद गुण। रीति—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली ध्वनि। रस—शान्त रस। गद्यप्रकार—वृत्तगन्धि, चूर्णक, उत्कलिकाप्राय।

वर्णन शैलियाँ—सम्वादात्मक शैली, दृष्टान्त शैली, उपमा शैली, समन्वय शैली, स्वगतभाषण शैली, शास्त्रार्थ शैली, निर्वचन शैली, प्रत्यागमन शैली, प्रश्नोत्तर शैली, पहेली शैली।

भाषा—प्लुत। अव्यय। सन्धि। दो सर्वनामों का एक साथ प्रयोग। उपसर्ग, समास, तुमुन्, प्रत्यय, सनन्त रूप, सनन्त रूप में कृत्यप्रत्यय। णिय् प्रत्यय, णिजन्त धातुओं से कृदन्त रूप, मतुम् प्रत्यय, वत्या, त्यप्, भाववाचक तलु, त्व और ध्यत्र प्रत्यय। तमप, इष्ठन्, ईयसुन् प्रत्यय, तसि प्रत्यय। निर्वचन द्वारा अर्थ का स्पष्टीकरण।

उपसंहार

सूक्तियाँ

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सारांश

वैदिक साहित्य निखिल ज्ञान-विज्ञान की अक्षय निधि है। प्राच्य तथा अर्वाच्य विद्वानों द्वारा इसका मानव-संस्कृति तथा आध्यात्मिक दर्शन के विकास की दृष्टि से सूक्ष्म तथा सुविस्तृत अध्ययन किया गया है। वैदिक वाङ्मय ज्ञानकाण्डात्मक और कर्मकाण्डात्मक व्याख्या में उपलब्ध है। वेदों की ज्ञानकाण्डात्मक व्याख्या उपनिषद् साहित्य में मिलती है। इतना ही नहीं; यदि उपनिषदों को तत्त्वज्ञान का स्रोत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि उत्तरकालीन विविध वाङ्मय के रूप में विकसित होती हुई ज्ञानगंगा आज हमारे समक्ष उपनिषद् साहित्य के रूप में विद्यमान है जो शाश्वत् रूप में प्रवहमान है।

उपनिषदों में सर्वाधिक प्राचीन तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बृहदारण्यकोपनिषद् है। यह आकार-प्रकार तथा प्रतिपाद्यविषय की दृष्टि से बृहत् है। बृहदारण्यकोप-निषद् की दो शाखाएँ हैं। काण्व और माध्यन्दिनी। प्रचलित उपनिषद् काण्वशाखा से सम्बन्धित है। इसी पर सभी मान्य भाष्यकारों ने अपनी लेखनी उठायी है। इसके नामकरण पर प्रकाश डालते हुए भाष्यकार शंकर ने जो व्युत्पत्ति दी है, वह बड़ी

सटीक प्रतीत होती है—

अरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम् ।
बृहत्त्वात्परिणामतो बृहदारण्यकम् ।।

अर्थात् कलेवर की दृष्टि से यह समस्त उपनिषदों की अपेक्षा बृहत् है और अरण्य में अध्ययन किये जाने के कारण इसे आरण्यक कहते हैं। अतः बृहत् और आरण्यक होने से इस उपनिषद् का नामकरण बृहदारण्यकोपनिषद् हुआ। 'बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिक' के लेखक श्री सुरेश्वराचार्य तो अर्थतः भी इसकी महत्ता स्वीकार करते हैं—

अरण्याध्ययनाचैतदारण्यकमितीर्यते ।
बृहत्त्वादग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकम् ।।

इस उपनिषद् में जहाँ लौकिक और पारलौकिक विषयों की विवेचना हुई है; वहाँ इस पर अनेकों आचार्यों तथा भाष्यकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विविध प्रकरणों में विविध शब्दों एवं प्रतिपाद्य विषय का विभिन्न अर्थ किया है जिसके परिणामस्वरूप बृहदारण्यकोपनिषद् विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होने लगी। उप-निषदों को ही लक्ष्य में रखकर अद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद तथा प्रेतवाद का परिपोषण किया गया है।

अतः उन सभी प्राचीन व अर्वाचीन प्रमुख भाष्यकारों व व्याख्याकारों को लेकर तुलनात्मक दृष्टिकोण रखते हुए मैंने अपने शोधप्रबन्ध के लेखन का प्रमुख उद्देश्य बनाया है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में जहाँ ब्रह्म, आत्मा, जगत्, माया, और मोक्ष का सर्वाङ्गीण अध्ययन किया गया है, वहीं बृहदारण्यकोपनिषद् कालीन धार्मिक जीवन, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, राजनीतिक जीवन और शैक्षणिक जीवन पर भी विचार किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रयुक्त भाषा का अध्ययन भी काव्य और व्याकरण की दृष्टि से किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध दस अध्याय में पूर्ण हुआ है। प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के अन्तर्गत वैदिक वाङ्मय और उपनिषद् पर विचार करते हुए बृहदारण्यकोप-निषद् का स्रोत, नामकरण तथा इसके कर्तृत्व की चर्चा की गयी है। इसके साथ ही प्राचीन व अर्वाचीन भाष्यकारों के नाम, विषयवस्तु और औपनिषदिक दर्शन के व्याख्याताओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में ब्रह्म की मीमांसा की गयी है। ब्रह्म शब्द का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए वेदों, उपनिषदों, विदेशी विद्वानों तथा भाष्यकारों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को उद्घाटित किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् का ब्रह्म पूर्ण है। कालातीत, इन्द्रियातीत, सर्वज्ञ, अभय, सृष्टिकर्ता, अन्तर्यामी, विनाशरहित, प्रश्नातीत और अद्वितीय है। वह संसार का निर्माण, धारण तथा संहरण करता है। वह शब्दों से परे तथा नेति-नेति है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत आत्मा की मीमांसा की गयी है। अन्य उपनिषदों में वर्णित आत्मा से तुलना की गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद् ने शरीरादि अंगों से अतिरिक्त एक सूक्ष्म शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है। इसी की संज्ञा आत्मा है। यह कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में परतन्त्र है। यह आत्मा जब शरीर से निकलता है तब सभी को रुलाता है। अतः इसे रुद्र आत्मा भी कहते हैं। इसकी तीन अवस्था हैं। यही जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति में विचरण करता है। दुःख-सुख का अनुभव करता रहता है। आत्मा असंख्य है। बृहदारण्यकोपनिषद् के विशेष सन्दर्भ में क्या जीव ब्रह्म हो सकता है? क्या जीव और ब्रह्म एक हैं? जीवात्मा शरीर में कहाँ रहता है? इन विषयों पर स्वतन्त्र चिन्तन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का प्रतिपाद्यविषय माया और जगत् है। विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में माया का स्वरूप समझाते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् की माया से तुलना की गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद् की माया जीवात्मा के साथ सम्बन्धित है। माया-मेधा—बुद्धि का पर्याय है। जगत् की सत्ता सत्य है। यह मिथ्या नहीं है। जगत् का उपादान कारण अविकृत प्रकृति है। प्रलयकाल में यह दृश्यमान जगत् अपने सूक्ष्मस्य प्रकृति में चला जाता है। अन्य भाष्यकारों के मतों की समीक्षा करते हुए शंकर के जगन्मिथ्यावाद का पक्षपातरहित बृहदारण्यकोपनिषद् के मन्त्रों से प्रत्याख्यान किया गया है।

पंचम अध्याय में परलोक और मोक्ष का विषय है। पारलौकिक जीवन की प्रामाणिकता वेदों से ली गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद् की दृष्टि में देवलोक और पितृलोक तथा देवयान और पितृयाण की कल्पना सार्थक है। आत्मा का पुनर्जन्म इन्हीं मार्गों से होता है। मोक्ष की प्राप्ति अनिवार्य है। आत्मा का परमात्मा से मिलन होने के बाद जीव जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है। मोक्ष एक शाश्वत सुख (आनन्द) का नाम है। उस सुख की कल्पना हम नहीं कर सकते। महर्षि याज्ञवल्क्य पति-पत्नी के मिलन से उत्पन्न आनन्द से मोक्ष के आनन्द का समीकरण करते हैं। साथ में यह भी कहते हैं कि मोक्ष का सुख शाश्वत है और पति-पत्नी वाला सुख क्षणिक है। बृहदारण्यकोपनिषद् 'तेषां न पुनरावृत्तिः' के द्वारा मोक्ष से पुनरागमन नहीं होता, की मान्यता को स्वीकार करती है; जबकि भाष्यकार इसमें मतैक्य नहीं हैं।

षष्ठ अध्याय में सृष्टि संरचना को समझाया गया है। सृष्टि संरचना के अन्तर्गत वैदिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। सृष्टि प्रवाह से अनादि है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम अनादिकाल से अनन्तकाल तक चलता रहेगा। बृहदारण्यकोपनिषद् में असद्वाद, आत्मवाद, ब्रह्मवाद तथा भूतवाद के सिद्धान्तों से सृष्टि-रचना के प्रकार को समझाया गया है।

सप्तम अध्याय धर्म-मीमांसा का है। इसमें बृहदारण्यकोपनिषद् के सन्दर्भ में

धर्म की व्याख्या के साथ-साथ देवता, देवलोक, अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य, विष्णु, प्रजापति और यम, अध्वर्यु, होता आदि ऋत्विजों, सोमयज्ञ-पाकयज्ञ-पंचमहायज्ञों, षोडशसंस्कारों, विविध उपासनाओं तथा उसके प्रतीकों, गायत्री, विविधविधाओं तथा धार्मिक जीवन के सभी पक्षों का सप्रमाण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम अध्याय में महान् दार्शनिक महर्षि याज्ञवल्क्य के जीवन-चरित्र के साथ-साथ उनके दार्शनिक विचारों को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही याज्ञवल्क्यकालीन समाज की रूपरेखा पर भी प्रकाश डाला गया है।

नवम अध्याय समाजदर्शन से सम्बन्धित है। बृहदारण्यकोपनिषद् कालीन समाज में चारों वर्ण और चारों आश्रम का प्रचलन था। परिवार संयुक्त हुआ करते थे। स्त्रियों को विद्याध्ययन का पुरुषों के समान अधिकार था। बहुपत्नीप्रथा का प्रचलन भी था। भोजन और पेय में तत्कालीन समाज आधुनिक समाज के समान था। आर्थिक जीवन के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन, नाना प्रकार के उद्योग, व्यापारार्थ यातायात तथा लेन-देन का कारोबार भी अपनी चरमसीमा पर था। राजनीतिक जीवन अति उत्तम था। राज्य और राजा अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। प्रशासन को अति-उत्तमता से चलाने के लिए राजा ने अपने नीचे अनेक आधिकारिक कर्मचारियों की नियुक्ति कर रखी थी। राज्य की सुरक्षा के लिए सेना भी होती थी। प्रजा को यथोचित न्याय उपलब्ध था। शैक्षणिक जीवन के अन्तर्गत शिक्षा अपनी चरम सीमा पर थी। शिक्षा के अन्तर्गत जीवन के वास्तविक स्वरूप और लक्ष्य को विशेष रूप से समझाया जाता था। शिक्षा प्राप्ति में देव; मनुष्य और असुर तीनों वर्ग ही समान रूप से प्रयास करते हैं। शिक्षा की व्यवस्था राज्य की ओर से निःशुल्क थी। तत्कालीन समाज पूर्ण जागरूक था।

दशम अध्याय को तीन भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित विविध उपमादि अलंकारों, माधुर्यादि गुणों, वैदर्भी आदि रीतियों, वृत्तगन्धि आदि गद्यप्रकारों, रस और ध्वनि पर विचार किया गया है। द्वितीय भाग में बृहदारण्यकोपनिषद् की वर्णनशैलियों पर अध्ययन किया गया है। जैसे संवादात्मक शैली, शास्त्रार्थ शैली, उपमा शैली, समन्वय शैली, स्वगतभाषण शैली, पहेली शैली और प्रत्यागमन शैली। तृतीय भाग में पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से भाषा का अध्ययन किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् की भाषा वैदिक भाषा की अपेक्षा लौकिक भाषा के अधिक निकट है। अन्तर इतना है कि इसमें निपातों, अव्ययों और प्लुत का प्रयोग अधिक किया गया है। और एक साथ दो-दो उपसर्गों का प्रयोग हुआ है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि बृहदारण्यकोपनिषद् अपने गन्तव्य ब्रह्म की ओर अग्रसर होने के साथ-साथ अपने में भाव-गाम्भीर्य और विषयगाम्भीर्य को धारण किये हुए है।

जीवात्मा के वेद प्रतिपादित स्वरूप की विवेचना का सारांश

शोधकर्ता—रामेश्वरदयाल गुप्त
निर्देशक—डॉ० भारत भूषण
वर्ष—1986

जीवात्मा को ऋक प्रथम मण्डल में असु (113/16) और जीव (140/8) दसवें मण्डल में मन (सूक्त 58) तथा आत्मा (16/3) कहा गया है। वेद चतुष्टय के निम्न स्थलों में जीव और उसके स्वरूप का वर्णन आया है।

ऋक :— 1/24/1, 1/109/7, 1/115/2, 1/154/5, 6/37/4, 6/120/3, 9/113/7 से 11 तक।

10/14/1 से 10 जिनका ऋषियम और देवता पितृदेव है और जो अन्त्येष्टि संस्कार में विनियोजित है तथा सूक्त 15 (में पितरलोक का वर्णन है) 10/16/1, 10/59/6, 10/133/1, 11/135/1 व 7 जिसमें यम सदन का वर्णन है तथा 18/4/2—यजुर्वेद—3/9/6, अध्याय 35 जिसमें पितृयज्ञ का वर्णन है।

अथर्व :—4/34 जिसमें स्वर्ग का वर्णन है तथा 18/4/31 जिसमें यमालय का वर्णन है। इन सन्दर्भों से तीन बातें प्रतिलक्षित होती हैं :—

1. जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह अजर-अमर है।
2. जीवात्मा कर्मानुसार पुनर्जन्म में जाति, आयु व भोग पाता है। वह पुनः-पुनः मानव या जीव-जन्तु का चोला पा सकता है।
3. यह पुनर्जन्म अनेक लोक-लोकान्तरों में हो सकता है अथवा उसे स्वर्ग, नरक और मोक्ष की स्थिति प्राप्त होती है।

इन मान्यताओं का समर्थन निम्न ग्रन्थों में भी पाया गया है जो कि वैदिक वाङ्मय के विषयों को ही खोलने हेतु बने थे :

ब्राह्मण ग्रन्थ=ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण सन्दर्भ :—3/42, व 2/7, **यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण**=2/313/9, 10/4/3/10, 11/4/3/20, 11/5/6/9,

11/6/3/7 ताण्य ब्राह्मण=25/10/6 तेत्तिरीय में 3/8/10/3 उपनिषदों के अन्तर्गत :

बृहदारण्यक (4/3/3, 4/4/2, व 46/2/15-16, ऐतरेय 4/4-5)
प्रश्नोपनिषद (3/7 व 10, 4/9)
छान्दोग्य (5/10/7, 8/7/3, 8/11) मुण्डक (3/1/9)
माण्डूक्य (3/4/5) श्वेताश्वर (5/9/10) गीता (2/2-4-5)
निरूक्त (14/1-2-6), न्याय सूत्र भाष्य (1/1/19, 3/2/70)
वैशेषिक सूत्र (6/2/14) मीमांसा (1/2/17, 3/7/18, 6/2/3 व 5)

इसके अतिरिक्त भारतीय अवैदिक दर्शन में जैन बौद्ध मान्यताएँ इस विषय में लगभग वैदिक मान्यता जैसी ही है। और तो और, भारतेतर दार्शनिक चिन्तनों में भी आत्मा की अमरता का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में पाया ही जाता है। यहूदियों ने उसे Gil Gul Neshamoth नाम से बखाना है। विश्व के प्राचीन धर्मों में से पारसियों की धर्म पुस्तक जिन्दावस्था में एक गाथा है कि शुभकर्मी जीव को मरणोपरान्त उस लोक में एक सुन्दर स्त्री से सामना होता है जिसे बाद में उसी की अन्तरात्मा बताकर स्पष्ट किया गया है। और चार प्रकार के स्वर्ग बताये गये हैं :—चिन्तन स्वर्ग, सुशब्द स्वर्ग, सुकर्म स्वर्ग और अनन्त स्वर्ग (प्रकाश युक्त स्वर्ग।) यह कठोपनिषदुक्त स्वर्ग एवं मोक्ष अवस्था या लोक ही है।

ब्रिटिश द्वीपों में भी ईसाई धर्म फैलने से पूर्व जो द्रदु दर्शन व्याप्त था, उसमें भी, उसकी भी इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (8/706/70) के अनुसार मुख्य दो मान्यताओं में से एक जीव की अमरता मुख्य थी। प्रारम्भिक ईसाइयों में इसे Jerome तथा monehens एवं origenes ने मान्यता दी थी। मत्ती रचित सुसमाचार (बाइबिल) के पर्व 11 की आयत 10 से 13 तक में योहनना पुरोहित को स्पष्ट रूप से पूर्व जन्म का एजियाह नवी बताया है। कहीं जाकर छठी शताब्दी में जस्टीमियन ने राजाज्ञा प्रसारित करके पुनर्जन्म को अमान्य घोषित किया था। परन्तु अब Spiritualist churches की स्थापना के साथ इस शताब्दी में जीव की अमरता पर प्रचुर साहित्य और प्रयोग प्रसारित किये गये हैं। मृत सम्बन्धियों की आत्माओं को बुलाना तथा आत्मिक शक्ति से रोगोपचार आदि आज योरुप की प्रमुख Hobby हो गये हैं।

दूसरा सेमेण्टिक धर्म इस्लाम का है। वे जीव को अनादि तो नहीं पर अनन्त समय तक रहनेवाला अवश्य मानते हैं और यह अनन्तता एक मानव चोले के बाद फिर बहिश्त या दोजख में बीतती है। परन्तु कुरान (सूरत वाकिया 57-61) तथा सूरत वक (28, 35 व 243) में एक जीव के पशु और फिर मानव चोला पाने का जिकर है ही।

इसके अतिरिक्त आरफिस सम्प्रदाय तथा दर्शनकार पाइथागोरस, इम्पीडोसिल,

सुकरात, प्लेटो, जैन, इपीक्यूरस, प्लोटोनियस, सिसरो तथा लीसिंग तथा सिथली और कवि बटलर, शेक्सपियर की पुस्तकों से जीव की अमरता के प्रसंग भी शोध में उद्धृत किये गये हैं।

भौगोलिक दृष्टि से मिश्र, अमेरिकी रैड इण्डियन प्रदेश, मेडगास्कर, अफ्रीका महाद्वीप के अन्य देश, उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न अंचल, ग्रीनलैण्ड, पापलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, इन्डोनेशिया, बल्गेरिया और आर्कटिक प्रदेश में व्याप्त दन्त-कथाओं और सामाजिक जीवन में भी जीव की अमरता की बात मूल रूप में व्याप्त पायी गयी। ऋग्वेद 10/63 में वर्णित मरणोत्तर काल की तीन स्थितियाँ प्राय: हर देश में और हर दर्शन में पायी गयीं।

अध्याय 2

जीव की अमरता की पुष्टि इस अध्याय में प्रसिद्ध शेष पाँच प्रमाणों के आधार पर की गयी है। क्योंकि शब्द, ऐतिह्य और आप्त का विश्लेषण प्रथम अध्याय में कर दिया है। मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के औषधिपरक उपायों का सफल न होना अर्थापत्ति है। अब तक के ऐसे उपक्रमों का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। जीव प्राकृतिक पदार्थों से नहीं बनता, एक जीव दूसरे जीव को जन्म नहीं देता। जीव रासायनिक प्रक्रिया या उस प्रक्रिया से उत्पन्न नवीन पदार्थ भी नहीं है।

इस Elimination के सिद्धान्तानुसार जीव न भावात्मक गुण है न व्यक्तिगत रुझान अर्थात् temperament है जो कि प्राय: उत्तराधिकार से मिलती है। जीवात्मा अनुभूति (sensation) भी नहीं है। वह एक विचार शृंखला या thought भी नहीं है, वह तो बुद्धि का विकार है। क्योंकि पागलों में वह अनुपस्थित है, यद्यपि वे जीवधारी हैं, और जीवित हैं। वह सकारणता reason और निष्कर्ष या अहंकार भी नहीं है। इसी प्रकार यह शरीर, इसकी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ या बुद्धिकेन्द्र भी आत्मा नहीं है। यदि जो आत्मा का स्वतन्त्र अनादि अनन्त अस्तित्व है और वह अजर-अमर है, तो वह ईश्वर का अंश भी नहीं है। अंश में पूर्ण के गुण होने चाहिए। अंश के पूर्ण से अलग होने और उसमें पुन: मिलने का काल विशेष होना चाहिए। अद्वैतवादी सुख-दुख का भोक्ता बुद्धि को मानते हैं, पर बुद्धि तो जड़ है। शोध में अद्वैतवादियों का दृष्टिकोण सत्यनिष्ठा से प्रस्तुत करके उस पर विवेचना करके उसे असंगत पाया गया है। इस विषय में मरणासन्न व्यक्ति पर एलोपैथिक डाक्टर ईको हेरन (echo heren) के परीक्षण उद्धृत किये गये हैं। इसमें मस्तिष्क के पंचर हो जाने के बाद भी एक रोगी को यन्त्रों और दवाइयों से कुछ समय तक जीवित रखा गया था। आत्मा को उसके कार्यों से अनुमान में ला सकते हैं। वह शरीर-रथ का सारथी है, श्वास-निश्वास तथा पलक झपकना चालू रखता है। और क्षतिग्रस्त अवयवों को पूरा करता रहता है। वह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में

सम्पर्क बनाता है। वह स्मृतियों के भण्डार को सँजोकर रखता है जिसमें कृतत्व (इच्छा, द्वेष व प्रयत्न), भोक्तृत्व, (सुख, दुख भोगने की अनुभूति) तथा ज्ञातृत्व (ज्ञानार्जन की भूख) है। वही जीव है। देह में जीवात्मा हिरण्यमय कोष में निवास करता है जो हृदय के पास है।

जीव के पुनर्जन्म के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाणों का विवेचन करते समय सबसे पहिली बात जो द्रष्टव्य है वह है हमारे शरीर का नैरन्तर्य। आयु के साथ सारे कोष और कोषिकाएँ बदल जाते हैं, पर मैं वहीं रहता हूँ। विकासवादी चिन्तनानुसार मनुष्य के उद्भव का प्रारम्भिक अमीवा सदा कायम रहता है। जीवन सदा जीवन से ही उत्पन्न होता है, जड़ से नहीं। इसकी पुष्टि डेविड ह्यूम के प्रसिद्ध सिद्धान्त से भी होती है कि cogeto ergo sum (मैं सोच सकता हूँ, इसलिए मैं हूँ) सोचने की क्रिया का अधिष्ठाता जीव है।

जीव की अमरता का वैज्ञानिक उपकरणादि से भी सिद्ध करने का इस शताब्दी में प्रयत्न किया गया है और एतद्विषयक प्रचुर साहित्य का अवलोकन करना पड़ा।

किरलियन फोटोग्राफी मनुष्य के शरीर से निकले विद्युत शक्ति लाइनों (lines of force) को अंकित कर लेती हैं और इसे बाद में डाक्टर वाल्टर किलनर ने human aura (मानवीय चेतना) का नाम दिया। बीमार लोगों में यह चेतनता एक-सी पायी जाती है। यह चेतनता—273^0 से० अर्थात् absolute zero पर हर परमाणु की अलग-अलग होती है और निरन्तर बनी रहती है। यह चेतना ही दिल धड़काती है। विभिन्न परमाणु की फिरीक्यूएन्सी अलग-अलग होती है। परस्पर सम्पर्क में आने पर जल कैटेलिस्ट का काम करता है और चेतन जीव में यह चेतना या ऊर्जा बदल जाती है। पर प्रश्न तो यह है कि मिलने के विविध अनुपात का गणित ज्ञान और उसका संयोजक कौन है ? वही तो जीव है। मनुष्यों में विचार, बुद्धि, चित्त, और स्मरण क्रिया का स्रोत भौतिक नहीं हो सकता। इस प्रकार की ऊर्जा निराकार और पराभौतिक है। कोई ऊर्जा नष्ट नहीं होती। सो मरे उपरान्त इस ऊर्जा ने अवश्य अन्यत्र स्थान ग्रहण करना ही है। इस प्रकार वैचारिक और मानसिक नैरन्तर्य स्वयंसिद्ध प्रत्यक्ष है। यह भी स्पष्ट है कि पूर्वगत क्रिया से विचार बनते हैं और वे अमर हैं। पश्चिम में अभिमर्ष और मार्जिन तथा उपदेश (हिप्टोटिज्म) पर परीक्षण किये हैं, वे मानव की सुप्त स्मृतियों को उछालने के प्रयत्न ही हैं। इनके साहित्य के प्रचुर उदाहरण शोध में दिये गये हैं। इसी प्रकार मृतात्माओं से सन्देश प्राप्त करने की प्रणाली के प्रभूत परीक्षण योरुप तथा अमेरिका में हुए हैं। और वे प्रायः 80% सत्य सिद्ध हुए हैं। प्लेनचिट के प्रदर्शन भी इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। अब तो ध्यानमग्न (मीडियम) ने मृत व्यक्तियों के फोटो तक खींचे हैं। इनका वर्णन शोध में किया गया है। उनका यह निष्कर्ष रहा है कि आत्मा

के कई भाग होते हैं। इसका एक भाग जन्म-मरण में आता है तथा दूसरा नैरन्तर्य से उस पर शासन करता है। इस नैरन्तर्य के विरुद्ध स्मृति-नाश का भी प्रबल प्रमाण वखाना जाता रहा है। पर स्मृति तो एक जीवन की घटनाओं की भी नहीं रहती। फिर पशु-पक्षी की योनि से आनेवाले जीवों के मानस पर किस बात की स्मृति बनी रहे? ऋग्वेद 9/117/1, मनु—4/148-149, योगदर्शन—2/15, गर्भोपनिषद में तथा धन्वन्तरि के शरीर शास्त्र 2/107 में कुछ स्थितियों में पूर्व जन्म स्मृति सम्भाव्य कही है। फिर स्वप्न में दृष्ट घटनाएँ तथा पूर्वाभास आदि संगृहीत घटनाएँ होती हैं, जो विभिन्न क्रम से उद्भासित होती रहती हैं तथा पश्चिम में परामनो-विज्ञान ने तो इच्छा शक्ति (विल पावर) अमेरिका के रेव० नामरमन विनसैण्ट पोल ने जीवित व्यक्ति के मृत सम्बन्धियों की आत्माएँ बुलाकर उनसे प्रश्नोत्तर कराके (clairvoyance) का सिद्धान्त प्रस्फुटित किया है। उसकी तो मान्यता है कि मानव स्पर्श से पूर्व सद्योत्पन्न बालक में पूर्वानुभूति और आह्लाद भरा होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाणों की बौद्धिक गवेषणा के बाद अमेरिका के एक तथा जयपुर विश्वविद्यालय के पैरा साइकलौजी विभाग द्वारा पूवर्जन्म स्मृति की लगभग दस घटनाओं को भी शोध में उद्धृत किया है जो भारत तथा भारतेतर एवं हिन्दू तथा अन्य सब धर्मावलम्बियों की है।

अध्याय 3

इस अध्याय में जीव के जन्म व पुनर्जन्म के कारण (रेशनेल) पर विवेचना की है कि एतद्विषयक वैदिक कर्म और कर्मफल व्यवस्था कितनी अविरुद्ध सिद्ध है। वेद की एतद्विषयक घोषणा ऋग्वेद 3/3/6 (यः कर्माभिर्महदभि) तथा 10/22/8 की ऋचा (अकर्मा दस्युरभि०) में है। नियतिवाद जो महाभारत की मङ्कि गीता में है और जिसका संकेत पाणिनी के सूत्र 6/1/154 में मस्करी नाम से है, वह तो विपुल एतद् विषयक साहित्य का ऐक्सेप्शन (व्यतिक्रम) मात्र है। और कर्म विभाजन (प्रारब्धक्रियमाण और संचित) के प्रथम तृतीय अंश के ही अन्तर्गत आते हैं। प्रत्येक प्राणी की इच्छा से देवेच्छा का कोई समन्वय नहीं है और संचित कर्म भुगतने से ही नष्ट होते हैं तथा संचित कर्म भुगतने को एक जन्म काफी नहीं है, न राज्य व्यवस्था ही सच-सच फल दिला सकती है। राज्य व्यवस्था केवल दण्ड व्यवस्था है। बँधा पुरस्कार का प्रश्न नहीं है। फिर दण्ड की प्रबलता हर देश के राजनैतिक और आर्थिक चिन्तनानुसार मानी गयी है। पूर्ण कर्मफल व्यवस्था तो सर्वद्रष्टा ईश्वर के ही हाथ में छोड़नी होगी और इसी हेतु जन्म-जन्मान्तर तथा योनि-चक्र की रचना हुई है। महाभारत अनु० पर्व अ०7 में कहा है कि मनुष्य जिस-जिस शरीर (या इन्द्रिय) से जो-जो कर्म करता है उसी-उसी इन्द्रिय से उस-उस कर्म का फल तदनुरूप शरीर में भोगाया जाता है। इस सिद्धान्त की विशद विवेचना शोध में की गयी है।

कर्मफल के विषय में एक वैदिक मान्यता ऐसी है कि जो अन्य सम्प्रदायों में नहीं है। और वह है पापों का किसी सत्ता द्वारा क्षमा न किया जा सकना। न्याय के सिद्धान्त की यही माँग है। कर्मफल सिद्धान्त विश्व में न्याय और व्यवस्था का आदि स्रोत है। भौतिकी का परम विख्यात सिद्धान्त भी यही है कि हर क्रिया की बराबर परिमाण में प्रतिक्रिया होती है। To every action there is equal and oppostee reaction. हाँ ईश्वरीय व्यवस्था में नैतिक सुधार के सिद्धान्त का कर्मफल में सम्मिश्रण अवश्य है। हर कर्म के दो फल वैदिक मान्यता में है :—एक सदा दृष्टिगोचर तथा दूसरा संगृहीत या संचित जिसका फल मरणोत्तर दूसरी योनि में ही मिलता है। प्रथम से नैतिक सुधार होता है और द्वितीय से विश्व की व्यवस्था चालू रहती है। कर्मों की गति अति गहन है। इस पर शोध में विशद विवेचना की गयी है। व्यक्तिगत कर्मों से सामाजिक फलाफलों का भी निर्माण होता है। पाप और पुण्य दोनों का पृथक्-पृथक् फल भुगतना होता है, वे गणित के सिद्धान्त से किसी अनुपात में भी एक-दूसरे को कैन्सिल नहीं करते। परोपकार और याज्ञिक कर्मदेव योनि व स्वर्ग की स्थिति उत्पन्न करते हैं। कर्मों का फल कालक्रमानुसार न होकर उनकी गुणवत्ता से आगे-पीछे भी हो जाता है। अद्वैतवादियों के मतानुसार आत्मा सुख-दुख से परे होने से अनुभूति मन व बुद्धि में होती है। यह मान्यता तो कर्मफल के सारे सिद्धान्त को ही झुठला देती है। पश्चिम के स्प्रीचुअल चर्च ने कर्मफल का जन्म-जन्मान्तर में होना तो माना है पर यह और जोड़ दिया है कि इसमें परमात्मा का मूल उद्देश्य आत्मा को आध्यात्मिक पाथेय की ओर ले जाना मात्र है। परमात्मा दुख का विनियोजन नहीं करता। और इसमें केवल ईश्वरेच्छा ही नहीं बल्कि जीव की भी अपनी इच्छा का सम्मिश्रण होना अनिवार्य है कि वह अगला जन्म लेने में इन उद्देश्यों की पूर्ति देखता है या नहीं। वह नेपथ्य में सोचता है तथा अपने सम्बन्धियों और शुभेच्छुकों से इस विषय में परामर्श करके ही निर्णय करता है। इस सिद्धान्त का कोई दार्शनिक आधार वे नहीं बनाते। अपने द्वारा आहूत मृतात्माओं के द्वारा मीडियम के मुखों से कहलवायी प्रश्नोत्तर वार्ता ही इसका आधार है। हाँ प्रसिद्ध चिन्तक जार्जमीक ने अपनी पुस्तक (आफ्टर वी डाई व्हाट दैन) में जो कर्मचक्र का ऐलीवेचर द्वारा मानचक्र दिखाया है उसमें कर्मानुसार ऊपर उठने तथा नीचे गिरने दोनों की विवेचना की है।

शोध में इस पर भी विचार किया है कि विकासवाद ने पशुओं के विकास से मनुष्य बनना मान लिया है पर हमारे यहाँ मानव से पशु योनि में जाना और वहाँ से कर्मोन्नति से वापिस आना बहुत पहले ही मान लिया गया था। हाँ, वृक्षादि में जीव नहीं होता। वे तो जैन दर्शन के अजीब तथा वैदिक त्रैतवाद के जड़ पदार्थ हैं। उनमें सार्वजनीन चैतन्यता मात्र है। पशु-पक्षियों को प्रदत्त स्वाभाविक गुण भी उनमें नहीं हैं। इस प्रश्न पर भी कुछ प्रकाश डाला है कि जाति और भोग की तरह

आयु भी जन्म समय पर सुनिश्चित होती है। किन कर्मों से कैसा पुनर्जन्म मिलता है, इस पर केवल महाभारत के अनुशासन पर्व के अध्याय 3 में युधिष्ठिर और बृहस्पति के प्रश्नोत्तर वाले श्लोक 35 से 39, 51 से 52, 63 से 69, 75 से 79 वाले, 97 तथा 126 से 130 के भावार्थ उद्धृत हैं। दण्ड का सिद्धान्त जो वहाँ प्रयुक्त है, का आधार सुस्पष्ट नहीं है। पर फिर भी वह विषय पर कुछ प्रकाश तो डालते ही हैं। इस विषय में एक बार फिर पश्चिम के दार्शनिक वार्कर, आदम स्मिथ तथा मैक्समूलर के मत उनकी पुस्तकों से उद्धृत किये हैं।

अध्याय 4

अब केवल इतने वैदिक अंश पर विवेचना शेष रह गयी है कि अनेक लोक-लोकान्तर हैं, जिनमें जीव का किसी न किसी प्रकार से सैन्द्रिय या निरीन्द्रिय यथा सूक्ष्म या कारण शरीर के साथ वास होता है और उनकी संज्ञा स्वर्ग तथा मोक्ष है। इसमें मतभेद रहा है कि यह स्थितियाँ हैं या भौगोलिक स्थान।

विश्व के विस्तार हेतु, गायत्री मन्त्र की 7 व्याकृतियाँ प्रसिद्ध हैं। योगदर्शन के 3/26 के व्यास भाष्य में इन 7 लोकों का विस्तार भी बताया है। वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में भी तीन चौथाई विश्व इस दृष्टि सृष्टि के नेपथ्य में बताया गया है। भाग्य से वैज्ञानिकों ने अनेक लोकों, ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों आदि का विस्तार टेलस्केप के आधार से तथा गणित के फार्मूलों से निकालकर रख दिया है। उस साहित्य में से पृथ्वी के अतिरिक्त सूर्य, आकाश-गंगा, राशियों, चन्द्रमा, शुक्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शनि, यूरेनस तथा नैपचून का थोड़ा-सा परिमाणात्मक वृत्तान्त शोध में दिया गया है। चन्द्रमा पर मानव के पहुँच जाने से चन्द्रलोक का वृत्तान्त तो अब प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में है।

और इन सब स्थानों पर जीवन की सम्भावना की खोज धीरे-धीरे प्रगति कर रही है। थियोसोफिस्ट लोग तो स्पष्ट ही केवल वायु पर, केवल जल पर और केवल अग्नि पर पलनेवाले जीवों की कल्पना करते हैं। उड़न तश्तरियों को अन्य देशों से आये वायुयान माना जाने लगा है।

स्थितिवाचक लोक

स्थानवाचक गवेषणा के बाद कुछेक विचारकों ने जो स्थितिवाचक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, उस पर भी विचार किया गया है। दिल्ली में स्थित एक आध्यात्मिक केन्द्र (नं० 9, ए-बी,—सफदरजंग, दिल्ली) ने मृत्यु समय के व्यक्तियों के शरीर पर परीक्षण करके सुस्थिर किया है कि जीव मरने पर तीन प्रकार के शरीरों में रहता है।

1. Etheral आकाश तत्त्व से भी सूक्ष्म एक मीडियम जिसमें होकर प्रकाश

यात्रा करता है। यह शव से तीन फीट तक मँडराता रहता है।

2. Esteral यह तारों से सम्बन्धित क्षेत्र है। शायद यह आकाश गंगा का छोटा रूप है। इसकी दूरी 9 फीट तक हो सकती है।

3. मानसिक शरीर यह स्थानपरक न होकर स्थितिपरक है। इसके बाद पुनर्जन्म होता है।

अमेरिका की Meta Science Foundation ने फ्रेंकलिन वाथ कारोनिया नगर में कुछ परीक्षण जार्जमीक ने किये हैं जिनमें चेतना के अन्य स्तरों पर स्थित आत्माओं से सम्पर्क करने का प्रयत्न किया गया है। उसने स्पिरोकाम नामक यन्त्र का निर्माण भी किया है। यन्त्र में विभिन्न Frequencies पर प्राप्त शब्द संकेत इकट्ठे किये गये हैं और उनका विश्लेषण किया जा रहा है।

वैज्ञानिकों ने एक और थियोरी प्रकाशित की है कि जितने इनआरगेनिक पदार्थ हैं, वे तारा-मण्डलों के क्षेत्र में घर्षणादि से बनते हैं और वर्षा तथा उल्कापात से आकर पृथ्वी पर गिरते रहे हैं। मैण्डलीफ के वेलेन्सी चार्ट में क्रमबद्ध दिखाया गया है और आज रसायन विज्ञान की सर्वसम्मत मान्यता है कि पोजीट्रोन अर्थात् विजली के भार युक्त धन विद्युत के चारों ओर ऋण विद्युत इलैक्ट्रान की भिन्न-भिन्न संख्या द्रुतगति से घूमने से ही विभिन्न तत्त्वों के अणु बनते हैं। अब एक धन विद्युत के चारों ओर एक इलैक्ट्रान घूमता है तो हाईड्रोजन, दो से आक्सीजन, तीन से लोहा बनता है। यह विद्युत गर्जन की प्रक्रिया आकाश में ही विभिन्न अनुपातों में सम्भव है। अतः उपभोग के यह पदार्थ आकाशस्थ लोकों में भी सम्भव हैं। पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ ने अपने किये वेदभाष्य में 70 प्रतिशत ऋचाओं को आकाशीय तारामण्डलों में परिव्याप्त प्रक्रिया का वर्णनकर्ता मात्र बताया है। इस परिप्रेक्ष्य में कुछ पत्रिकाओं की कतरनें व्याख्या सहित निर्देशक महोदय के पास निरीक्षणार्थ छोड़ी थीं। खेद है कि कुछ अन्य आवश्यक सामग्री के साथ वे कहीं रखकर उन्हें भूल गये हैं। ग्रहों में मानव जीवन के विषय में ऐडवर्ड आशपाल के विचार भी उन्हीं पृष्ठों में उद्धृत किये गये थे। सौभाग्य से मेरी लिखी पुस्तक आर्यों की यज्ञ-प्रक्रिया में पृष्ठ 95 पर उद्धृत दो समाचार उपलब्ध हैं जो यहाँ अविकल देते हैं।

1. पत्रिका हिन्दुस्तान टाइम्स, अंक 5, फरवरी 80 में छपी, कलकत्ता में हुई विज्ञान कान्फरेन्स की एक रिपोर्ट

लखनऊ से आये तीन मौसम वैज्ञानिकों ने यह सूचना दी कि लखनऊ में हुई वर्षा में टैस्ट करने पर चाँदी के कण निकले। सर्वश्री आदर्श कुमार, डी०के० गोयल, एवं बी० के० हाण्डा, ने यह भी कहा कि उस सैम्पिल में चाँदी के अतिरिक्त काफी परिमाण में लिथियम, ताँवा, जस्ता और कोबाल्ट भी पाया गया। आगे यह भी बताया कि 1976 के बाद से तो लखनऊ में हुई वर्षा में चाँदी की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इस परिप्रेक्ष्य में यज्ञ द्वारा खनिज सम्पदा में वृद्धि सम्भाव्य ही है।

2. उसी पत्रिका के 22 फरवरी 80 के अंक में—

नरोरा स्थित आणविक संस्थान के इंजीनियर परमहंस तिवारी ने अपनी खोजों के आधार पर सिद्ध किया है कि आकाश खाली जगह का नाम नहीं है। उसमें एक ओर तो प्रभावशाली, वर्षणरहित गतिवान फ्लूइड के परमाणु हैं और दूसरी ओर सृष्टि के हर तत्त्व के मूल कारण रूप अणु भी हैं। प्रथम से अमेरिका को कैलिफोरनिया यूनीवर्सिटी से डा० बसई देपालमा ने बिजली प्राप्त करने का जनरेटर बनाया है और द्वितीय से पृथ्वी को हरेक तत्त्व के पदार्थ अर्थात् सोना व अन्य धातुएँ बनायी जा सकती हैं।

बाहरी अन्तरिक्ष में जीवन की खोज पर अमेरिका में एक संस्था और कार्यरत है, उसका नाम है Society for extra territorial intellegence (Ste-I)

O. B. E. (OUT OF BODY EXPERIENCE)

आत्मा अपने इस शरीर को छोड़कर अन्यत्र विचरण करने हेतु चली जावे। इस सन्दर्भ में शंकराचार्य के जीवन का एक प्रकरण इस देश में बहुत प्रचलित है कि यौवनीय काम का प्रभाव अनुभव करने हेतु वे यह शरीर छोड़कर किसी परकीय काया में प्रवेश किये थे। सम्भवतः आत्मा का एक अंश ही इस भाँति जाता होगा अन्यथा प्रथम शरीर तो शववत हो जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में डा० रेमण्डमूडी ने अपनी पुस्तक 'लाइफ आफ्टर डैथ' में एक परीक्षण की रिपोर्ट दी थी जो एक व्यक्ति पर किया गया था। इसमें एक व्यक्ति जो मरणासन्न था, उससे इण्टरव्यू लिया गया था। फिर वह मृत घोषित कर दिया गया और विधि-विधान से वह फिर जीवित पाया गया। उससे अन्तराल के दृष्ट विवरण पूछे गये। उसने द्रुतगति से ऊपर उठना, फिर आकाश में तैरना, फिर आनन्दानुभूति के अनुभव बताये।

सोते में मनुष्य का उठ खड़ा होना, घूम फिर आना, फिर आकर सो जाना, और निद्रा भंग होने पर उठकर इस बीच हुई सब बातों से अनभिज्ञता प्रकट करना, इस प्रकार के ओ० बी० ई० अनुभवों का प्रथम सोपान लगती है। आगे आनेवाली घटनाओं का पूर्वाभास दूसरी सोपान लगती है।

इस ओ० बी० ई० के विषय पर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के डायरेक्टर सोसिल ने भी प्रयोग किये हैं। उन्होंने ऐसे कई व्यक्तियों की यात्राओं का विवरण दिया है। दुर्भाग्यवश वह मैटर सारा निदेशकजी कहीं रखकर भूल गये हैं। पर कैलीफोरनिया विश्वविद्यालय के पैरासाइकोलोजी विभाग के डाक्टर इयाल स्टीवेंशन ने भारत आकर एक प्रकरण पर पूरी खोज की थी। इससे गिरधारी लाल जाट की आत्मा का शंकरलाल त्यागी के पुत्र सोमनारायण की काया (या आत्मा) में अस्थायी रूप से प्रवेश हो जाना सिद्ध हो गया था। इन सब प्रकरणों से आत्मा का दूसरे लोकों में विचरण स्पष्टतः सिद्ध है।

उल्कापात (METEROIDS) पर अन्वेषण

दक्षिणी पश्चिमी फ्रांस के ओरजेनिल नगर में 1864 में गिरे भारी ठोस द्रव्य का विश्लेषण (एनालिसिस) किया गया। और फिर 1938 में तन्जानिया देश में गिरे विशाल मीटराइड पर कई वैज्ञानिकों ने अमेरिका में खोजबीन की। इनमें जार्ज क्लाज, वार्टनागी, हान्सडीटर तथा प्लग मुख्य थे। इन सभी विश्लेषणों में यह पाया गया कि इनमें जीवनोपयोगी पदार्थ विद्यमान थे। यहाँ तक कि उनमें हाईड्राकार्बन-जन्य आरगेनिक पदार्थ भी मिले। इससे भी स्पष्ट है कि जहाँ से यह उल्का कण आये वहाँ जीवन अवश्य होगा।

मुक्ति प्रकरण

और अन्त में मोक्षधाम पर भी शोध में विवेचना की गयी है। मुक्ति युग-युगान्तर से मानव मात्र का अन्तिम पाथेय रहा है। जीवन के जन्म-मरण से छुटकारे के सन्दर्भ में जीव की अक्षम अमरता के सिद्धान्त का अपक्षय ही होता है। मोक्ष जीव की स्थिति है या कोई स्थान है, जहाँ वह जाकर निवास करता है। और वह सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर रहित स्थिति सदा सर्वदा के लिए है या अस्थायी है। कठोपनिषद ने स्वर्ग और मोक्ष को पृथक् बताया है, जिनका ज्ञान क्रमशः दूसरे और तीसरे वरदान में माँगा गया था।

वेदों में तो संज्ञा रूप में मोक्ष शब्द आया नहीं है। क्रिया के रूप में मुक्षीय शब्द अवश्य आया है। बन्धन वेदों में तीन प्रकार के तथा न्याय दर्शन 4/1/59 में चार प्रकार के बताये हैं। बन्धन-मुक्त का जो धाम है वह निरन्तर प्रकाशशील व सुख-सम्पन्न है। (ऋ० 9/113/7) वहाँ तृप्ति है, आनन्द है तथा सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं; तथा यदृच्छा पदार्थ अन्य तृप्ति हस्तामलकवत उपलब्ध हैं। (शतपथ काण्ड 14) कुरान व बाइबिल में बहिश्त का आकर्षक वर्णन छान्दोग्य 8/12/3 से गया प्रतीत होता है।

और मुक्ति चूंकि अर्जित फल है, अतः उसका असीमित फल नहीं हो सकता है। वहाँ से लौटना अनिवार्य है। अन्यथा वह वन-वे-ट्रैफिक कब तक चलेगा? किसी दिन यह विस्तृत लोक-लोकान्तर जीव-विहीन न हो जावे और मोक्ष में जनसंख्या का बाहुल्य हो जावेगा। वैदिक शास्त्रों ने इस मुक्ति का समय ब्रह्मा के वर्ष अर्थात् 432 000 000 000 चन्द्रवर्ष नियत किया है। इसके बाद अपनी इच्छानुसार मुक्त जीव जन्म लेता है। जन्म के समय के अनुसार ही उसका उस जन्म का सुख-दुख निश्चित होता है। इस प्रकार जीव की सतत अमरता और कर्मानुसार पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

अध्याय 5

उपसंहार

उपसंहार में इस अन्वेषण से जीव की अमरता सिद्ध होने पर उपलब्ध लाभ—

1. मृत्यु के भय से मानव जाति की उन्मुक्ति क्योंकि उसे आगामी जीवन का प्रवेश द्वार समझा जावेगा।
2. मृत्यु उपरान्त बने रहनेवाली चेतना का रोग कष्ट से रहित सिद्ध होने पर भविष्य जीवन के स्वस्थ बने रहने से आश्वस्त होना।
3. निकटतम सम्बन्धी के दिवंगत होने पर दुःख व क्लेश का अपहरण, क्योंकि वह तो पुनः कहीं प्रकट होकर बाल्यावस्था एवं यौवन पुनः प्राप्त करेगा।
4. मृत्यु को अपवित्र मानने के भाव का समाज से मिटना और सूतकादि तथा तज्जन्य क्लेश का अन्त।
5. कतिपय असत्य साम्प्रदायिक मान्यताओं का अन्त। शुद्धि, तेरहवीं, तर्पण, वर्षी आदि के अपव्यय से हिन्दू समाज का बचाव।
6. यह भाव जागने पर कि मेरी आत्मा और मन बने ही रहेंगे, मनुष्य में यह भाव जागृत होगा कि उसकी अपनी भावनाएँ और उद्वेग ही इस जीवन में उसकी मानसिक प्रसन्नता और परिपक्वता के कारण बनेंगे।
7. सम्भवतः कभी दिवंगत पर पुनः न उत्पन्न आत्माओं से सम्पर्क का कोई यान्त्रिक मार्ग निकल आवे और युग-युग का संचित ज्ञान उपलब्ध हो सके।
8. हर व्यक्ति समझेगा कि वह इस विशाल सृष्टि का नागरिक है और तब अन्तर्जातीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव पनपेगा।
9. कर्मफल के सिद्धान्त के कारण मनुष्य पापरत न होगा और चरित्रमय तथा स्थिर समाज का निर्माण होगा।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में इन्द्र देवता का अध्ययन

शोधकर्ता—कामजित
निर्देशक—डॉ० सत्यव्रत राजेश
वर्ष—1987

शोध की दिशा तथा शोधप्रबन्ध का सारांश

इन्द्र देवता कलेवर तथा महत्व दोनों ही दृष्टियों से वेद का एक प्रमुख देवता है। चारों वेदों में इन्द्र के मूल मन्त्र तथा सहचारी देवों के साथ स्तुतिवाले मन्त्र कुल मिलाकर लगभग पाँच सहस्र हैं, जो वेदों की सम्पूर्ण मन्त्रसंख्या का लगभग चतुर्थांश होता है। वैदिक इन्द्र पर प्राचीनकाल से ही विचार होता रहा है और आधुनिक युग के भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पर अपनी लेखनी उठायी है। इस पर कतिपय शोध निबन्ध भी लिखे गये हैं। तथापि अब तक जो कुछ कार्य हुआ था वह कार्य या तो इन्द्र के वर्णनों एवं इन्द्र की गाथाओं का संकलन था, अथवा इन्द्र के कुछ वैदिक वर्णनों को आकाशीय विद्युत् या सूर्य के पक्ष में घटाया गया था, अथवा इन्द्र को किसी प्राकृतिक शक्ति का अभिमानी देवता स्वीकार करके वेदमन्त्रों का भाष्य कर दिया गया था। इन्द्र देवता पर व्यापक दृष्टिकोण से लेखनकार्य प्राय: नहीं हुआ था।

वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में 19वीं ईस्वी शती के वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती की एक विशेष देन है। उनसे पूर्व अधिकांश वेदभाष्यकारों के भाष्य प्रायः कर्मकाण्डपरक थे, जिससे यह भ्रान्ति होती थी कि वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। दयानन्द के अर्थ प्राय: सभी वेदार्थ-प्रक्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए किये गये हैं। वे वेदों में गूढ़ अध्यात्मविद्या के साथ-साथ सृष्टिविद्या, पृथिव्यादि-लोकभ्रमणविद्या, गणितविद्या, नौविमानादिविद्या, विद्युद्विद्या, वैद्यकविद्या, राजनीतिविद्या, यज्ञविद्या, कृषिविद्या, शिल्पविद्या, अध्ययनाध्यापनविद्या आदि विविध विद्याओं को स्वीकार करते हैं। वेदों में जो इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि,

वायु, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु आदि विभिन्न देव वर्णित हैं, उन्हें भी दयानन्द ने एक नवीन रूप में देखा है। उन्होंने अपने वेदभाष्य में इन्द्रदेवताक मन्त्रों की जो व्याख्याएँ की हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार वेदों में इन्द्र देवता परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, राजा, सेनापति, अमात्य, न्यायाधीश, सभापति, योद्धा, अध्यापक, उपदेशक, विद्वान, सूर्य, विद्युत्, वायु, गृहपति, वैद्य, कृषक आदि अर्थों का वाचक है, तथा वेदों में इन सभी के कर्तव्य-कर्मों या गुण-धर्मों का उपदेश किया गया है। दयानन्द ने वैदिक देवों को इस प्रकार व्यापक रूप में ग्रहण करने के सूत्र स्वयं वेद से तथा ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त आदि प्राचीन साहित्य से प्राप्त किये थे।

दयानन्द के वेदभाष्य पर कई लोगों की ओर से यह आपत्ति उठाई जाती है कि उसमें इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण आदि देवों के मनमाने अर्थ कर लिये गये हैं। परन्तु अनुसंधान से यह ज्ञात होता है कि वैदिक देवों के दयानन्दकृत अर्थ प्रमाण-परिपुष्ट हैं। कतिपय अर्थों के लिए उन्होंने स्वयं वेद, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र का अर्थ वायु करते हुए उन्होंने वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ के निम्न प्रमाण दिये हैं।

०विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। ऋग्. 1/14/10

(द्रष्टव्य, ऋग्वेदभाष्य 1/3/6, 15/1)

०यो वे वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः। श. ब्रा. 4/1/3/19

(द्रष्टव्य, ऋग्वेदभाष्य 1/21/1)

दयानन्द की इसी शैली से निर्देश पाकर हमने इन्द्र के दयानन्दकृत प्रायः सभी अर्थों के लिए परिश्रमपूर्वक वेद, ब्राह्मणग्रन्थ आदि से प्रमाण खोजकर लिखे हैं। यह इस शोधपत्र की एक विशेष देन समझी जा सकती है।

वेदों की प्रतिपादन-शैली ऐसी नहीं है कि किसी एक विषय के सभी मन्त्र एक स्थान पर रख दिये गये हों। इसीलिए दयानन्द के वेदभाष्य में भी ऐसा नहीं हो सका है कि परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव, राजप्रजाकर्म, शिक्षा, शिल्प, वर्णव्यवस्था आदि सब विषय पृथक्-पृथक् व्यवस्थित रूप में किसी एक स्थान पर प्रतिपादित हुए हों। किसी विषय का निरूपण करने के लिए इन्द्र देवता के सभी मन्त्रों एवं उनके भाष्य को देखना तथा नियमानुसार विभाजन करके पृथक्-पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत लिखना आवश्यक होता है, जो पर्याप्त जटिल कार्य है। तथापि प्रयास-पूर्वक यह कार्य करके तदनुसार शोध प्रबन्ध में विभिन्न अध्यायों को निर्धारित कर प्रत्येक विषय में पुष्कल सामग्री देने का यत्न किया गया है।

स्वामी दयानन्द ने प्रत्येक मन्त्र के भाष्य में यह क्रम रखा है कि सर्वप्रथम वे मन्त्रार्थभूमिका अर्थात् एक-डेढ़ पंक्ति में मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय संस्कृत-भाषा में आर्यभाषानुवाद सहित लिखते हैं। तत्पश्चात् सस्वर मन्त्रपाठ तथा उसका सस्वर पदपाठ देते हैं। तदनन्तर मन्त्र में जिस क्रम से पद आते हैं उसी क्रम से उनका

संस्कृत-पदार्थ लिखते हैं। फिर अन्वय पृथक् से दर्शाते हैं। उसके बाद संस्कृत में भावार्थ लिखते हैं। इसके बाद आर्यभाषा में अन्वयक्रम से ढाला हुआ पदार्थ तथा संस्कृत-भावार्थ का आर्यभाषानुवाद देते हैं।

तथापि प्रस्तुत दयानन्द-भाष्य अनेक स्थलों पर अत्यन्त अस्पष्ट एवं दुर्बोध है। भाष्य की आर्यभाषा पण्डितों की बनायी हुई है, वह भी अधिकांश महर्षि के शरीरांत के पश्चात् बनी है, जिसे महर्षि संशोधित नहीं कर सके। वह कई स्थानों पर संस्कृत भाष्य से मेल नहीं खाती है और कई स्थलों पर इतनी दुर्बोध है कि उसका कुछ अभिप्राय हृदयंगम नहीं होता। संस्कृत-पदार्थ भी अन्वयानुसारी न होने से उसका तात्पर्यार्थ समझ पाना कठिन होता है। दयानन्द भाष्य के शोधकर्ता के सम्मुख इस प्रकार की अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। तथापि बड़े धैर्य और परिश्रम के साथ हमने इन्द्रदेवताक मन्त्रों के दयानन्द-भाष्य के मर्म में प्रवेश करने का प्रयास किया है। प्रत्येक अध्याय में प्रतिपादित विषय संक्षेपतः निम्न प्रकार है।

प्रथम अध्याय—यह अध्याय प्रवेशात्मक है। वैदिक देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रचलित अभिमानिदेवतावाद, भौतिकवाद, अध्यात्मवाद आदि को दर्शाकर वेदार्थविषयक अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ, ऐतिहासिक आदि प्रक्रियाओं का निरूपण किया है। तदनन्तर दयानन्द से पूर्ववर्ती भाष्यकार स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, उवट, भट्टभास्कर, माधव, सायणाचार्य, भरतस्वामी, महीधर आदि किस दृष्टिकोण से अपने-अपने वेदभाष्य करते रहे हैं, इसका उल्लेख कर वेदार्थ के सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों के प्रयत्न का दिग्दर्शन कराया गया है। फिर स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषताओं के प्रसंग में वैदिक देव-देवियों के स्वरूप-निर्धारण, मन्त्रों की अनेकार्थक व्याख्या, वेदों में लौकिक इतिहास का निषेध, पूर्वकृत विनियोगों से स्वतन्त्र व्याख्या आदि का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय—ब्राह्मणग्रन्थकारों ने तथा निरुक्तकार यास्काचार्य ने वैदिक इन्द्रदेवता के सम्बन्ध में जो उद्भावनाएँ या स्थापनाएँ की हैं, उनका वर्णन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के सन्दर्भ उद्धृत करते हुए यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मणकारों के मत में वैदिक इन्द्र यज्ञ में आह्वनीय अग्नि, यजमान या उद्गाता है, अन्तरिक्ष में वायु है, द्युलोक में आदित्य है, शरीर में प्राण, मन और वाणी है, समाज में ब्राह्मण है, राष्ट्र में राजा है। निरुक्त में प्रतिपादित इन्द्र के स्वरूप पर विचार करते हुए इन्द्र के निर्वचनों का स्पष्टीकरण इन्द्र के कर्म, इन्द्र-वृत्र-युद्ध, इन्द्र द्वारा तीस सरोवरों का पान, इन्द्र-अगस्त्य-संवाद, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में यह भी दर्शाया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ तथा निरुक्त के संकेत दयानन्द की भाष्यशैली के लिए बहुमूल्य सिद्ध हुए हैं।

तृतीय अध्याय—इन्द्र की परमेश्वरवाचकता पर प्रकाश डाला गया है। इन्द्र का परमेश्वर अर्थ होने में प्रमाण देकर, इन्द्र शब्द के निर्वचन को परमेश्वर पक्ष में संगति दर्शाकर, दयानन्द भाष्य में परमेश्वर-पक्ष में व्याख्यात इन्द्र के विशेषणों तथा उनसे सूचित होनेवाले परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर स्वामी दयानन्द ने इन्द्र देवता के मन्त्रों का परमेश्वर पक्ष में अर्थ करते हुए उसे परमेश्वर का स्वरूप, महत्व आदि अपने वेदभाष्य में प्रकाशित किया है, उसका सप्रमाण विवेचन है।

चतुर्थ अध्याय—इन्द्रदेवताक मन्त्रों के भाष्य में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित विस्तृत राजधर्म का निरूपण इस अध्याय में किया गया है। इन्द्र का राजा अर्थ करने में प्रमाण, इन्द्र के निर्वचनों को राजा पक्ष में चरितार्थता एवं इन्द्र के विशेषणों से सूचित राजा के गुणों का प्रारम्भ में वर्णन है। तदनन्तर प्रजा द्वारा कैसे मनुष्य को राजा चुना जाना चाहिए, यह दर्शाते हुए राजा के कतिपय विशिष्ट गुणों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में अमात्यों की योग्यता और अधिकार, राज्यकर्मचारियों की योग्यता, न्याय-व्यवस्था, राजदण्ड, कर-व्यवस्था, व्यापार, शिल्पविद्या के विकास, बिमानादि के निर्माण और प्रयोग, सेनापति की योग्यता, सेना-संगठन, युद्ध-नीति, शत्रु-विजय, चक्रवर्ती राज्य आदि राजनीति के महत्त्वपूर्ण विषयों का भी दयानन्दकृत वेदभाष्य के अनुसार प्रतिपादन किया गया है।

पंचम अध्याय—महर्षि दयानन्द ने अनेक वेदमन्त्रों में इन्द्र के अर्थ विद्वान्, अध्यापक, उपदेशक आदि लेकर बड़े विस्तार से शिक्षा विषयक सभी आवश्यक तत्त्वों को प्रदर्शित किया है, जबकि इस विषय में पूर्ववर्ती वेदभाष्यों से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। कोई भी राष्ट्र ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से ही उन्नति कर सकता है, यह दयानन्दभाष्य से स्पष्ट हो जाता है। राजा द्वारा विद्या एवं धर्म के प्रचारार्थ विद्वानों की नियुक्ति, विद्वानों का यथोचित सत्कार, अध्यापक और उपदेशक पद पर नियुक्त होने की आवश्यक योग्यता, अध्यापक एवं उपदेशकों के कर्तव्य, शिक्षक और शिष्य का पारस्परिक व्यवहार आदि महत्त्वपूर्ण विषय इस अध्याय में चर्चित किये गये हैं, जो आज की शिक्षा समस्याओं पर भी उत्तम समाधान प्रस्तुत करते हैं।

षष्ठ अध्याय—यह अध्याय दयानन्द के वेदभाष्यों में इन्द्र देवता से सूचित अन्य विविध विधियों से सम्बन्ध रखता है। सर्वप्रथम इन्द्र का सूर्य अर्थ दर्शाते हुए सूर्य द्वारा लोकों के धारण, वृष्टिकर्म, काल-संविभाग, सूर्य की स्थिरता, सूर्य के शिल्पविद्या में प्रयोग आदि वेदोक्त विषयों का प्रतिपादन है। तदनन्तर स्वामी दयानन्द ने इन्द्र का अर्थ विद्युत् लेकर उसके द्वारा भूयानों, जलयानों, विमानों एवं अन्य विविध कलायन्त्रों को चलाने तथा विद्युत् से चलनेवाले शस्त्रास्त्रों

को बनाने का मन्त्रार्थों में जो वर्णन किया है, उसका निरूपण है। इन्द्र का वायु अर्थ करते हुए वायु की सामान्य एवं वैज्ञानिक विशेषताएँ जो दयानन्द-भाष्य में वर्णित हैं, उनका भी दिग्दर्शन है। इन्द्र देवता से सूचित गृहस्थ धर्म का प्रतिपादन करते हुए स्वयंवर-विवाह, पति-पत्नी की योग्यता, उत्तम सन्तान, पति-पत्नी के व्यवहार आदि पर प्रकाश डाला गया है। इन्द्र के दयानन्द-प्रदर्शित जीवात्मा, वैद्य, धनिक, कृषक आदि अर्थों द्वारा इनके कर्तव्यों का भी प्रतिपादन है।

सप्तम अध्याय—महर्षि ने अपने वेदभाष्य में कतिपय इन्द्रदेवताक मन्त्रों में श्लेषालंकार से इन्द्र के एकाधिक अर्थ करते हुए द्व्यर्थक या बह्वर्थक व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं। यथा इन्द्र के कहीं परमेश्वर और सूर्य, कहीं परमेश्वर और वायु, कहीं परमेश्वर और विद्युत्, कहीं परमेश्वर, वायु और सूर्य, कहीं परमेश्वर, सूर्य, अग्नि, प्राण और वायु, कहीं परमेश्वर और विद्वान् पुरुष, कहीं परमेश्वर और सभासेनाध्यक्ष राजा, कहीं परमेश्वर और सेनापति, कहीं विद्वान् पुरुष, सेनापति और सूर्य, कहीं राजा और अध्यापक दो-दो, तीन-तीन या अधिक-अधिक अर्थ किये हैं। वेदमन्त्रों की अनेकार्थक व्याख्याएँ यास्काचार्य आदि ने भी की थीं, परन्तु दयानन्द की जैसे अन्य वैदिक विषयों में उल्लेखनीय देन है वैसे ही वेदों की अनेकार्थता के प्रतिपादन में भी है, क्योंकि उन्होंने श्लेषालंकार का प्रयोग अपने वेदभाष्य में जितना किया है उतना अन्य किसी आचार्य ने अब तक नहीं किया था। दयानन्द की इस अनेकार्थक योजना को इस अध्याय में दर्शाया गया है।

अष्टम अध्याय—प्रमुख वैदिक देवों इन्द्र, अग्नि आदि की वेदों में जैसे स्वतन्त्र स्तुति मिलती है, वैसे ही क्वचित् इनकी किन्हीं सहचारी देवों के साथ भी स्तुति पाई जाती है। इन सहचारी देवों को ही निरुक्तकार ने संस्तविक देव कहा है। निरुक्त के अनुसार इन्द्र के संस्तविकदेव अग्नि, सोम, वरुण, पूषन्, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु हैं; अतः वेद में इन्द्राग्नी, इन्द्रासोमा, इन्द्राकुत्सा, इन्द्राविष्णु और इन्द्रवायु के रूप में इन्द्र को सहचरित स्तुति उपलब्ध होती है। इन्द्राग्नी का अर्थ दयानन्दभाष्य में वायु-वह्नि, प्राण-विद्युत्, वायु-विद्युत्, अध्यापक-उपदेशक, विद्यार्थी-अध्यापक, सभापति-सेनापति आदि किया गया है। इन्द्रवायु से महर्षि दयानन्द सूर्य-पवन, अग्नि-पवन, विद्युत्-पवन, अध्यापक-उपदेशक, राजा-सेनापति, राजा-राजमन्त्री, योगोपदेष्टा-योगाभ्यासी आदि अर्थ लेते हैं। इन्द्रावरुणी के सूर्य-चन्द्रमा, अग्नि-जल, वायु-जल, राजा-अमात्य, राजा-सेनापति एवं राजा-प्रजा अर्थ किये गये हैं। इन्द्रा बृहस्पति से स्वामी जी राजा-प्रधानमन्त्री और राजा-उपदेशक अर्थ ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार अन्य युगलों के भी विभिन्न अर्थ दृष्टिगत होते हैं। इन सबका सोदाहरण अध्ययन इस अध्याय में किया गया है।

नवम अध्याय—उपसंहार रूप में इन्द्र से सम्बद्ध कतिपय अवशिष्ट विषयों

पर इस अध्याय में विचार किया गया है जो इस प्रकार हैं—इन्द्र का जन्म, इन्द्र के शत्रु, इन्द्र का सोमपान, जलों के झाग से नमुचि का वध, दधीचि की हड्डियों से वृत्र-संहार, इन्द्र के हरि। अन्त में इन्द्रदेवताक मन्त्रों के भाष्य में दयानन्द की जो विशिष्ट देन हैं, उनका संक्षेप में परिचय दिया गया है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से जो महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली की उज्ज्वल गरिमा एवं वेदार्थ के सम्बन्ध में एक नवीन दिशा के सूत्रपात की झाँकी मिलती है, वह वेद के विद्यार्थी और शोधकर्ता को अवश्य चमत्कृत करेगी तथा महर्षि दयानन्द युग-युग तक वेदार्थ में प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते रहेंगे, ऐसी हमारी आशा है।
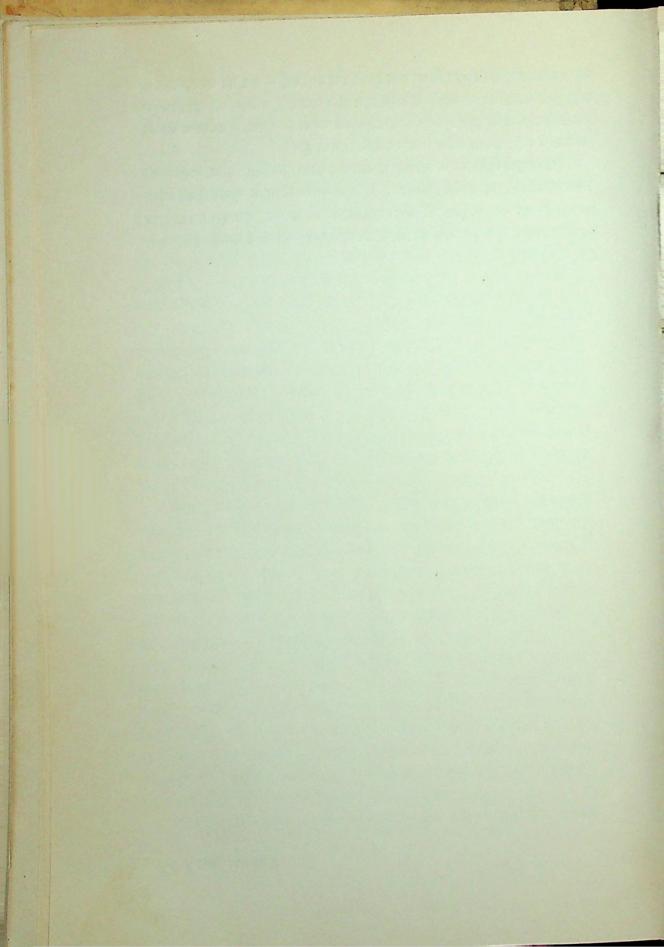
संस्कृत विभाग के शोध कार्य

शोध छात्र / छात्रा	विषय, निर्देशक, वर्ष
1. राम चैतन्य	ऋग्वेद में उपसर्ग, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, 1974
2. रमेशदत्त शर्मा	आचार्य रामानुज तथा महर्षि दयानन्द की दार्शनिक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० अभेदानन्द भट्टाचार्य, 1975
3. सुवीरनाथ शास्त्री	त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू काव्य—एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, 1975
4. सुदर्शन देव	शिक्षा-वेदांग का अध्ययन, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, 1975
5. रामवीर शास्त्री	शंकर और रामानुज के गीताभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० निगम शर्मा, 1975
6. भारतभूषण विद्यालंकार	आथर्वणिक राजनीति, डॉ० निगम शर्मा, 1976
7. बुद्धदेव शर्मा	कालिदास और भवभूति के काव्यबिम्बों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० रामकृष्ण भट्ट, 1976
8. रामप्रकाश शर्मा	न्यास और पदमञ्जरी के विवरणों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० बुद्धदेव शर्मा, 1977
9. वीरदेव	महाकवि विल्हण : एक अध्ययन, डॉ० निगम शर्मा, 1977
10. सत्यव्रत राजेश	महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप, डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, 1977

11. नीराजना शर्मा	वैदिक सोम का समीक्षात्मक अध्ययन, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड और डॉ० निरूपण विद्यालंकार, 1977
12. रणवीर	याज्ञवल्क्य स्मृति के दायभाग का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, 1979
13. अंजलि ओझा	भवभूति के पात्रों में स्वात्म प्रक्षेपण, डॉ० निगम शर्मा, 1979
14. देवकेतु	क्षत्रपति चरितं महाकाव्यम्—एक अध्ययन, डॉ० कृष्णकुमार, 1982
15. वीनारानी	भास और कालिदास के कथात्मक कल्पना बिम्बों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० निगम शर्मा, 1983
16. भगतसिंह	नारद, बृहस्पति और कात्यायन स्मृतियों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार, 1985
17. सुषमा स्नातिका	वृहत्रयी और लघुत्रयी पर वैदिक प्रभाव, डॉ० निगम शर्मा, 1986
18. केशवप्रसाद उपाध्याय	महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य के प्रथम दस अध्यायों का व्याकरण की दृष्टि से समालोचनात्मक अध्ययन, डॉ० रामप्रकाश शर्मा, 1986
19. राजकुमारी शर्मा	महर्षि दयानन्द के परिप्रेक्ष्य में महाभारत में निर्दिष्ट धर्मों व दर्शनों का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० निगम शर्मा, 1987
20. वसन्तकुमार	बाल्मीकि रामायण : एक परिशीलन, वेद प्रकाश शास्त्री, 1987
21. सुरेन्द्रकुमार	ऋग्वेद में प्रतिपादित विभिन्न विद्याओं का संकलन एवं विवेचनात्मक अध्ययन, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, 1987

ऋग्वेद में उपसर्ग

शोधकर्ता—राम चैतन्य
निर्देशक--डॉ० रामनाथ वेदालंकार
वर्ष—1974

व्याकरण के अनुसार पद पंच प्रकार के माने जाते हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात और कर्म प्रवचनीय। ऋग्वेद में प्रयुक्त समस्त पद प्रायः इन्हीं पाँचों भेदों में वर्गीकृत हो जाते हैं। इस प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उन पदों पर ही विचार किया गया है जो उपसर्ग के अन्तर्गत आते हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि उपसर्गों के योग के कारण धातु के अर्थ में वैशिष्ट्य आ जाता है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहार विहारपरिहारवत्॥

उपसर्ग अपने आप में अनर्थक हों या सार्थक, इस विषय में वैमत्य नहीं है कि क्रियायोग में उपसर्ग विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। ऋग्वेद में विविध उपसर्गों के प्रयोग से क्रिया में जो अर्थ-वैशिष्ट्य आता है उसका उद्घाटन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। अध्ययन-क्रम में यह भी अनुभव किया गया है कि ऋग्वेद में अनेक ऐसे भी उपसर्ग हैं कि विभिन्न अर्थों को व्यवस्थित करते हैं जो आज प्रायः लुप्त हो गये हैं।

वेदार्थ-प्रकाशन के लिए लौकिक संस्कृत सम्बन्धी अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है। अतः ऋग्वेद में कौन-कौन-सा उपसर्ग किस-किस धातु के साथ प्रयुक्त हुआ है और उसके योग से क्या-क्या विभिन्नता आयी है, इसका विचार वेदार्थ के अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी दिशा में एक प्रयास किया गया है।

वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद का विशिष्ट स्थान है। ऋग्वेद से जो भाषा सम्बन्धी तथ्य प्रकाश में आते हैं वे, कुछ अपवादों के साथ अन्य संहिताओं में भी

पाये जाते हैं। अतः ऋग्वेद में उपसर्गों के अध्ययन से अन्य संहिताओं का भी एतद्विषयक अध्ययन सुगम हो जाता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के रूप में उपसर्ग सम्बन्धी सामान्य बातों पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में उपसर्ग विषयक कतिपय विशिष्ट वैदिक नियमों का विवेचन किया गया है। जिन विषयों की चर्चा सूत्र रूप में की गयी है; ऋग्वेद को आधार बनाकर उनकी परीक्षा भी यहां की गयी है तथा समुचित परिणाम भी निकाला गया है। तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय तक प्र, परा आदि बीस उपसर्गों का क्रमशः अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक उपसर्ग ऋग्वेद में कहाँ-कहाँ आया है, उन प्रकरणों का संकलन भी किया गया है। कौन-सा उपसर्ग किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसकी गवेषणा भी की गयी है। अर्थानुसन्धान के लिए सायणभाष्य के अतिरिक्त वेंकट माधव, स्कन्द स्वामी आदि के भाष्यों का भी अनुशीलन किया गया है।

इस प्रकार उपसर्ग किस-किस धातु के साथ मिलकर किस-किस अर्थ को पुष्ट या स्पष्ट करता है, इसका उदाहरण के साथ विवरण प्रस्तुत किया गया है। अष्टम अध्याय में जो एक से अधिक उपसर्गों के सहप्रयोग मिलते हैं, उनका संकलन करके उनके अर्थों की विधिवत् मीमांसा की गयी है। अन्त में उपसंहार में, संक्षेप में यह दर्शाने की चेष्टा की गयी है कि ऋग्वेद में उपसर्गों का अध्ययन प्रस्तुत करके हम किस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। समग्र शोध-प्रबन्ध में निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है—

1. जो अर्थ ऋग्वेद में आते हैं, उन्हें ही दर्शाने की चेष्टा की गयी है। उनसे अन्य अर्थ भी सम्भव हैं। उत्तर संहिताओं में तथा इनसे भिन्न वैदिक-साहित्य में अन्य अर्थ प्राप्त भी होते हैं। किन्तु इस शोध-प्रबन्ध का क्षेत्र ऋग्वेद तक ही सीमित होने से उत्तरवैदिक साहित्य पर अधिक विचार नहीं किया गया है।

2. भाष्यकारों में प्रमाणरूप अधिकतर सायण को ही उपजीव्य बनाया गया है। इतर भाष्यकारों का मत वहीं उद्धृत किया गया है जहाँ वे सायण से भिन्नार्थ निर्देश करते हैं। इनमें भी स्कन्द, व्यंकट तथा उद्गीथ को प्रमुखता दी गयी है।

3. जो धातु-गण धातुपाठ में नहीं हैं, किन्तु निघण्टु या निरुक्त में उद्धृत हैं, उन पर भी चिन्तन किया गया है। धातुओं के अर्थ-निर्देश में भी धातुपाठों के अतिरिक्त अन्य स्थानों से [निरुक्त आदि से] प्रदर्शित अर्थों पर गवेषणा-बुद्धि से विचार किया गया है।

4. ऐसे भी धातु हैं जिनके अनेक अर्थ धातुपाठ में दिये गये हैं किन्तु ऋग्वेद में उनका एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। अतः उसी अर्थ का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जो उपलब्ध हो पाया है। वस्तुतः उस उपसर्ग के साथ अन्य अर्थ भी सम्भव

हैं क्योंकि ऋग्वेद में उस उपसर्ग के बिना भी धातु का अन्य अर्थों में प्रयोग अभीष्ट है और देखा भी गया है।

5. कई स्थल ऐसे भी आये हैं जहाँ धातु का मूलार्थ एक होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर दृष्टिगत होता है। ऐसे स्थलों पर पृथक्-पृथक् संख्या निर्देश कर दिया गया है।

6. किसी विशेष अर्थ में अनेक उदाहरणों की प्राप्ति होने पर प्रायः अधिक उदाहरण नहीं दिये गये हैं। बहुत से उपसर्ग अथवा धातु ऐसे भी हैं जिनके उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

7. ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर किसी धातु का छान्दस-रूप ही प्रयुक्त हुआ है, लोक में वह रूप नहीं बनता है। उसकी व्याकरण-प्रक्रिया कहीं-कहीं सायण के मतानुसार दे दी गयी है। विस्तार-भय का भी ध्यान रक्खा गया है। वहाँ-वहाँ पर छान्दस रूप की साधन-प्रक्रिया भाष्यों में उपलब्ध है।

8. कहीं-कहीं यह अनुशीलन सायण से भी विपरीत पड़ता है। ऐसी स्थिति में टिप्पणी में उनका मत उद्धृत कर दिया गया है जिससे उनका दृष्टिकोण भी स्पष्ट ज्ञात हो सके।

9. उपसर्गों के प्रदर्शित अर्थों के प्रमाणस्वरूप वेद मंत्रांश का उद्धृत कर दिया गया है और उनका सरल हिन्दी अनुवाद भी कर दिया गया है। कहीं आवश्यकतावश आवश्यक वक्तव्य भी दे दिया गया है।

10. प्रत्येक विवेचन से पूर्व उस-उस उपसर्ग के विषय में एक संक्षिप्त भूमिका दे दी गयी है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि सामान्य रूप से ऋग्वेद में उस-उस उपसर्ग की प्रवृत्ति किस प्रकार की है तथा उस-उस उपसर्ग का विविध धातुओं के साथ सम्पर्क होने पर क्या-क्या विशेषता पायी गयी है।

आचार्य रामानुज तथा महर्षि दयानन्द की दार्शनिक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—रमेशदत्त शर्मा
निर्देशक—डॉ० अभेदानन्द भट्टाचार्य
वर्ष—1975

आचार्य रामानुज की उत्तर भारत तथा दक्षिण-भारत में समान रूप से आदर और प्रतिष्ठा है। विशेषकर दार्शनिक-सम्प्रदाय में उनकी विशेष स्थिति है। रामानुज-सम्प्रदाय के वे प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। उनका भाष्य तथा विवेचना विस्मयजनक तथा आदरणीय है। ऋषि दयानन्द का महत्त्व भी एक संस्थापक-आचार्य के रूप में व्याप्त है।

इन दोनों महापुरुषों की मान्यताओं पर तुलनात्मक दृष्टि से प्रभावकारी प्रयास इस शोध-प्रबन्ध में किया गया है।

त्रिविक्रमभट्ट का नलचम्पू काव्य : एक आलोचनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—सुवीरनाथ शास्त्री
निर्देशक—डॉ० रामनाथ वेदालंकार
वर्ष—1975

संस्कृत साहित्य में महाकाव्य एवं नाटकों की तरह चम्पू का भी एक विस्तृत साहित्य है। चम्पू शैली या गद्य-पद्य मिश्रित शैली का मूल रूप वैदिक साहित्य में मिलता है, उसका विकसित स्वरूप शिलालेखों के बाद चम्पू काव्यों में प्रस्फुटित हुआ है। चम्पूकारों में आदिम चम्पूकार स्वनामधन्य श्रीत्रिविक्रम भट्ट हैं। उन्हें चम्पूकाव्य-निर्माण में वैसी ही सफलता मिली है, जैसी पद्यवर्णन या गद्यवर्णन में कालिदास एवं बाण को। त्रिविक्रम की कृतियाँ मदालसाचम्पू, नलचम्पू तथा इन्द्रराजप्रशस्ति प्रसिद्ध हैं। नलचम्पू में दमयन्ती की मंजुल कथा चित्रित की गयी है।

नलचम्पू की गद्य-पद्यमिश्रित वर्णन-परम्परा के सौन्दर्य का उद्घाटन करना तथा आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। अध्ययनक्रम में हमने यह अनुभव किया है कि नलचम्पू की चम्पूशैली अपने-आप में एक अद्भुत विशेषता को लिये हुए है। परन्तु आज तक इस चम्पू का गवेषणात्मक अध्ययन नहीं हो पाया था। इसी न्यूनता की पूर्ति के लिए यह विनम्र प्रयास है।

यह शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में चम्पू की परिभाषा, परम्परा और त्रिविक्रम का देश, काल, जीवनवृत्त, कृतियाँ आदि वर्णित हैं। द्वितीय अध्याय में शैली तथा काव्य के कलापक्ष पर विचार हुआ है। तृतीय अध्याय में कवि के प्रकृति-चित्रण की विशेषता प्रदर्शित की गयी है। चतुर्थ अध्याय में कतिपय इतर चित्रण हैं। पंचम अध्याय में रस भावादि की अभिव्यंजना और षष्ठ अध्याय में नलचम्पू के पात्रों का चरित्र चित्रण है। सप्तम अध्याय में काव्य की मनोरम सूक्तियों, उपदेश, संवादचारुता, कवि के व्यापक पाण्डित्य, कलाप्रेम,

समाज-चित्रण आदि पर प्रकाश डाला गया है। शोध-प्रबन्ध में जहाँ नलचम्पू की पृष्ठ संख्या दी गयी है, वह कैलाशपति त्रिपाठी द्वारा सम्पादित चौखम्बा प्रकाशन की समझनी चाहिए।

इस शोध-प्रबन्ध को लिखने में अपने पथ-प्रदर्शक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य एवं उपकुलपति तथा संस्कृत विभागाध्यक्ष पूज्यपाद डॉ० रामनाथजी वेदालंकार से जो मुझे बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है, तदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। इस शोध-प्रबन्ध को लिखने में मैंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का भरपूर उपयोग किया है। गुरुकुल के मान्य अधिकारियों ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की छात्रवृत्ति देकर मुझे उत्साहित किया, जिसके लिए मैं आभारी हूँ। महाराजा सार्वजनिक पुस्तकालय जयपुर का भी मैं आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने त्रिविक्रम की अनुपलब्ध कृति मदालसाचम्पू—मुझे अध्ययन के लिए प्रदान की। अनेक प्राचीन तथा आधुनिक आचार्यों के ग्रन्थों से मैंने इस प्रबन्ध को लिखने में सहायता ली है, जिनका उल्लेख, सहायक-ग्रन्थ सूची में कर दिया गया है। उन सबके प्रति भी मैं नतमस्तक होता हूँ।

शिक्षा-वेदांग का अध्ययन

शोधकर्ता—सुदर्शन देव
निर्देशक—डा० रामनाथ वेदालंकार
वर्ष—1975

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये छः वेद के अंग हैं, इसीलिए इन्हें वेदांग कहते हैं। ये अपने-अपने ढंग से वेद की व्याख्या करते हैं, वेद को समझाने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा वेदांग भी अपनी विधि से वेदार्थ को प्रकाशित करता है। जब तक कोई व्यक्ति शिक्षा वेदांग के प्रधान प्रतिपाद्य विषय वैदिक-वर्णमाला का अध्ययन नहीं कर लेता तब तक वह वेद के एक अक्षर को भी नहीं पढ़ सकता। अन्य वेदांगों का अध्ययन भी बिना शिक्षा-वेदांग के सम्भव नहीं। अतः शिक्षा-वेदांग समस्त पठन-पाठन का मल है। समस्त साहित्य की आधार-शिला है।

वास्तविकता यह है कि मनुष्य संसार में आते समय जन्मकाल में ही अव्यक्त ध्वनि का उच्चारण करता है। शिक्षा-वेदांग उसी दिन से प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि शिक्षा-वेदांग मनुष्य की अव्यक्त ध्वनि का विश्लेषण करता है कि अव्यक्त ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है और वह किस विधि से अकारादि तथा ककारादि वर्णों में परिणत हो जाती है। जब बालक अकारादि वर्णों के उच्चारण में समर्थ हो जाता है तब माता उसे उच्चारण-शिक्षण रूप शिक्षा-वेदांग पढ़ाती है एवं तत्पश्चात् पिता तथा आचार्य लोग उसे विधिपूर्वक शिक्षा-वेदांग की शिक्षा देते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा वेदांग का अध्ययन प्रत्येक नर-नारी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिससे वे अपने बालक-बालिकाओं को शुद्ध वर्णोच्चारण आदि की शिक्षा कर सकें।

आज संस्कृत भाषा का पठन-पाठन मन्द है। वेदों का अध्ययन-अध्यापन तो प्रायः बन्द ही होता जा रहा है। जब लक्ष्य शिथिल हो जाता है तब उसके साधनों में भी शिथिलता स्वाभाविक हो जाती है। शिक्षा-वेदांग आदि वेदाध्ययन के साधन हैं। आज समाज को वेदाध्ययन की ओर प्रवृत्त करने के लिए शिक्षा-वेदांग आदि

समस्त वैदिक साहित्य की व्याख्या लोक-भाषा में प्रस्तुत करना अनिवार्य है। यह शोध-प्रबन्ध इस दिशा में एक चरण है।

1. इस शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में इन विषयों का प्रतिपादन किया गया है—वेद के शिक्षादि छः अंग। शिक्षा वेदांग का उद्भव-विकास। शिक्षा वेदांग की परिभाषा। शिक्षा वेदांग के प्रवक्ता तथा प्रणेता अर्थात् जिन्होंने शिक्षा-वेदांग के प्रवचन और प्रणयन का पुण्य कार्य किया है उनका यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से स्मरण किया गया है, जिनके नाम यह हैं—ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, माध्यन्दिन, चन्द्रगोमी, गौतम, चारायाण, मण्डूक, गालव, आपिशलि, शिव, पाणिनि, कात्यायन, वसिष्ठ, पाराशर माण्डव्य, अमरेश, केशव, मल्लशर्मा, जयन्तस्वामी, रामकृष्ण, अनन्त देव, बालकृष्ण, रामचन्द्र, शम्भु मिश्र, नारद, लोमश (स्वामी दयानन्द तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक)।

2. मुझे जितने शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उनका द्वितीय अध्याय में संक्षिप्त परिचय दिया गया है। वे शिक्षा-ग्रन्थ ये हैं—याज्ञवल्क्य शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघनन्दिनी शिक्षा, लध्व-मोघनन्दिनी शिक्षा, माध्यन्दिनी शिक्षा, लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा, केशवी शिक्षा (सूत्रात्मक) केशवी शिक्षा (पद्यात्मक) मल्लशर्म शिक्षा, स्व-रांकुश शिक्षा, षोडशश्लोकी शिक्षा, अवसान निर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षण परि-शिष्ट शिक्षा, वेदपरिभाषासूत्र शिक्षा, वेदपरिभाषाकारिका शिक्षा, यजुर्विधान शिक्षा, स्वराष्टक शिक्षा, क्रमकारिका शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा, नारदीय शिक्षा, गौतमी शिक्षा, लोमशी शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा (सूत्रात्मक), आपिशलि शिक्षा, चन्द्रगोमी शिक्षा, शौनक शिक्षा।

भारतीय संस्कृति में नैतिक शिक्षा का बहुत ऊँचा स्थान है। इसके अभाव में शाब्दिक शिक्षा सर्वथा अधूरी है। अतः शिक्षा-ग्रन्थों में नैतिक-शिक्षा का उल्लेख किया गया है जिसको हमने इस अध्याय में वर्णन किया है। इसके कुछ शीर्षक इस प्रकार हैं—वेद-पाठ की विधि, विद्या का अभ्यास, निद्रा परित्याग, अधिक आहार का निषेध, गुरु-सेवा, ब्रह्मरूप गुरु, ब्रह्मज्ञान, उषावेला में जागरण, दन्तधावन, कर्म-महिमा, छः विद्या-विघ्न, अभ्यास महिमा, ज्ञान-अभिमान का त्याग, विद्या-प्राप्ति के छः उपाय, इत्यादि।

3. आज शिक्षा-वेदांग आदि पठन-पाठन की प्राचीन पद्धति लुप्त हो रही है और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति ही प्रचलित है। तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में प्राचीन शिक्षण पद्धति का परिचय दिया है। शिक्षा-वेदांग के मूल 'वर्ण' विषय का प्रति-पादन किया गया है। जैसे—वर्ण की परिभाषा, वर्ण-उपदेश का प्रयोजन; वर्ण-ज्ञान का फल, वर्णों की उत्पत्ति का प्रकार, वर्णों के शुद्ध प्रयोग की महिमा, वर्णों का देश, वैदिक वर्ण-माला का स्वरूप, शिक्षा-ग्रन्थों में वर्ण-माला का उपदेश, स्वरनिरूपण-

स्वर का लक्षण, स्वरों की ह्रस्वादि तीन संज्ञाएँ, स्वर और मात्रा, ऋ का स्वरूप, लृ का स्वरूप, व्यंजन-निरूपण-व्यंजन का लक्षण, व्यंजन के भेद, अन्त के भेद, व और य के तीन भेद, अयोगवाह निरूपण-विसर्ग का स्वरूप, विसर्ग की आठ गति, अनुस्वार का स्वरूप, चार यमों का निरूपण, स्वराष्टक शिक्षा में उपलब्ध 'अइउपा' आदि 14 प्रत्याहार-सूत्रों की व्याख्या।

4. वर्णों के शुद्धोच्चारण के लिए उनके कण्ठादि स्थानों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। अतः चतुर्थ अध्याय में इन विषयों का प्रतिपादन किया गया है—वर्णों के स्थान—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका, कण्ठ-तालु, कण्ठ-ओष्ठ, वर्णों के करण—जिह्वामूल, जिह्वामध्य, जिह्वोपाग्र, जिह्वाग्र, अधरोष्ठ, प्राण, वर्णों के अन्तःप्रयत्न-स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत, संवृत, वर्णों से बाह्य प्रयत्न-विचार, संवार, अल्पप्राण, महाप्राण। वर्णों के वायुपीड़न-अयः पिण्ड, दारुपिण्ड, ऊर्णापिण्ड, आदि। अकारादि स्वरों के भेद—18 प्रकार का अकार, 12 प्रकार का लृकार, 12 प्रकार का एकार, अनुनासिक के तुल्य : विसर्जनीय आदि अयोगवाहों के योग से निष्पन्न होनेवाली वैदिक वर्ण-माला की 565 ध्वनियों का तालिका द्वारा प्रतिपादन। भाषा-विज्ञान में जो ध्वनि विषय का अध्ययन चालू है उसका मूलाधार शिक्षा-वेदांग है।

5. वेदों में उदात्तादि स्वरों का बड़ा महत्त्व है। ये वेदार्थ के निरूपण में घोड़े की लगाम के तुल्य कार्य करते हैं। अतः शिक्षा-वेदांग में इनका शिक्षण दिया जाता है। पंचम अध्याय में इन उदात्तादि स्वरों का प्रतिपादन किया गया है जो इस प्रकार है—अकारादि स्वरों के उदात्तादि गुण—उदात्त और अनुदात्त का लक्षण, स्वरित का लक्षण, स्वरतिवर्ती उदात्त, एकश्रुति स्वर, शिक्षा-ग्रन्थों में उदात्तादि स्वर-विधान—उदात्तादि के वर्ण, देवता, ब्राह्मणादि जातियाँ, गोत्र, छन्द। षड्जाति का उदात्तादि में अन्तर्भाव, स्वरित के आठ भेद—जात्य, अभिनिहिता, क्षेप्र, प्रश्लिष्ट, तेरोव्यंजन, तेरोविराम, पादवृत, ताथाभाव्य, जात्यादि स्वरों का बलाबल, प्रचय स्वर पर विचार।

आज वेद-पाठ में हस्तचालन की पद्धति लुप्त होती जा रही है। शिक्षा-वेदांग के माध्यम से इसका प्रशिक्षण दिया जाता है। अतः इस अध्याय में याज्ञवल्क्य शिक्षा के आधार पर हस्तचालन विषय का दिग्दर्शन दिया गया है। यहाँ षड्जादि सात स्वरों का भी उल्लेख किया गया है।

6. मानव जीवन के वर्णों के उच्चारण का बड़ा महत्त्व है। माधुर्य आदि उच्चारण के अनेक गुण हैं, काकस्वर आदि उच्चारण के अनेक दोष हैं। मनुष्य उच्चारण-गुणों को अपनाये और दोषों का परिवर्तन करे। इसी सन्दर्भ में षष्ठ अध्याय में उच्चारण विषय का प्रतिपादन किया गया है जो इस प्रकार है—वेद-पाठ में वर्णों का उच्चारण। उच्चारण की द्रुतादि तीन वृत्तियाँ। स्वर-भक्ति

का स्वरूप, स्वरभक्ति के पाँच भेद—करिणी, कुर्विणी, हरिणी, हरिता, हंसपदा। पाठकों के छः गुण—माधुर्य, अक्षर व्यक्ति, पदच्छेद, सुस्वर, धैर्य, लयसमर्थ। गान के दस गुण—रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विक्रुष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार, मधुर। उच्चारण के दोष—शक्ति, भीत, उद्‌घृष्ट, अव्यक्त, अनुनासिक, काकस्वर, मूर्ध्निगत, विस्वर, विरस, विश्लिष्ट, विषमाहत, व्याकुल, तालहीन, स्थानविवर्जित, उपाशुदष्ट, त्वरित, निरस्त, विलम्बित, गदगदित, प्रगीत, निष्पीड़ित, ग्रस्तपक्ष-क्षर। स्वामी दयानन्द द्वारा व्याख्यात दोष-ग्रस्त, निरस्त, अविलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित, सन्दष्ट, एणीकृत, अर्द्धक, व्यंजनदोष—श का ष उच्चारण, च का ज उच्चारण इत्यादि। छः अधम पाठक—गीती, शीघ्री, शिरः-कम्पी, यथालिखित पाठक, अनर्थज्ञ, अल्पकण्ठ।

शिक्षा-ग्रन्थों में य का ज उच्चारण, र का सकार (ए-विशिष्ट) उच्चारण, ष का ख उच्चारण का विधान मिलता है। यहाँ उसका विस्तार से विवेचन किया गया है।

शिक्षा-ग्रन्थों में अनेक उपमाओं से वर्ण-प्रयोग की विधि को स्पष्ट किया गया है। जैसे—बाल सर्प का निःस्वास, मेघ और दुन्दुभि का घोष, भाद्रपद के मेघ, वानरों की उछल-कूद, कामलुब्ध कुक्कुट, नारी का बालचुम्बन, बड़वा की योनि, दुर्दुर का उदर प्रदेश, भाराक्रान्त नर, कामातुर नारी, गृध्र का पक्ष-वितान, व्याघ्री का पुत्र-हरण, लोहकार की धौंकनी, तपा हुआ लोह, पीपल का पत्ता, वानरों का युद्ध।

यदि किसी कारण से वर्णोच्चारण की विद्या लुप्त हो जाये तो इन उपमाओं की सहायता से उसे पुनः उद्‌बुद्ध किया जा सकता है। यहाँ रंग में उच्चारण विधि, रंग का स्वरूप, रंग के भेद आदि रंग-विषय का भी उल्लेख किया गया है।

7. वर्णों से पदों की उत्पत्ति होती है। जैसे वर्णों का ज्ञान अनिवार्य है वैसे ही पदों का परिज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है। अतः प्राति-शाख्य प्रदीप शिक्षा में पद विषयक विधान का विस्तृत प्रतिपादन किया है। जो इस प्रकार है—पद की परि-भाषा, पद के भेद, पदपाठ, अवग्रह-विधान, विवृत्ति के चार भेद—पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी, वत्सानुसृता, पदों के आद्युदात्त, द्विरुदात्त और अनुदात्त स्वरों का विधान, स्वरसन्धि, दीर्घत्वविधि, व्यंजनसन्धि, द्विर्वचन विधि, विसर्ग-सन्धि, षत्वविधि, णत्वविधि, व्यवहित विधान। पूर्वांग—परांग विधि।

इस प्रकार इस शोध-प्रबन्ध में शिक्षा-वेदांग के प्रधान तत्वों का यथाशक्ति प्रतिपादन किया गया है।

शंकर और रामानुज के गीताभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—रामवीर शास्त्री
निर्देशक—डॉ० निगम शर्मा
वर्ष—1975

भारतीय चिन्तन के विकास में गीता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदशास्त्रों व प्रमुख दार्शनिक विचारों का सार गीता में मिलने के कारण ही वह सर्वशास्त्रमयी कहलाती है। अनन्तर उपलब्ध होनेवाले समस्त शास्त्रीय वाङ्मय को अनुजीवन देने में भी गीता प्रमुख स्त्रोत रही है, इस प्रकार भारतीय समाज पर गीता के विचारों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है।

ऐसे गरिमामय ग्रन्थरत्न पर अनेक भाष्यों की रचना स्वाभाविक है। आचार्यत्व की प्रतिष्ठा के लिए गीता पर भाष्य लिखना एक प्रकार से अनिवार्य रहा है, स्यात् उस युग में अपने सिद्धान्तों की गीतानुकूलता सिद्ध किये बिना उन सिद्धान्तों को समाज में सम्मान दिलाना ही दुष्कर रहा हो। भाष्यकारों की इस परम्परा में आचार्य शंकर तथा आचार्य रामानुज का स्थान निर्विवाद रूप से प्रमुख है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में दोनों आचार्य दो विशिष्ट मतों के प्रतिष्ठापक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। शंकराचार्य अद्वैतमत के स्तम्भ हैं तो रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत मत के। यद्यपि दोनों आचार्य अपने गीताभाष्यों में भिन्न-भिन्न लक्ष्य पर पहुँचते हैं तथापि दोनों की तर्कपूर्ण विवेचना पद्धति इतनी गूढ़ है कि दोनों लक्ष्यार्थों में मूल गीता के अनुकूल कौन-सा अधिक है यह प्रश्न तो उठता है किन्तु उसके समाधान में कुछ कहने का साहस नहीं होता। वस्तुतः अध्यात्मविषयक विवेचना का यह क्षेत्र ही ऐसा है कि इसमें दो आचार्यों की तुलना अखाड़े में उतरे मल्लों की जय-पराजय के समान नहीं की जा सकती। यहाँ सामान्यतः दोनों आचार्यों की मान्यताओं को और विशेषतः उनके गीताभाष्यों को आज की भाषा में युगपत् स्पष्ट करने का प्रयास ही अपेक्षित है। आनन्दगिरि तथा वेंकटनाथ जैसे विद्वानों द्वारा विवेचित भाष्यों को अपने अध्ययन

का विषय बनाते हुए अपनी अल्पविषया मति का ध्यान अवश्य आता है किन्तु "मत्तवारणसंक्षुण्णे व्रजन्ति हरिणाः पथि" कविभणिति से उत्साहित होकर इस पथ पर अग्रसर हो रहा हूँ।

गीता को अध्ययन का विषय चुनने में व्यक्तिगत रुचि ही यद्यपि मुख्य कारण है तथापि इस विषय की सामाजिक उपयोगिता कम नहीं कही जा सकती। आज जबकि चारों ओर चिरन्तर मूल्यों के ह्रास की चर्चा है और हम नवीन मूल्यों की खोज में हैं, गीता एक प्रकाशस्तम्भ सिद्ध हो सकती है। मानव की जिस आध्यात्मिक उच्चता का वर्णन गीता करती है यदि समाज उसे लक्ष्य मानकर चले तो मुख्य संकट जैसी बात ही समाप्त हो जाये। आध्यात्मिक सूक्ष्मता को यदि गिने-चुने व्यक्तियों का ही विषय मान लें तो भी तिलक द्वारा प्रदर्शित गीता के कर्मसिद्धान्त की संवेदनोपयोगिता का निषेध नहीं किया जा सकता।

इस प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के रूप में गीता का बहिरंग विवेचन है। इस विवेचन में गीता के वर्तमान व्याख्या इतिहास, गीता के लेखक और काल का निर्धारण तथा उसकी विषयवस्तु प्रस्तुत की गयी है। गीता के वर्ण्य विषय का उपनिषदादि साहित्य से सम्बन्ध भी प्रदर्शित किया गया है। द्वितीय अध्याय में गीता-विषयक समस्त वाङ्मय पर विहंगम दृष्टि डालते हुए गीता के संस्कृत भाष्यों का विशेष परिचय दिया गया है। इन भाष्यों को व्याख्यासाम्यानुसार पृथक्-पृथक् श्रेणी में रखा गया है। तृतीय अध्याय में आचार्य शंकर के जीवन और व्यक्तित्व का परिचय देते हुए उनके अद्वैतमत का गीता-भाष्य पर क्या प्रभाव पड़ा है यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। चतुर्थ अध्याय में इसी प्रकार आचार्य रामानुज के जीवन और व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए उनके विशिष्टाद्वैत मत के सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है तथा इन सिद्धान्तों का उनके गीताभाष्य पर प्रभाव होने का विवेचन किया गया है। पंचम अध्याय में दोनों आचार्यों के भाष्यों के वैमत्य का विवेचन है। जिन श्लोकों पर आचार्यों ने विस्तारपूर्वक अपने मतों का प्रदर्शन किया है उनका सार देते हुए समीक्षा की गयी है। षष्ठ अध्याय में रामानुजाचार्य द्वारा किये गये शांकरमतखण्डन पर संक्षेप में लिखते हुए प्रबन्ध को उपसंहृत किया है।

इस प्रबन्ध के लेखन में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, बलदेव उपाध्याय, डा० काशीनाथ उपाध्याय, डा० राधाकृष्णन्, डा०राममूर्ति शर्मा तथा डा०गजानन श्रीपत खेर के ग्रन्थों से जो सहायता मिली है उसके लिए इन सब विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ। वस्तुतः तिलक जैसे विद्वानों ने गीता पर जो कार्य किया है उसकी सहायता के बिना आज के शोधार्थी का इस दिशा में प्रस्थान सम्भव नहीं है।

आथर्वणिक राजनीति

शोधकर्ता— भारतभूषण विद्यालंकार
निर्देशक—डॉ० निगम शर्मा
वर्ष—1976

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 'आथर्वणिक राजनीति' अथर्ववेद में वर्णित राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का चित्रण है। समाज और राजनीति परस्पर अन्योन्याश्रित है। इसलिए राजनीति का बिम्ब बिना आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के अधूरा होता है। इस तथ्य को दृष्टिगत करके प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सात अध्याय रखे गये हैं। इस शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत न केवल अथर्ववेद अपितु सम्पूर्ण वैदिक साहित्य और प्रसंगवश रामायण, महाभारत, स्मृतियों एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र को भी प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में वेदों का महत्व एवं उनकी संख्या तथा स्थिति पर संक्षिप्त विचार करके अथर्ववेद के बारे में विद्वानों की मान्यताओं, उसकी महत्ता, उसके यज्ञ सम्बन्धी उपयोग के साथ ही विभिन्न नामों, उनके कारणों एवं अथर्ववेद के परिमाण पर भी विद्वानों के मतभेद को प्रदर्शित किया गया है। अथर्ववेद से सम्बन्धित साहित्य का भी नामोल्लेख किया गया है जिसके द्वारा अथर्ववेद के कर्मकाण्ड पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

भारतीय ऋषियों ने नीति एवं राजनीति को सर्वथा पृथक् नहीं समझा। राजनीति को भी नीति पर आधारित किया गया है। राजनीति के महत्त्व को भी प्रदर्शित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में राज्य की उत्पत्ति पर विचार किया गया है। प्रारंभ में मात्स्यन्याय से अभिभूत जन अपनी सुरक्षा की दृष्टि से परिवार के छोटे-छोटे समूहों में बँट गये। जब ये परिवार समूह एकत्र हुए तो ग्रामों की रचना हुई, ग्रामों से जनपद, जनपदों से मण्डल, मण्डलों से राज्य की उत्पत्ति हुई। राज्य में राष्ट्रीयता की

भावना उत्पन्न करने के लिए भूमि को मातृत्व प्रदान किया गया। इस भूमि को राष्ट्र के भूत एवं भविष्य का रक्षक कहा गया है। राज्य को लोक कल्याणकारी बनाये रखने पर विशेष ध्यान दिया गया है। राज्य के सप्तावयव वैदिक युग में उतने स्पष्ट नहीं हैं जितने कि वे उत्तर वैदिक काल में हैं।

वैदिक संहिताओं में राज्य पद्धति लोकतान्त्रिक है, अन्य पद्धतियों का वेद के भाष्य रूप ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्टीकरण किया गया है वे भोज्य, वैराज्य इत्यादि हैं। राष्ट्र के विस्तार का भी प्रयत्न किया जाता है। प्रायः दो प्रकार की नीतियों का वर्णन होता है। एक तो धर्म के अनुसार सत्य पर आधारित है और दूसरी है छल-छद्म युक्त। दुष्टों एवं मायावी लोगों के साथ इसी का प्रयोग किया जाता है।

तृतीय अध्याय में राजा की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य राजाविहीन राष्ट्र की निन्दा करता है क्योंकि दण्ड का भय न होने से उद्दण्ड लोग सज्जनों को पीड़ित करने लगते हैं। राजा का चयन किया जाता है। इस चयन में प्रजा का पूर्ण प्रतिनिधित्व दिखायी पड़ता है। प्रायः यह चयन सम्पूर्ण आयु के लिए किया जाता है। परन्तु कर्तव्यच्युत होने पर राज-पद से उतारा भी जा सकता है।

चुने जाने के बाद राजा का अभिषेक सम्पन्न होता है जिसमें सभी नदियों, कूप, तड़ाग, वर्षा आदि के जल से सिंचन होता है तब राजा, सदा प्रजा की रक्षा करने का शपथपूर्वक व्रत लेता है। तभी वह सिंहासन पर बैठता है। राजा का प्रमुख कार्य प्रजा का रंजन है तथा यह कार्य तभी सिद्ध होता है जब प्रजा को पूर्ण विश्वास हो कि यह राजा शत्रुओं एवं प्राकृतिक आपदाओं से हमारी रक्षा करने में समर्थ है। हमें इसके नेतृत्व में कल्याण की प्राप्ति होगी तथा हमारा योगक्षेम बना रहेगा।

संहिताओं में अनेक प्रकार की सभाओं का वर्णन है जिनमें कुछ शिक्षा एवं धर्म चर्चा से सम्बन्धित होती हैं तथा कुछ मनोरंजन के लिए की जाती हैं। इनमें से तीन राजनीति से सम्बन्धित हैं सभा, समिति एवं आमन्त्रण। पूर्व की दो बहुचर्चित हैं क्योंकि जनतन्त्र का वातावरण बनाने में राजा को विचार विनिमय द्वारा प्रेरणा देने में तथा उदासीनता दिखाने पर राजपद से च्युत कर देने के कारण ये बहुत लोकप्रिय हैं। तीसरी सभा आमन्त्रण है इसे हम विश्व सभा कह सकते हैं, इसका वर्णन कम ही है।

चतुर्थ अध्याय में सेना के कार्यों में सैनिकों के गुणों एवं युद्ध कला पर विचार किया गया है। सैनिकों के उत्साह को बहुत महत्वपूर्ण समझा गया है। उनके मनोबल को किसी भी स्थिति में कम नहीं किया जाता। इसीलिए स्वयं से सेनापति युद्ध में आगे चलता है। शत्रुओं एवं अपराधियों को अत्यन्त कठोर दण्ड दिया जाता है। दण्ड देने से पूर्व शपथ इत्यादि के माध्यम से अपराध के कारण एवं स्वरूप को जानने

का प्रयास किया जाता है। शत्रुओं को दण्ड देने के लिए युद्ध किये जाते हैं, जिनमें अत्यन्त भीषण दृश्य दिखायी देते हैं। युद्ध में रथ, घोड़े इत्यादि बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। तलवार, धनुष-बाण प्रमुख आयुध हैं, जिन्हें चमकाकर एवं तीक्ष्ण बनाकर रखा जाता है जिससे आवश्यकता के समय शीघ्र ही उनको व्यवहार में लाया जा सके।

पंचम अध्याय में वर्ण व्यवस्था पर विचार किया गया है। जिसके बिना समाज का अध्ययन अधूरा ही रहता है क्योंकि इसी व्यवस्था पर सम्पूर्ण सामाजिकता आश्रित है। श्रम को महत्त्व देते हुए भी बौद्धिक कार्यों को प्रधानता दी गयी है। इसीलिए ब्राह्मण को सर्वाधिक आदर प्रदान किया गया। परन्तु उसे भ्रष्ट होने से बचाने के लिए कठोर नैतिक बन्धनों में बाँध दिया गया। अर्थ के आकर्षण से उसे सर्वथा दूर रखा गया है। क्षत्रियों के पाशविक बल को निर्माण की दिशा देने का कार्य भी उन्हें सौंपा गया है। क्षत्रियों को राज्य-भार दिया गया, दण्ड का स्वामी बनाया गया है पर निर्देशक के रूप में ब्राह्मण पुरोहित विद्यमान हैं। धन का आधिपत्य वणिक् को दिया गया है। पर पणि होने पर कठोरतापूर्वक उसका दमन किया जाता है। उससे यह आशा होती है कि वह दान इत्यादि के द्वारा वितरण की समस्या का समाधान करता रहेगा। कालान्तर में इसे धर्म से जोड़कर गोदानादि द्वारा वैतरणिपार करने के सुन्दर रूपक में बाँध दिया गया है। शूद्र वह है जो इनमें से कोई भी कार्य न कर सके अतः तीनों वर्णों की सेवा व सहायता करने का कार्य उन्हें दिया गया जिससे उनमें उच्छृंखलता उत्पन्न न हो जावे। पंचम वर्ण निषाद भी समाज में हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता है। उसे भी यज्ञ यागादि सामाजिक कृत्यों में आमन्त्रित किया जाता है।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है परन्तु वानप्रस्थ एवं संन्यास की स्थिति संहिताओं में स्पष्ट नहीं है। व्रात्यों को संन्यासी की कोटि में गिना जा सकता है। कालान्तर में इसका अधिक विकास हुआ परन्तु धीरे-धीरे वर्णाश्रम व्यवस्था दूषित हो गयी। ये वेदों में बहुत कठोर नहीं हैं, वहाँ वर्ण परिवर्तन अपने आचरण पर ही आधारित है, यही कारण है कि शूद्र भी मन्त्रद्रष्टा होकर ऋषित्व का अधिकारी हो जाता है।

षष्ठ अध्याय में शिक्षा-दीक्षा पर विचार किया गया है क्योंकि यहीं से नागरिक का जीवन बनाया जाता है जो भविष्य के समाज का नियामक बनता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है। आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्व बहुत परिपक्व है। एक सौ चालीस स्वतन्त्र सूक्त इससे सम्बन्धित हैं। औषध चिकित्सा, कृमि, विष इत्यादि का वर्णन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। शल्य चिकित्सा के जो संकेत प्राप्त होते हैं वे अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं।

आवागमन के लिए व्यवस्थित यातायात है। जिन मार्गों पर रथ, घोड़े इत्यादि

वहन तथा अनस आदि भारवाहक बैलगाड़ियाँ तथा ऊँट आदि पशु लाये-ले जाये जाते हैं। रथों व घोड़ों की दौड़ भी होती है जो मनोरंजन का साधन है। द्यूत, नृत्य, वाद्य इत्यादि से भी मनोरंजन किया जाता है। उत्तम मनस्विता के लिए सामंजस्य पर ध्यान दिया जाता है। सामंजस्य कहकर उसकी व्याख्या की गयी है। श्रेष्ठ मन का आधार है सात्त्विक भोजन जो गौ आदि तथा कृषि के माध्यम से प्राप्त होता है।

सप्तम अध्याय में समृद्धि के साधन रूप वाणिज्य का वर्णन है। यह जल, स्थल एवं आकाश मार्ग से भी होता है। अनेक पारिभाषिक शब्द भी हमें प्राप्त होते हैं। विनिमय के साधनों के रूप में पशु आदि के साथ स्वर्ण आदि से निर्मित मुद्राओं की भी सूचना मिलती है। अन्य बहुत से व्यवसाय यथा वैद्य, बढ़ई, धीवर, कृषक भी संकेतित हैं। इस वाणिज्य पर राजा का नियन्त्रण होता है, वह कर लेता है तथा वाणिज्य को प्रोत्साहन प्रदान करता है।

राष्ट्रीय सम्पत्ति में वन भी होते हैं। ये वन भारतीय संस्कृति के निकटतम रहे हैं। आख्यानी सूक्त में अत्यन्त मनोहर रूप से वन के लाभों पर प्रकाश डाला गया है। अनेक प्रकार के वन पशुओं के कारण इसे मृगमाता भी कहा गया है।

इस प्रकार वैदिक राजनीति एवं समाज की एक मनोरम झलक हमें वैदिक संहिताओं में प्राप्त होती है।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पाथिकृभ्यः।

कालिदास और भवभूति के काव्य-बिम्बों का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—बुद्धदेव शर्मा
निर्देशक—डॉ० रामकृष्ण भट्ट
वर्ष—1976

अध्याय 1—भूमिका

1. अतीत और वर्तमान काव्यशास्त्रीय धाराओं का समन्वय।

2. पाश्चात्य काव्यबिम्बों के परिप्रेक्ष्य में कालिदास और भवभूति के काव्यों के मूल्यांकन का औचित्य।

3. काव्यबिम्ब में मनोविज्ञान की भूमिका के लाभ।

4. काव्यबिम्ब में सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से नवीन चिन्तन।

5. काव्यबिम्ब शब्द का स्वरूप।

6. काव्यबिम्ब और भाव।

7. पाश्चात्य काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से काव्यबिम्बों के प्रकार।

8. संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्यबिम्बों की तुलनात्मक समीक्षा।

9. काव्यबिम्ब की रचना-प्रक्रिया और कविकर्म।

10. प्रस्तुत काव्यबिम्ब के अध्ययन के निष्कर्षबिन्दु।

अध्याय 2—लोकव्यवहारात्मक बिम्ब

1. लोकव्यवहार, जनोक्ति, न्याय, किंवदन्ती आदि और काव्यबिम्ब।

2. विभिन्न लोकव्यवहारात्मक बिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान अथवा उपमानीकरण:—यशःशरीर, यशःपान, यशोमनोज्ञ, यशोहरण, यशोधन, यशोगान, किन्नरकण्ठ, पितृसाम्य, मातृसाम्य, स्नेहप्रस्नव, धात्रीसाम्य, माता-पितृसाम्य, पुत्र-

साम्य, पुत्रीसाम्य, भ्रातृसाम्य, स्वसुसाम्य, बन्धुसाम्य, सुहृत्साम्य, श्वसुर, स्नुषा-साम्य, पत्नी-स्त्रीदेवीप्रभृति के साम्य, सपत्नीसाम्य, पतिसाम्य, दुष्ट की असंगति, जरा, विधाभ्यास, गौसेवाप्रकार, छाया, दर्पण, धारणा और पाथेय, उडुप और सागर, वामन और प्रांशुलभ्यफल, वज्र, वज्रकीलक, कील, वज्रलेपघटना, शंकुशल्य और सविष-शल्य, कण्टक, अंकुश, स्वर्ण और अग्निशुद्धि, तस्करता, शरण और शरण्य, धन, कलंक, पर्वत में स्वरगुंजन और पुनरुक्ति अथवा उत्तर, क्षतात् त्रायते, देह और पिण्ड, देह और प्राण, अल्पार्थ बहुत्याग, स्वहस्तार्जन, धुर, शाण से संस्कृतमणि, सेतु, सोपान-परम्परा, उपहार, पारितोषिकत्व, सर्पदष्ट अंगुलि का काटना, रेखामात्र भी उल्लंघन न करना, नयचक्षु, राज्याश्रममुनि, अप्रयोग से बाणों का कुण्ठित होना, प्रयोग में न आने से अस्त्र का आभरण होना, सद्विवेक, महोक्षता, कपाटवक्षाः, गगनस्पर्शी स्वर लौटाते हुए, राजलक्ष्मी के बालों का काटना, शरवृष्टि, नवता, केतुओं से सर्जन, बैंतसीवृत्ति, शिर, पटवासता, क्षोद्रपटल, नाराचादि अस्त्रों के पत्थरों से टकराने से अग्नि का निकलना, रत्नजटित मुकुटवाले माथे से अथवा रत्न एवं पुष्पों से चरणपूजा, अवधा प्रसूति, अर्थकार्श्य, आदान और विसर्ग, अर्गला (परिघा), सम्भावना, अर्थिकामना से अधिक धन देना, दीप, कुलदीप, अनिलाहत दीप, दीपशिखा, दीपदशा, निवातनिष्कम्पदीप, प्रदीप, दीपिकापीनरुक्त्य, अस्नेह-दीप, मणिमुक्तारत्नकांचनस्फटिकविद्रुमप्रभृति, मणिकांचनसंयोग, सर्प और रत्न, मेघजलबिन्दु का सीप में मुक्ता होना, स्फटिक और जल; कालागरु और चन्दन की रचना, चामर, बन्दी और चामर, केशपाश और चमरी के चामर, यन्त्र-धारा-गृहत्व, एकातपत्र, प्रभामण्डलमध्यवर्ती, अवतार, पथ, सामन्त, दिवः पुष्पम, दुर्ग की परिखा, हेमप्राकार, नैमि, अरपंक्ति, विमानना, मंजूषा, सुनृत के द्वारा आतिथ्य, दोष का गुणीकरण, तपोवन को उपवन बनाना, राजानुजसाम्य, शूल से उतारकर हाथी पर बैठाना, दन्तप्रभा का उरःस्थलहार होना, बल की शैल्य प्रकृति, बल का नीचे की ओर बहना और उल्टा न जाना, सवितान, राजा की समानता, अयस्, आगन्तुक को गृहेश मानना, कीर्ति-स्तम्भ, लोहा और चुम्बक, पृथ्वी द्वारा रत्नोपहार, उपदेशता, प्रेक्ष्यदर्शनीयप्रभृति, निन्दा को स्तुति से दूर करना, श्वासहार्य वस्त्र, शिलापट्टविशालवक्षाः, उन्नतसिर, उपान्तमीलितलोचन, भृकुटि, इयत्ता, मुक्तकण्ठ, कम्बुकण्ठ, स्वपदार्पितचक्षुः, दर्पकण्डु, आँसू पोंछना, आकारचेष्टा से कहना, प्रलोभ्यवस्तुप्रसारितकर, कपोतहस्तक, हस्तपुण्यतः, नासा लज्जा का एक साथ काटना, हस्तीकृत, हस्तप्राप्य, हस्तगत, बामहस्तोपलिखित-वदन, दत्तहस्त, हस्तस्फुरण, चरणसेवा, क्रीडारसं प्रविशतीव, वदनमभिलंघतीव (भ्रमरः), प्रतिवचनीकृत, प्रतिषेधरोक्ष्य, वाङ्मात्रप्रवाद, वचन और प्रतिवचन, जिह्वायन्त्रण, संख्या और गणना, वादिनौखि, नाम, नामशेष, वाष्पगद्गद, वाष्पप्रसरकलुषदृष्टि, अश्रान्ध, शोकजपुष्णमतु आनन्दनं शिशिरमतु, मुक्तास्थूल

अश्रुलेश, विलपनविनोद, अरण्यरोदन, नौ मुखे वृतान्तस्तिष्ठतु, सिमसिमायन्ति मे-अंगानि, थरथरायमानपीनरोरू, मडमडायिता, किंकिणीझणझणायिता गुलगुलायमानमेघ, गद्‌गद्‌वारि, चाटुकार, साप्तपदीन, ६ णों के मुखों से कहना, उच्छ्वास, निश्वास, बर्द्धमान, मृदंगध्वनि, विजयदुन्दुभिता, कटे सिर की हुंकार, उदाहरण, प्रत्यादेश, अक्षरशरोसे हत, उपहास्यता, दास्याः- पुत्र, प्रमत्त का वचन, जित होना, कूजन का बढ़ाना, कथा, धिक् प्रस्तावनाडिण्डिम, मेघ-गर्जन, पीनरुक्त्य, अहमिका, शापित, वार्ताहर, अल्पाक्षरता, द्यावापृथिवी में प्रवाद का फैलना, **स्वादबिम्बः**—स्तन्वय, नेत्रपान, पानभूमि, शृगाली और पक्षियों के द्वारा नरमांसभक्षण, आभिषता, लोचनरसायन, मतिवराक्षी अथवा नयनमधु, क्षोत्र-पेय, कर्णामृत, गण्डूषपेय, सरसांगयष्टि, नारीकैलासव, अन्तरिक्ष का पिया जाना, कवलीकरण, मृत्युमुख में डालना, विडालगृहीत मूषक, रीछ के मुँह में गिरना, भूख से खाया जाना, फल, वाङ्मधु, मृगतृष्णिकों, प्यासे शुक का जल माँगना। **स्पृश्य-संवेदनाबिम्ब** :—ब्रण, ज्याघातरेखा, बाहुपाश, गर्मी से थके जनों के लिए छाया-वृक्ष, ढोये जाना, वेणु-कर्कश, तालवृन्त के अनिल के समान, छाती से लगाकर आलिंगन, चूल्हे के मध्य के समान जलना, उष्णजल से नवमालिका सींचना, स्नात-जन द्वारा तैलमर्दितजन को देखना, शोक से गलना, कठोरगर्भ, वज्रकठोर, क्षालित, पाप से स्पृष्ट, अन्त्रभेदन, शिरःशूल, उरस्ताडन, रामस्य गात्रमसि, लोचन शीतल करना, भय ज्वर, आनन्दजड़ और हृदय में आग। **घ्रातव्यबिम्ब** :—मृतसुरभिमुख, आहुतिगन्ध वाले धूम और पुराने नीम और लहसुन के तेल के समान (चिताग्नि)। **चाक्षुषबिम्ब** :—काकपक्षधर, स्तनवय अथवा क्षीरकण्ठ, अग्नि का स्फुल्लिग, अग्नि और धूम, दुःखाग्नि, क्रोधाग्नि, अग्नि और शलभ, नेत्र, दृष्टि, शालि और कलम, क्रोधान्ध, मदमण्डन, कामदुह, वचनीयबीज, शोकमात्रद्वितीय, प्रासादों पर तृण उगना, प्रताप और शत्रुपंक, रेणु का पंक होना और पंक का रेणु होना, रोचनागौरशरीर, पत्रलेखा, अलक्तक, हस्त और आभरण, बन्दी, नृत्यत्‌कबन्ध मृत वीरों का अप्सराओं के द्वारा वरण, दर्पण, दमितासाम्य, समलोष्ठकांचन, अनुमृता के समान, पुनर्जात, प्रसुप्त, प्रबुद्ध और सुप्त, परिशून्य, द्वारता, दूर, लभ्यांश, चन्दन और सर्प, सिंह और मौक्तिकगज, सूर्यकान्तमणि और सूर्य, चन्द्रकान्तमणि और चन्द्र, द्विगुण, एकीभूय, राशीभूत, आकाश में चलना, शोणितनदी, पृष्ठतः, अन्तरा-वेदि, आलान और हस्ती, गर्तपतित हस्ती, उपमान, श्मश्रु का बढ़ना, रणशिरस्, दौला, जल में जलबिन्दु का फैलना, बिन्दु, मुष्टि, परमाणुता, भूकम्प, वेणी, माष-पेष, तिलशः, गोप्रतर, कोकिल से अन्य पक्षियों का पलवाना, सूचिभेद्यतम, शिवाट्ट-हास, देहबद्ध, मूर्ति, जंगमतीर्थ आदि, मृदंगमांसल चित्र, भक्तिचित्र, आलेख्यशेष, कंकालशेष, रजस्वला, कुल्या, गृधच्छाया, सुप्त सर्प को छेड़ना, वीर्यशृंग का टूटना, अनेकों के देखने से एक का बहु होना, पृथिवी से रन्ध्र में छुपाने की प्रार्थना,

गवाक्ष, चूर्णारुणवारिजल, तुल्यपुष्पाभरण, म्लानमुख, कनकगौर, आजानुबाहु, रन्ध्रों में रन्ध्र, पात्रीकरण, कारा, भूल, तख्ती पर लिपि के उभरने का और वेदि के जल के सूखने का समय, पश्चिमवय, जिलाती हुई, संचारिणी, अक्षसूत्रप्रणयीकर, बाहुलता और उपधान, त्रिलोकसौन्दर्य का उदय, झण्डे झुकाकर नमस्कार, असिश्याम, अश्वरथ और मार्ग, अंकशय्या, अंगुलिप्ररोह, सरक्तकरवाल और सन्ध्या, गर्भवास, ज्योत्स्ना और कल्पतरुवस्त्र, बालातप अंशुक, शुकोदर-श्यामवस्त्र, मछली के हस्त से निकल जाने पर धीवर का धर्म मानना, व्यापारी मेघ, तप में डूबना, पादरज के तुल्य, पत्तन के होने पर ग्राम में रत्नपरीक्षा, समुद्र और पत्वल में अन्तर, उरभ्रसंपात, सूक्ष्मदर्शिता, उपारूढ़ मध्याह्न, जंघाबल, पाताल-वास, प्रभु, प्रैष्यभाव, दास, बाजार का सांड, भुजंग कुटिल दण्ड, हवा में काँपते पत्ते के समान, पादुका से चन्दन दूषित करना, कुसुमवत्, विरहष्य्यर्युत्सुकजनदेश, प्रकाश, गण्ड के ऊपर पिटक, आँखों में प्रभात होना, निमैक्षिक, द्वितीय, सनाथ होना, अनाथ, कनकवलय का अपने स्थान से खिसकना, शारद ज्योत्स्ना को कपड़े से हटाना, कौन विचारता है, धर्मकंचुक, तृणच्छन्नकूपोपम, दिवस का न बुझना, सुमनोमूल्य, काम का छठा शर, वेदप्रमाण, संग से वैसा ही हो जाना, विकसित-मुख, शार्दूल का पशु को मारना, अन्तःपुर का विष, गन्ने के समान टुकड़े करना, छिड़ने से अग्नि का भभकना, अंगारचुम्बित हृदय, माला पहनाना, कनकरस-मिस्यन्द, स्थाणु के समान अचल, स्त्री के साथ संयम, बाल के अंगरज से मलिन, अप्रतिरथ, गज के चले जाने पर पदचिह्न देखते फिरना, श्रीविशाल, पुष्पमेघ, भिन्नांजन, कटे हाथी के दाँत के समान, घूम, वर्णमात्र से कृष्ण, नासाकुटीरकुहर, अलाबू का पानी में डूबना और पत्थर का तैरना, एकनिधि ब्रह्माण्डभाण्ड, कण्ठ-पीठातिथि, सप्तसमुद्रमुद्रितमही, त्रिभुवनेकबीर, अवीरा वसुन्धरा, कोपविकृत, शिरःशाणशात कुठार, पुराणधर्नुधरपाणि, क्षणदृष्टनष्टदिशाएँ, क्रकच, कल्पद्रुम, कान्तारमण्डूक, रिपु, तूलदाह, क्रीडाकपित्य, कर्पूररागपुर, कर्परसदृशनख, दुग्धधारा धवल, कनककुम्भस्तन, तन्तु, परा कोटि, आयासप्रबन्ध, काकतालीय, मुख देखने में असमर्थ, कायबज्रपंजर, मषीमलिन, धौतराजपट के समान, मूसल से कूटना, पूर्णोत्संग, व्याघ्र या वृक, बिम्बित और ग्रावा का रोना।

3. अनुभवबिम्ब :—कल्पनात्मक एवं सहज सरल भावबिम्ब।

4. लोकव्यवहारात्मक बिम्बों में मिश्रित शास्त्रात्मकता।

5. रहस्यात्मक बिम्ब।

अध्याय 3—**दार्शनिक बिम्ब**

1. दार्शनिक बिम्बों में उदात्तीकरण, सौन्दर्य और रहस्य।

2. विभिन्न दार्शनिक बिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—अध्यात्म विद्या

ईश्वर और पुरुष, तत्व, अव्यक्त, अष्टमूर्ति, अवतारवाद, योग और परमात्मदर्शन, योग, योग और सिद्धि, ध्यान, प्रणिधान, योगनिद्रा, योगप्रभाव, योगी, समाधि, पुनर्जन्मवाद, शरीरबन्ध, कर्मवाद और पुनर्जन्म, निर्वाण, गुणत्रय, सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, स्वर्ग, स्वर्गबिम्ब, परलोक, परमाणु, परस्परविरोधत्याग, देवत्वप्राप्ति, पंचभूत, श्रेयोमार्ग, प्रलय, भक्तिवाद, कार्यकारण, आप्तवाक्, प्रत्यभिज्ञा, रहस्यात्मकता, इन्द्रियजय और आन्तरिक शत्रुओं पर विजय।

अध्याय 4—धर्मशास्त्रात्मक बिम्ब

1. धर्म और फ्रायड।

2. सामान्य धर्मशास्त्रीय बिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—आचार्य और विद्या, आकृति और गुण, वेद और ओंकार, आनुण्य, धर्म, धर्म का आद्यसाधन शरीर, पाप और पुण्य, शिवमंगलपूत आदि शब्द-संयोग, शाप, श्मशान, तीर्थ, घर, एकवेणी और वेणीमोचन, पितृ-ऋण, निवापांजलि, अपवर्ग और महोदय (प्रवृत्ति और निर्वृ ति), पत्नी, वीरप्रसवा, पुत्रकृतक, भाग्य, देवकार्य, परोपकार, सती, गृहिणीपद, परदारस्पर्शनिषेध, क्षत्रिया, संस्कार, ज्योतिः, पूज्यपूआव्यतिक्रम, गुण, आश्रम, वर्णव्यवस्था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आचार्य, तप और सिद्धि, अग्नि की स्वतःशुद्धि, प्रणामांजलि, चिन्तामणि और भिक्षा।

3. धर्मशास्त्रीय विधिमूल बिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—श्रद्धा एवं विधि, मखांशभाग्देव, यज्ञ, याज्य, वैतान, आहुति और धूम, स्वाहा और अग्नि, हविष् और अग्नि, समित् और अग्नि, आज्य एवं अग्नि, होता, गृह्याग्नि, त्रैताग्नि, अग्निशुद्धि, अश्वमेधयज्ञ, देवानुण्यार्थ यज्ञ, दक्षिणा और यज्ञ, गुरुदक्षिणा, मन्त्र और विधि, मन्त्र और सर्प, मन्त्रकृत के मन्त्रों का प्रभाव, मन्त्रपूत, मन्त्र, गायत्री मन्त्र और सूर्य, सामवेदमन्त्र और बालखिल्यमुनि, सामयोनि, प्रदक्षिणा, वेदिका, बलि, नीवार, अतिथिपूजा, देवपूजा, पुष्पवर्षा, आशीर्वाद, चरणस्पर्श, आज्ञा का शिरोधारण, राजाभिषेक, यज्ञोपवीत, यूप, कुशशयन, इष्पाहरण, मधूक, लावा, बीजांकुर, अथवा यवांकुर, गोरजः-स्नान अथवा वायव्यस्नान, तप की विधियाँ, पंचाग्निसेवन, मौनव्रत, त्राटक, व्रत, आसिधाव्रत, जटाधारण, पतिव्रताधर्मपालन, तपोध्यय, क्रियाविधात, प्रायश्चित, पाणिग्रहण, गुरुवन, प्रतिज्ञा, सत्य, उत्सव, प्रसाद, सत्क्रिया, परकीया कन्या, परतभूमि, आश्रम और विनीतवेश, स्त्रीचरित्र, आर्यवृत्त, विनय और स्तुति, विनय और विद्या, विनय और लक्ष्मी, विनय और तेजस्, सत्पुरुष ब्रह्महत्या, परिवेत्ता, स्वास्तिक, सीमन्तरेखा, मंगलरचना, साप्तपदीन सम्बन्ध, प्रायोवेशन, अन्त्यमण्डन। निवातमाला और तिलांजलि, पतिमरण की व्यंजक विधि, स्त्री वध निषेध और चिता।

अध्याय 5—**शास्त्रात्मक बिम्ब**

1. आयुर्वेदीय बिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—रोग, महाज्वर, सन्निपात, कूटपाक्ल, व्रण, राजयक्ष्मा, मर्म, जरा, मनोरोग, पितजरोग, अक्षिदु:ख, विकार, चिकित्सा, वैद्य, औषध, इंगुवीर्तल, से व्रणविरोपण, रसायन, नक्तमौषधि, कतकबीज से जलमलशोधन, चन्दनरस, अमृतवर्ति, अमृतमय प्रलेप, विष, पुटपाक, शरीरधातु, चेतनाधातु और गर्भवती स्त्री के लक्षण।

2. ज्योतिषशास्त्रीयबिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—सूर्य का मधु और माधव से सम्बन्ध, सूर्य की चार सौ अमृतनामककिरणों का जलभयगर्भधारण, सूर्य और अग्नि, सूर्यकिरणों से प्रकाशित चन्द्र, सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायण में गमन, दिन और रात के विभाजक सूर्य और चन्द्र, चन्द्र का कृष्णपक्ष में क्षीण होना, चन्द्रग्रहण अथवा राहुग्रस्तचन्द्र, चन्द्र का शुक्लपक्ष में बढ़ना, चन्द्र के पूर्णोदय पर समुद्र का बढ़ना, चन्द्र का पुत्र, चन्द्र और रोहिणी, चैत्र, चित्रा और चन्द्र, विशाखा और चंद्र धूमकेतु और चंद्र, चंद्र और मुहूर्त, मंगलग्रह, बुधबृहस्पति का योग और चंद्र, शुक्र की दृष्टि से बचना, धूमकेतु, ध्रुव, पुष्यनक्षत्र, पुनर्वसू, नमस् और नमस्य, उल्कापात, छायापथ, नक्षत्र, ग्रह और तारामैत्रक।

3. शकुनशास्त्रीयबिम्बों का विश्लेषण।

I. असुन्दर स्वप्न, नक्षत्र, पशु-पक्षी और शारीरिक विक्रियाओं के अशुभबिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान।

II. सुन्दर स्वप्न, पशु, पक्षी और शारीरिक विक्रियाओं के शुभबिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान।

4. व्याकरणशास्त्रीयबिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—उत्सर्ग और अपवाद, प्रत्ययप्रकृतियोग, धातुस्थान पर आदेश और स्वर और संस्कार।

5. काव्यशास्त्रीयबिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—उपमान और उपमेय, उपमान और सादृश्य, यमक के शब्दबिम्ब, नाटक की प्रस्तावना, रस, भाव, संचारिभाव और अन्य भाव, काव्य, इयत्ता, शब्दार्थ, गीति, तन्मयता और नट।

6. राजनीतिशास्त्रीयबिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—राजा, चक्रवर्ती, आतपत्र, चामर, केतु, शस्त्र और धनुष, (उसकी प्रत्यंचा) किरीट, अभिषेकक्रिया, विजयलक्ष्मी, पृथिवी, राज्यप्रशासन, प्रजा, राजा, अमात्य, दुर्ग,सेना, कोष, दण्ड, सामन्त, रक्षक, उपायन, बन्दीगण, जयस्तम्भ, सिंहासन, प्रसाद, विजयदुन्दुभि, हेमप्राकार, राजधानी, आलोकशब्द, साक्षिता, राजमार्ग, शत्रु, राजमर्यादा, त्रिसाधना शक्ति, षष्ठांश और कर, वेतन, प्रताप, प्रताप और विक्रम, कारागार, निधि, विजयी, यस, नीति, उपाय, चार और शास्त्र।

7. रागात्मक एवं कामशास्त्रीयबिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—

1. **रतिप्रक्रिया** :—कामिनी, कामी, अंगना, स्त्री, दयिता, खण्डिता, अबला, नववधू, नारी, संभोग, परिभोगशंकनीयता और अभिसारिका। **पशु-पक्षियों के मिथुनों के प्रतीक चित्र** :—चक्रवाक मिथुन, मृग और मृगी के खुजलाने के चित्र, गज और करेणु, भ्रमर और भ्रमरी, वानर और वानरी, हंस और हंसी और अन्य समुद्र-नदी, वृक्ष लता, भ्रमर का कमल में बन्द होना और भ्रमर का मधुपान। **कामक्रियाएँ** :—आलिंगन, चुम्बन एवं अधरपान, सीत्कार, नखक्षत, नयनराग, हसितस्मित, गोत्रस्खलन, केशग्रहण, नृत्य, अनंगलेख, **चेष्टा सौन्दर्य और सादृश्य प्रतिकृति दर्शन। नारी के आकर्षक अंगों के बिम्ब अथवा मनोवैज्ञानिक साम्यसंसर्ग के द्वारा विभिन्न पदार्थों पर आरोप** :—भ्रूलता, नयन, कपोल, मुख, अंगयष्टि, अधर, हस्त, बाहु, स्तन, नाभि, मध्या, त्रिबली श्रोणी, जघन और ऊरु। **अंगों की क्रियाओं के आरोपित बिम्ब** :—कोकिल में भाषित, कलहंसी में चाल, मृगी में अवलोकन, लताओं में विभ्रम, वल्लरी में स्मित, नदियों की तरंगों में भ्रूविलास, केतकियों में हास, कर्णमूर, अवतंस, हार, वलय, मेखला, रशना, कांची, मेखलाबन्धन, नूपुर और चरणताडन। **पुष्पाभरणबिम्ब** :—केश के पुष्पाभरण, कर्णाभरण, कण्ठाभरण और भुजाभरण। **प्रसाधन** :—**केशों के लिए प्रसाधन** :—तैल और चूर्ण तथा **मुख के प्रसाधन** :—पत्रलेखा, तिलक, अंजन, ओष्ठराग, अलक्तक, चन्दन, अंगराग, गोरोचना, मुखचूर्ण और दर्पण। **उद्दीपन के बिम्ब** :—दरीगृह, उद्यान, क्रीड़ापर्वत, गृहदीर्घिका, शय्या, नृत्य, संगीत, गीत, कोकिलस्वर में गीत का आरोप, मधुपान और मेघदर्शन।

3. कालिदास और भवभूति के सौन्दर्य के सम्बन्ध में विचार :—बिम्ब और सौंदर्य विस्मय और सौंदर्य और वैरूप्य और सौंदर्य।

अध्याय 6—**कथात्मक बिम्ब**

पौराणिक, महाभारतीय, रामायणीय आदि कथाओं के बिम्ब अथवा आद्य-बिम्ब और उनका अप्रस्तुतविधान :—चंद्र और क्षीरसागर, मेरु, ऐरावत, दक्षिणा, बुध, इंद्र-शची और जयंत, शिव-पार्वती और स्कंद, अग्नि और इंदु, लोकालोक अचल, आकाशगंगा, गंगा, गंगा और यमुना, अनसूया, वशिष्ट, इंद्र, अहल्याकामुक इंद्र, सहस्राक्ष इंद्र, तपस्यारत ऋषियों से शंकित इंद्र, इंद्र और विष्णु, शिवत्रस्त विष्णु, इंद्र के द्वारा ऐरावत संचालन, पर्वतपक्षशातन इंद्र, कुलिशप्रणचिह्न, इंद्रधनुष, इंद्र का मानवों द्वारा साहाय्य प्राप्त करना, विष्णु, संसाररक्षार्थ अवतार के रूप में, विष्णु वराहावतार, वामनावतार, आदिपुरुष विष्णु, विराटरूप विष्णु, क्षीरसागर में विष्णु, लक्ष्मी और विष्णु, विष्णु का अंश राजा, कृष्णावतार में विष्णु, विष्णु और गरुड़, विष्णु और शेषनाग, विष्णु और योगनिद्रा, शिव, अष्टमूर्ति शिव, अर्धनारी-श्वर शिव, शिव और कामदहन, शिव और नन्दी, शिव और गजानन, पिनाकधारी

शिव, पार्वती, कामदेव, श्रृंगार और काम, कामांकुर, काम और स्त्री शरीर, काम-व्याधि, कामधनुष, कामधनुष की प्रत्यंचा, काम के पंचबाण, काम के कुसुमशर, कामार्चन, कामपत्र, कामदेव और वसन्त, कामवाणी और कोकिल-गीत, काम के समान व्यक्तित्वबिम्ब, ब्रह्मा, युवती के कलाकार ब्रह्मा, यम, दक्ष, दक्षशाप, कुबेर और सरस्वती।

अध्याय 7—प्राकृतिकबिम्ब

1. प्रकृति का स्वरूप।
2. प्रकृति में साम्यसंसर्गनियम और आरोप।
3. कालिदास और भवभूति के प्राकृतिक बिम्बों की तुलना।
4. प्रकृति का सौम्य और रौद्र रूप।
5. प्रकृति और प्रत्यक्ष अनुभवों से सम्बद्ध बिम्ब।
6. प्रकृति और कवि समय।
7. प्रकृति और भाव।
8. प्राकृतिकबिम्बों की सार्वभौम मूर्तियाँ।
9. प्रकृति और दर्शन।
10. स्मृति और उपदेशों का लोकप्रिय माध्यम प्रकृति।
11. कालिदास और भवभूति का प्रकृतिप्रेम।
12. दिव्य प्राकृतिकबिम्ब।

सहायक ग्रन्थों की सूची

न्यास और पदमंजरी के विवरणों का तुलनात्मक-अध्ययन

शोधकर्त्ता—रामप्रकाश शर्मा
निर्देशक—डॉ० बुद्धदेव शर्मा
वर्ष—1977

भट्टोजिदीक्षित से पूर्व मुग्धबोध व्याकरण, सारस्वत व्याकरण, प्रक्रिया-कौमुदी आदि व्याकरण प्रचलित थे। वाराणसी में किसी समय आर्ष व्याकरण या अष्टाध्यायी की पद्धति से पठन-पाठन की प्रणाली चली। इसमें कोई ज्वलन प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। पर इसमें संदेह नहीं ऋषि दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने अष्टाध्यायी की पठन-पाठन शैली को प्रतिष्ठापित किया या पुनर्जीवन दिया या यह प्रणाली व्याकरण ज्ञान के लिए सिद्धान्त कौमुदी की अपेक्षा सरलतम है। ऐसी अनुभवसिद्ध मान्यता है। अष्टाध्यायी के अर्थ ज्ञान के लिए काशिका वृत्ति प्रसिद्ध है। काशिका की न्यास और पदमंजरी नामक दो टीकाएँ हैं। न्यास की लेखनी शैली पदमंजरी की अपेक्षा प्रांजल और सुगम है। न्यास का अपर नाम 'काशिका विवरण पंचिका' है। पदमंजरी काशिका के पदों की या पदस्वरूप वृक्षों की मंजरी अर्थात् पदों की सुगन्धि को विकसित करनेवाली है। जिस प्रकार आम्र-मंजरी को देखकर पिक-कोकिलादि प्रसन्न होते हैं वैसे ही पदमंजरी को पढ़कर विद्वत्वृन्द और छात्रवृन्द प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। ये दोनों टीकाएँ अब कम उपलब्ध होती हैं। पदमंजरी तो चौखम्बा प्रेस, बनारस ने छाप दी है साथ ही न्यास का भी मुद्रण किया है। इस प्रकार दोनों की दुर्लभता का कुछ निराकरण हो चुका है। एक प्रकार से काशिका महाभाष्य का संक्षेपीकरण है और काशिका में भाष्य की जो कारिकाएँ आती हैं उनकी व्याख्या जैसे सुस्पष्ट शब्दों में पदमंजरी में की गयी है वैसी न्यास में नहीं उपलब्ध होती। यह कहा जा चुका है कि पदमंजरी की शैली अपेक्षाकृत गूढ़ है। अतएव दुर्बोध भी। तथापि उसके बार-बार अध्ययन से उसके अर्थ प्रकट हो जाते हैं।

न्यासकार उदाहरण प्रत्युदाहरणों की सिद्धि में जितनी स्फुटता लाये हैं वह स्फुटता पदमंजरी में नहीं । इस प्रकार काशिका के अर्थज्ञान में न्यास और पदमंजरी एक दूसरे की पूरक हैं । काशिका के अर्थों की प्रतिपत्ति के लिए इन दोनों ही टीकाओं की आवश्यकता पड़ती है । हरदत्त ने

गहने-दहने व्याकृतौ तन्त्रे—कातन्त्रादि विदूषते ।
हरदत्त हरिः स्वैरं विहरं केन वार्यते ।।

(पदमंजरीकार)

इस प्रकार अपनी प्रशंसा की है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि उस समय का तन्त्र नाम का व्याकरण था । जो कि अनेक दोषों से पूर्ण था । कुछ भी हो, प्राच्य व्याकरण की पद्धति को प्रशस्त करने में इन दोनों ग्रन्थों का जो योगदान हुआ है वह विज्ञ वैयाकरणों से तिरोहित नहीं है । अतएव इस आस्य व्याकरण के अध्ययनाध्यापन की पद्धति से जो विशेषताएँ हैं वे हैं इसकी सरलता और सुगमता, क्रमबद्धता और रुचिरता, अनुवृत्ति के ज्ञान से सूत्रार्थ ज्ञान का सौकर्य, प्रयोग या उदाहरणों का स्वयं निर्माण, तथा पाणिनि के 'असिद्धवदत्राभावत् और पूर्वत्रासिद्धम्' इन सूत्रों से होनेवाली असिद्धता का यथार्थ अवबोध । इन कारणों से ही इस प्राचीन पद्धति को सर्वत्र अपनाया जा रहा है और सम्मान दिया जा रहा है । इस प्रवृत्ति में स्वामी शुद्धबोध तीर्थ का नाम अग्रगण्य है । जिन्होंने अष्टाध्यायी की वृत्ति छात्रों के ज्ञान के लिए लिखकर गुरुकुल कांगड़ी से (जब यह गुरुकुल गंगा पार था) 1902 में प्रकाशित की जिसकी प्राप्ति अब भी गुरुकुलीय पुस्तकालय से हो सकती है । और इस परम्परा के अनुयायी पदवाक्य प्रमाणज्ञ, परम पूज्य गुरुवर ब्रह्मदत्त जिज्ञासु महोदय का भी नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने छात्रहिताय अष्टाध्यायी भाष्य लिखकर आधुनिक युग में एक वैज्ञानिक पथ का प्रशस्त रूप दिया । स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश में इन पंक्तियों को चरितार्थ किया कि पाँच वर्ष में अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि पढ़कर व्याकरण का पूर्ण ज्ञान हो सकता है । आर्ष पद्धति के महत्व के विषय में इससे पूर्व भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है । पुनरपि इसका सबसे बड़ा महत्त्व यह है मानवमात्र वेदार्थ ज्ञान में सुकर्मा से प्रवृत्त होता है । इसने सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध में नौ अध्यायों का सम्मेलन किया है । प्रत्येक अध्याय में परिसन्दर्भानुसार परिच्छेदों का भी आयोजन किया है । यथा--

प्रथम अध्याय—इस अध्याय में बताया गया है कि व्याकरण सर्वशास्त्रोपकारक है । इसको सिद्ध करने के लिए विधि ग्रन्थों के प्रामाणिक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं । पाणिनि से पूर्व विविध व्याकरणों का निर्माण हो चुका है । वे सब व्याकरण लोकप्रयुक्त भाषागत पदों का ही अन्वाख्यान करते थे किन्तु पाणिनि ने एक ऐसे व्याकरण का निर्माण किया जो अकालक व्याकरण है । और लौकिक व्याकरण के साथ-साथ वैदिक व्याकरण का भी पूर्ण अवबोध कराने में सक्षम है। पाणिनि

व्याकरण अपने से पूर्ववर्ती व्याकरणों का पूरक है। कर्ता के अनुसार यदि उस शास्त्र का उसी शास्त्र के कर्ता के अनुसार अध्ययन किया जाय तो उस शास्त्र ज्ञान में अत्यन्त सुगमता होगी। इस दृष्टि को अपनाते हुए यह सिद्ध किया गया है कि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट अष्टाध्यायी में जिस प्रकार से क्रमबद्ध सूत्र पठित हैं उसी प्रकार से क्रमानुसार सूत्रों का अध्ययन किया जाय तो पाणिनि सूत्रों की क्रमबद्धता की वैज्ञानिकता का पूर्ण अवबोध हो सकता है —इसका विशद विवेचन किया गया है। पाणिनि व्याकरण में दो प्रकार के सम्प्रदाय हैं—1. नव्य एवं 2. प्राच्य।

1. आचार्य जिनेन्द्र, हरदत्त मिश्र, कैयट आदि से उत्तरवर्ती जिन वैयाकरणों ने पाणिनीय सूत्रों को विषय विभाजन के अनुसार अर्थात् भिन्न-भिन्न अध्याय और पादों में प्रयुक्त सूत्रों को वहाँ से उठाकर विषय या प्रकरण के अनुसार नियुक्त किया है उन सभी वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थों को 'सिद्धान्त कौमुदी', 'प्रक्रिया कौमुदी,' 'सारस्वत चन्द्रिका', 'मुग्धबोध व्याकरण' आदि नव्य व्याकरण शब्द से ग्रहण किया गया।

2. जिन वैयाकरणों ने पाणिनि निर्दिष्टक्रमबद्ध सूत्रों पर व्याख्या की है उनके द्वारा सभी व्याख्यात ग्रन्थों (काशिका महाभाष्य, न्यास, महाभाष्यगत उद्योत (प्रदीप)टीका पदमंजरी एवं अष्टाध्यायी पर समस्त वृत्ति ग्रन्थ)को प्राच्य व्याकरण से ग्रहण किया गया। उपर्युक्त शैलियों के व्याकरणों की इस अध्याय में समालोचना की गयी है और अन्त में प्राच्य व्याकरण को पाणिनि व्याकरण के समझने में परम सहायक सिद्ध किया गया है। नव्य व्याकरण के दोषों को दर्शाया गया है कि इसके अध्ययन में कितने समय का दुरुपयोग और प्रचुर रूप से बौद्धिक, परिश्रम का ह्रास करना पड़ता है।

वेद में प्रवेश हेतु प्राच्य व्याकरण (पाणिनि व्याकरण) की महती आवश्यकता —इसका वृहद् विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि वे कौन से स्थल हैं जिनके आधार पर वैदिक प्रावधानों के अवबोध के अनन्तर वेदार्थ में गति हो सकती है। पाणिनि की महत्ता पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। जहाँ एतद्देशीय विद्वानों ने पाणिनि के व्याकरण की प्रशंसा की है वहाँ विदेशी विद्वानों ने भी पाणिनि व्याकरण की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इन दोनों क्षेत्रों के विद्वानों की सम्मतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं।

द्वितीय अध्याय—इस अध्याय में स्पष्ट किया है कि न्यासकार के जीवन की विशेषता यह है कि उसने जैन होते हुए भी पाणिनि व्याकरण के वैदिक स्थलों को उसी तरह हृदयंगम किया जिस तरह एक वैदिक श्रद्धालु मन्त्रगत अपनी विशेष श्रद्धा रखता है। काशिका की विवृत्ति करनेवाली एक विशिष्ट काशिका विवरण पंचिका नामक टीका लिखी। इससे प्रतीत होता है यह आर्ष व्याकरण के परम भक्त थे और जैनेन्द्र व्याकरण का मताग्रह नहीं रखते थे।

पदमंजरीकार परम वैयाकरण होते हुए भी मीमांसाशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। जैसा कि इनके ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर दिये गये निर्देशों से सिद्ध होता है। दोनों के ही काल विषयक परिसन्दर्भ में विशद विवेचन किया गया।

तृतीय अध्याय—काशिका के पूर्ववर्ती और परवर्ती व्याख्याकारों में काशिकाकार का वैशिष्ट्य बतलाया गया है। प्राच्य व्याकरण की परम्परा में काशिका व्याख्या ही सर्वोत्कृष्ट एवं हृदयग्राह्य है। इसका पूर्ण विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय—काशिका पर विविध टीकाएँ लिखी गयी हैं। उन समस्त टीकाओं में न्यास और पदमंजरी टीकाएँ पूर्णरूप से समुपलब्ध हैं और उक्त टीकाओं में मूर्धन्य स्थान रखती हैं। समस्त टीकाओं में इन दोनों टीकाओं का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया। और यह सिद्ध किया गया है कि ये दो टीकाएँ काशिकावृत्तिमें विशेष रूप से योगदान देने में सक्षम हैं।

पंचम अध्याय—यह कहा जा चुका है कि न्यास और पदमंजरी दोनों ही काशिका की व्याख्याएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। क्योंकि न्यास, मूल काशिका के अर्थ को स्पष्ट करने में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है जबकि पदमंजरी मूल ग्रन्थ की योजना पर उतना ध्यान नहीं देती। वह तो मूल ज्ञान पर चूकनेवाले छात्र की अनन्तर होनेवाली जिज्ञासाओं को समाहित करती है। "न पदान्तदुर्वचन०' अनचिच्च, स्थानिवदा०, अचःपरस्मिन्०,' इत्यादि सूत्रों की पदमंजरी व्याख्या इस कथन की पुष्टि के लिए ज्वलन्त प्रमाण है, यह भी कहा जा चुका है कि इसकी लेख शैली गूढ़ तथा पण्डित रूप वैद्य है। अपिच, व्याकरण के विषय में इनका नागेश के समान स्वैर विहार है। पदमंजरी के पढ़ने के बाद व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान इतना विपुल हो जाता है कि उसकी गति निर्बाध होती है। व्याकरणों का सिद्धान्त है कि स्फोट आठ प्रकार का होता है। इनमें से काव्य स्फोट अर्थ का जनक है। स्फोट एक प्रकार का ब्रह्म है। और स्फोट के ज्ञान से ही शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। वैयाकरणों की शाब्दबोध प्रक्रिया भी नैयायिकों से सर्वथा पृथक् है। नैयायक कृति विशेषक बोध मानते हैं और वैयाकरण कर्तृ विशिष्ट। इस प्रकार इन वैयाकरणों के सिद्धान्तों का दोनों ही व्याख्याकारों ने अत्यन्त सूक्ष्म रूप से परिपालन किया है। इस अध्याय में 'सरूपाणामेकशेषविभक्तौ' और 'भूवादयों धातवः पेर्णौ०' इत्यादि सूत्रों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन न्यास और पदमंजरी के दृष्टिकोण से किया गया है।

षष्ट अध्याय—इस अध्याय में प्रत्ययः, हेतुमति च, गयांप्रप्रातिपदि, इत्यादि सूत्रों की व्याख्या भाषा और प्रक्रिया की दृष्टि को अपनाते हुए यह सिद्ध किया गया है कि पदमंजरीकार ने लिंग, संख्या इत्यादि सिद्धान्तों पर एक वैज्ञानिक प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है।

सप्तम अध्याय—इस अध्याय में एकाचोद्वे प्रथमस्य के उस स्वरूप को प्रस्तुत

किया गया है जिसमें द्वित्व किसको किया जाय। न्यास और पदमंजरीकार ने अपने एकाध शब्दगत समास को प्रस्तुत करते हुए सिद्धान्तों को स्थिर किया है। और द्वित्व की परिभाषा पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। पूर्वत्रासिद्धम् और सिचिवृ० इत्यादि सूत्रों पर दोनों व्याख्याकारों के विवेचन प्रक्रिया पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विस्तरभिया विस्पष्ट नहीं कर सकते। यथा स्थान पर विशद व्याख्या की गयी है।

अष्टम अध्याय—इस अध्याय में भाष्यकार के उन सिद्धान्तों के प्रति इन दोनों व्याख्याकारों की आस्था दर्शायी गयी है जो कि व्याकरण निकाय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भाष्यकार ने कहीं-कहीं किसी-किसी सूत्र का खण्डन कर दिया तथा कहीं किसी सूत्र के अंश में मण्डन किया। और कहीं खण्डन करके भी "तदेकदेकं आचार्यस्य पाणिनेःमृश्यताम्" यह कहकर तथा "भवतः पाणिनेः आचार्यस्यदृष्टि-रेषः" यह कहकर भगवान पतंजलि ने आचार्य पतंजलि के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। एवं पदमंजरीकार व न्यासकार ने भी इस विषय में भाष्यकार का अनुगमन किया है। इस प्रकार इन व्याख्याकारों ने भाष्य के सिद्धान्तों की पूर्णरूप से पुष्टि की है। किन्तु, यहाँ महत्त्वपूर्ण रूप से दर्शाना यह है कि पदमंजरीकार ने काशिका के कई स्थलों का खण्डन करके भाष्य के सिद्धान्तों को अनुमोदित किया है। जो भाष्य के प्रति श्रद्धा के रूप में पदमंजरी का योगदान प्रतीक के रूप में है। न्यासकार ने जहाँ खण्डन मण्डन की प्रक्रिया को कुछ स्थान नहीं दिया वहीं पदमंजरीकार ने भाष्य के सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए खण्डन मण्डन की प्रक्रिया को उच्चतम स्थान दिया है। दोनों ही व्याख्याकारों ने महाभाष्य के सिद्धान्तों की पुष्टि में किस प्रकार से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है यह तो यथास्थान पर ही विस्तृत रूप से विवेच्य था। इसलिए यहीयहाँ पर संकेतमात्र में बता सकते हैं कि पदमंजरी और न्यास का भाष्य के सिद्धान्तों की पुष्टि में क्या योगदान रहा वह इस अध्याय में पूर्णरूप से निरूपित किया गया है।

नवम अध्याय—पदमंजरीकार का नव्याचार्यों पर विशेष रूप से प्रभाव इस-लिए पड़ा कि पदमंजरीकार भाष्य में अधिकतम श्रद्धा रखते थे और अपने ग्रन्थों के मूल में भाष्य को ही प्रामाणिक मानते थे। नव्याचार्यों ने भाष्य को आधार बनाकर अपने ग्रन्थों का सृजन किया। किन्तु जहाँ पर इन नव्याचार्यों को विवादग्रस्त सिद्धान्तों के विषय में आपत्ति हुई वहाँ पदमंजरीकार का पूर्णरूप से सहयोग तो लिया ही साथ-साथ नाम भी उद्धृत किया है। पदमंजरीकार का माधवीय धातु-वृत्ति, सिद्धान्तकौमुदी, वैयाकरण भूषणसार, इत्यादि इन ग्रन्थों पर स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है क्योंकि इन्होंने पदमंजरीकार के नाम का उल्लेख यत्र-तत्र उद्धृत किया है। सूक्ष्म निरीक्षण से अवगत होता है कि माधवी धातु-वृत्तिकार ने 19 स्थलों पर सादर स्मरण किया है। विस्तरभिया उन स्थलों का विवरण नहीं दिया जा

सकता। इस प्रकार से नव्याचार्यों पर किन-किन सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है इसका पूर्णरूप से विवेचन किया गया है।

इन दोनों व्याख्याओं का जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उसमें उक्त सम्पूर्ण बातों का समावेश है तथा मेरी लघु बुद्धि में यह अध्ययन व्याकरण शास्त्र के प्रेमियों के लिए नयी दिशा प्रस्तुत करेगा, यह प्रभु से प्रार्थना है।

महाकवि बिल्हण : एक अध्ययन

शोधकर्ता—वीरदेव
निर्देशक—डॉ० निगम शर्मा
वर्ष—1977

महाकवि बिल्हण संस्कृत साहित्य के उन मूर्धाभिषिक्त महाकवियों में से एक हैं जिनकी अनुपम काव्यकला, जान्हवी की अजस्र धारा के समान, विश्व के साहित्य साधकों को युगों तृप्त व पावन करती रहेगी। उनकी उपलब्ध रचनाएँ तीन हैं—(1) विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य, (2) कर्णसुन्दरी नाटिका, (3) चौर-पंचाशिका गीतिकाव्य। इस शोधप्रबन्ध की मुख्य आधारभूत सामग्री कवि की ये तीनों कृतियाँ हैं। विक्रमांकदेवचरित के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों का यह अनुमान है कि बिल्हण ने रामविषयक किसी काव्य की रचना भी की होगी। सूक्तिसंग्रहों में भी कुछ पद्य बिल्हण के नाम से मिलते हैं। पिशेल (Pischal) का अनुमान है कि बिल्हण ने सुभाषित पद्यों का संकलन भी किया था। और शिल्हण के नाम से प्राप्त होनेवाले सूक्ति संग्रह के संकलनकर्ता बिल्हण रहे होंगे जिन्हें किसी प्रकार भूल से शिल्हण मान लिया गया। शिल्हण के इस शतक की एक हस्तलिखित प्रति में बिल्हण का भी एक पद्य अवश्य मिलता है किन्तु अन्य पुष्ट प्रमाणों के अभावों में इस विषय में किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है।

विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य में ऐतिहासिक कथाभाग होने से यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य माना गया है। संस्कृत साहित्य में यद्यपि अनेक पद्य-ऐतिहासिक महाकाव्य तथा गद्य ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। किन्तु पद्य ऐतिहासिक काव्यों में विक्रमांकदेवचरित की तथा गद्य-ऐतिहासिक काव्यों में हर्षचरित की अत्यधिक प्रसिद्धि है। अपने महाकाव्य में ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश करने में बिल्हण ने इतनी तत्परता दिखलायी है कि यह काव्य कल्याण के चालुक्यवंशीय नरेशों का इतिहास जानने के लिए परमोपयोगी हो गया है। संस्कृत भाषा में ऐतिहासिकार्थ

प्रकाशन क्षमता को लेकर, समय-समय पर आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ होती रही हैं। कुछ विद्वान सम्भवतः डॉ० कीथ की विचारधारा से प्रभावित होकर संस्कृत में सफल ऐतिहासिक काव्य प्रणयन में शंका व्यक्त करते रहे हैं जबकि कुछ अन्य विद्वानों के मत में उनकी यह शंका विशिष्ट प्रमाणों के अभाव में सर्वथा निर्मूल है। अपने मत की पुष्टि में वे संस्कृत भाषा में लिखा विशाल साहित्य प्रस्तुत करते हैं। यही विवेचन इस शोध प्रबन्ध के प्राक्कथन का बहुत बड़ा अंश है।

प्रथम अध्याय में कवि के व्यक्तिगत जीवन के परिचय पर प्रकाश डाला गया है। विल्हण संस्कृत साहित्य के उन गिने-चुने कवियों में से हैं जिनके जीवन के विषय में हम निश्चयपूर्वक कुछ कह सकते हैं। कवि ने अपने महाकाव्य विक्रमांकदेवचरित के अठारहवें सर्ग में अपना परिचय स्वयं भी दिया है। इनकी इसी आत्म-कथा के आधार पर हमने उनके पूर्वजों तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा के विषय में विस्तार से लिखा है। विल्हण का जन्म प्रकृति की सुरम्य क्रीड़ास्थली काश्मीर में हुआ था। फलतः काश्मीर के ये प्राकृतिक दृश्य उनके काव्य प्रणयन में उन पर कितना प्रभाव छोड़ते हैं—यह भी साथ ही दिखलाया गया है। अन्त में महाकबि के काल निर्णय के साथ यह अध्याय समाप्त हुआ है।

दूसरा अध्याय भी महाकवि विल्हण के चरित सम्बन्धी विभिन्न पहलू प्रदर्शित करता है। उनकी ज्ञान गरिमा को प्रदर्शित करते हुए हमने उनके महाकाव्य के उदाहरण प्रस्तुत कर, उनके दर्शन, व्याकरण, पुराण, ज्योतिष, एवं छन्द सम्बन्धी गूढ़ ज्ञान की उचित प्रशंसा की है। भारतवर्ष के एक लम्बे भू-भाग की यात्रा करने-वाले इस महान साहसी कवि के अनुभव तथा व्यक्तित्व का उल्लेख भी इस अध्याय में हुआ है जो विश्व के लिए सदैव शिक्षाप्रद रहेगा। अध्याय का अन्तिम अनुभाग महाकवि के आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में है।

तृतीय अध्याय में महाकवि विल्हण की सबसे विशाल कृति विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य की साहित्यिक समालोचना की गयी है जिसमें सर्वप्रथम इस काव्य को महाकाव्य की कसौटी पर कसा गया है। फिर सम्पूर्ण महाकाव्य की संक्षिप्त कथा-वस्तु दी गयी है। तत्पश्चात नायक-नायिका का उदात्त चरित्र-चित्रण है। प्रकृति, चित्रण, मानवीय प्रकृति, अलंकार सौष्ठव, सफल रस परिपाक आदि पर भी सोदा-हरण विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अध्यायान्त में एक सूक्ष्म समीक्षण प्रस्तुत है—महाकवि विल्हण अपने महाकाव्य में ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह करने में कहाँ तक सफल हो पाये हैं।

चतुर्थ अध्याय महाकवि की नाटिका कर्णसुन्दरी पर आधारित है। नाटिका के लक्षणों से समन्वित इस नाटिका की विशेषताएँ प्रकट कर, विल्हण कवि के नाट्य शिल्प का परीक्षण भी इसमें हुआ है। अध्याय की समाप्ति पर कर्णसुन्दरी नाटिका की रत्नावली आदि प्रसिद्ध नाटिकाओं से साम्य दिखलाने का यत्न किया गया है।

महाकवि का गीतिकाव्य 'चौरपंचाशिका' पंचम अध्याय का प्रमुख विषय है। चौरपंचाशिका के निर्माण की पृष्ठ भूमिका से अध्याय प्रारंभ होता है। पंचाशिका का वास्तविक कर्ता कौन था, इस प्रश्न पर विद्वत्समाज में भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। इस पर भी विवेचना की गयी है। खण्डकाव्य की दृष्टि से चौरपंचाशिका की विशेषताएँ दर्शाकर मेघदूत और चौरपंचाशिका की तुलना की गयी है। विल्हण-उत्तरवर्ती गीतिकाव्यों पर एक विहंगम दृष्टिपात भी किया गया है। अन्त में महाकवि विल्हण की अन्य सम्भावित कृतियों का नाम निर्देश कर विभिन्न सुभाषित संग्रहों में विल्हण के नाम से प्राप्त विभिन्न विषयक श्लोकों का संकलन है।

षष्ठ अध्याय में महाकवि विल्हण और कालिदास की तुलना की गयी है जिसका मुख्य आधार स्वयं विल्हण कवि द्वारा लिखित प्रशस्ति है, जो इस प्रकार है "सद्यो यः पथिकालिदासवचसां श्रीविल्हणः सोऽधुना।" यह तुलना भाव पक्ष तथा कलापक्ष दोनों पर है। इस तुलना में अन्य प्रसिद्ध महाकवि भी समाविष्ट हैं। कर्ण-सुन्दरी और मालविकाग्निमित्र का भी अति संक्षेप में साम्य प्रदर्शित किया गया है।

सप्तम तथा अन्तिम अध्याय में महाकवि की सन्देशरूप सूक्तियों का सारसंग्रह है।

अन्त में संक्षिप्त उपसंहार के साथ इस शोध प्रबन्ध को विराम मिला है।

महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप

शोधकर्ता—सत्यव्रत 'राजेश'
निर्देशक—डॉ० वाचस्पति उपाध्याय,
वर्ष—1977

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में एम० ए० कक्षा के छात्रों को यजुर्वेद का महर्षि दयानन्द कृतभाष्य अन्य भाष्यकारों—उवट तथा महीधर भाष्य—से तुलना कराके पढ़ाते हुए देखा कि उक्त आचार्यों के भाष्यानुसार यजुर्वेद दार्शनमीमांसा यज्ञों का ही विधायक है। दोनों ही आचार्य अपने भाष्य का आधार कात्यायन श्रौतसूत्र को बनाते हैं। महीधर तो अपने भाष्य में कात्यायन श्रौतसूत्र को प्रतीक रखकर उनकी व्याख्या करते हैं। ग्रिफिथ ने भी अपने आंग्ल भाष्य को उक्त आचार्यों का अनुसारी बतलाया है। यजुर्वेद भाष्य से सम्बन्धित शतपथ ब्राह्मण में भी उपर्युक्त यज्ञों की ही चर्चा है। यद्यपि इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे सूत्र भी पाठक के हाथ आते हैं जिनसे अर्थों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। यथा 'राष्ट्रं' वा अश्वमेधः[1] असावादित्यौ अश्वमेधः[2], ब्रह्मादि[3], यज्ञों में विष्णुः'[4] आदि इन स्थलों पर राष्ट्र तथा आदित्य अश्वमेध के वाचक तथा यज्ञ ब्रह्म तथा विष्णु द्योतक हो जाता है। ये अर्थ मान लेने पर उपर्युक्त शब्दों में अश्व को मारकर यज्ञ में डालने का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता पुनरपि वहाँ ऐसे संकेत भी मिलते हैं, राष्ट्र आदि का पालन अश्वमेघ हो जाता है। जिनसे अश्वमेघ आदि की क्रियाओं की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार यजुर्वेद क्रियाकाण्डमात्र का विधायक तथा विनियोगों की शृंखला में आवद्ध होकर

1. शत० 13-1-6-3।।
2. शत० 9-4-2-18।।
3. शत० 5-3-2-4।।
4. 13-1-8-8।।

रह गया था चाहे विनियोग मन्त्रों के वर्णित अर्थ से विपरीत ही क्यों न हो।

किन्तु महर्षि दयानन्द के भाष्य से पता चलता है कि यजुर्वेद केवल यज्ञों का ही विधायक नहीं है अपितु इसमें समाज से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उच्च तत्त्वों का समावेश है। कई विषय तो विज्ञान के लिए भी नूतन हैं, कृषि के लिए भूपरीक्षण[1], भूमि तथा बीज को संस्कृत एवं सुगन्धित करके बोना,[2] ज्वालामुखी तथा सूर्यप्रकाश से विद्युत निकलना[3] तथा रश्मि से रथ अर्थात् यान का चलना[4] आज के विज्ञान के लिए नूतन हैं, जबकि महर्षि दयानन्द ने एक शती पूर्व इन सबका उल्लेख किया था। इससे उन लोगों को भी सोचना पड़ेगा कि जो यह कहते हैं कि "जो नूतन आविष्कार विज्ञान निकाल देता है उसे ही लोग वेदों से सिद्ध करने लगते हैं। यदि यह वेदों में था तो पहले उसका उल्लेख क्यों न किया।"

महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य पर सामाजिक दृष्टि से किसी ने भी कार्य नहीं किया। कुछ थोड़ा-सा कार्य जो हुआ है वह इस विषय पर प्रकाश नहीं डालता। महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य पर सामाजिक तत्त्वों की दृष्टि से विचार करना अतीव आवश्यक है। जिससे वेद में रुचि रखनेवाले भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों के सामने यजुर्वेद का एक नूतन रूप भी सम्मुख आये जिसमें केवल यज्ञों की ही नहीं अपितु उन्नत समाज से सम्बद्ध तत्त्वों के समावेश का दर्शन भी वे कर सकें। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख कर मेरा यह प्रयास है।

प्रथम अध्याय

वैदिक समाज में विचार का महत्त्व, यजुर्वेद में प्रतिपादित समाज संगठन का महत्त्व, भारतीय समाज की वेदमूलकता, यजुर्वेद के भाष्यकार, महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की विशिष्टता (पुनरुक्ति दोष, निवृत्ति, हिंसा, निषेध, अश्लीलता निवारण, वाचक-लुप्तोपमाविका प्रयोग, असम्भव अर्थ निवृत्ति, इतिहास-निराकरण, यौगिक अर्थ, अयुक्त विनियोग मुक्ति, जन-जीवन से सम्बन्ध आदि)।

द्वितीय अध्याय

महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज के वर्ग, वर्ण पद का अर्थ, वर्ण व्यवस्था का आधार, गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था से लाभ, वर्ण तथा जाति, महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में वर्ण सम्बन्धी शब्द, वर्ण परिवर्तन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र,

---

1. यजु० 12-71॥
2. 12-69 तथा 70 भा०
3. 13-45 भा० ॥
4. 23-14 भा०॥

के कर्तव्य, ऋग्वेद में वर्ण शब्द, यजु साम अथर्व में, वर्णों का उल्लेख शूद्रों के कर्तव्य, शूद्र की सामाजिक स्थिति, वेद और शूद्र, शूद्र और वेदाध्ययन, शूद्र का यज्ञाधिकार, शूद्र और यज्ञोपवीत्, शूद्रों से प्रेम और सहानुभूति।

तृतीय अध्याय

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य में वर्णित आश्रम व्यवस्था, आश्रम शब्द की परिभाषा, आश्रम की महत्ता, आश्रम धर्म, आश्रमों की संख्या एवं क्रम का विवेचन, आश्रमों का उद्देश्य, आश्रमों के करणीय कर्म, आश्रमों का वेदों में उल्लेख, ब्रह्मचर्याश्रम, ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ, ब्रह्मचारीपद की व्युत्पत्ति, ब्रह्मचर्य का महत्त्व, ब्रह्मचर्य की कोटियाँ, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, ब्रह्मचारी के अध्ययन सम्बन्धी कर्तव्य, गुरु सेवन, आत्मोन्नति, माता-पिता के प्रति ब्रह्मचारी का कर्तव्य, ब्रह्मयज्ञ, वेदयज्ञ, गृहाश्रम का महत्त्व, गृहस्थ में प्रवेश की प्रेरणा, गृहाश्रम में प्रविष्ट होने का समय, विवाह की महत्ता, विवाह के लिए पुरुष की योग्यता, विवाह योग्य कन्या, विवाह में आवश्यक कुछ अन्य बातें, विवाह का प्रकार, स्वयंवर विवाह, स्वयंवर के लिए रागनियम, स्वयंवर विवाह के लिए माता-पिता का तथा आचार्य का कर्तव्य, कुमारियों को स्वयंवर का उपदेश, स्वयंवर विवाह से लाभ, विवाह का स्थान, गृहस्थ धारक तत्त्व, स्त्री का पति के प्रति कर्तव्य तथा व्यवहार, उत्तम यौवन निर्माण, पति के मन की सुरक्षा, धार्मिक कृत्यों में सहयोग, पति-पत्नी के सम्मिलित कर्तव्य, सहभोज आदि, पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि, अन्य कर्तव्य, गृहस्थों का वस्त्राभूषण, गृहस्थों का भोजन, सन्तानोत्पत्ति, सन्तान का पालन तथा सन्तान की शिक्षा, वानप्रस्थ क्या है ? वानप्रस्थ का काल, वानप्रस्थ के कर्तव्य, संन्यास क्या है ? संन्यास के मुख्य कारण, संन्यासी का कर्तव्य।

चतुर्थ अध्याय

स्त्रियों के सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय अधिकार तथा कर्तव्य, महर्षि दयानन्द से पूर्व आचार्यों के स्त्रीविषयक मन्तव्य, महर्षि दयानन्द से पूर्व के आचार्यों द्वारा नारी की महत्ता तथा प्रशंसा का चित्रण, माता के रूप में नारी का गौरव, पत्नी के रूप में नारी। कन्या के रूप में नारी की महत्ता। ऋग्वेद में नारी का स्वरूप, महर्षि दयानन्द के नारीविषयक विचार (वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में), स्त्रियों के सामाजिक अधिकार, शिक्षा, स्त्री की वेदाध्ययन सम्बन्धी विभिन्न मान्यताएँ, स्त्री के गृह सम्बन्धी अधिकार, सम्मान की दृष्टि से नारी का स्थान, स्त्रियों के धार्मिक अधिकार, यज्ञ, महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में स्त्री और यज्ञ, ईश्वरोपासना, स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार—नीतिविद्यादान, न्यायासन, युद्ध, सम्राज्ञी के कार्य

स्त्री के कर्तव्य, स्त्री के सामान्य कर्तव्य और गुण, स्वयं के प्रति, माता-पिता के प्रति, पति के प्रति, सन्तान के प्रति, गृह के प्रति ।

पंचम अध्याय

यज्ञ का विस्तृत अर्थ, यजुर्वेद भाष्य में उल्लिखित यज्ञ के अर्थ, पंच महायज्ञ और उनका प्रकार—ब्रह्मयज्ञ—यजुर्वेद भाष्य में स्मृति, यजुर्वेद में प्रार्थना, यजुर्वेद में उपासना, देवयज्ञ—यजुर्वेद में यज्ञ करने का उल्लेख, यज्ञ के साधन, यजुर्वेद भाष्य में पितृयज्ञ, बालिवैश्वदेव यज्ञ, अतिथि यज्ञ, गौमेध आदि शब्दों पर विचार, गौमेध अश्वमेध, अषमेध, अविमेध, पुरुषमेध, यज्ञों में प्रचलित हिंसा पर विचार, संस्कार षोडश ।

षष्ठ अध्याय

विहित निषिद्ध कार्यों का सम्बन्ध, शरीर से सम्बद्ध कार्य, मन से सम्बद्ध कार्य, बुद्धि से सम्बन्धित कार्य, आत्मा से सम्बन्धित, आत्मोन्नति के उपाय, अन्य प्राणियों के साथ व्यवहार, सममानव, सामान्य, धर्मनिष्ठता, पाप निवृत्ति के उपाय, आलस्य त्याग, पुरुषार्थ, धनार्जन, सत्यव्रत का आचरण, स्वाधीनता, यशप्राप्ति, निषिद्ध-कर्म, हिंसा, पाप, गृहस्थ के लिए निषिद्ध कार्य, विद्वानों का अनादर, अन्य निषिद्ध कार्य, यजुर्वेद अध्याय 30 में वर्णित निषिद्ध कार्य ।

सप्तम अध्याय

शिक्षा का उद्देश्य, पशुत्व निवारण, मनुजत्व प्राप्ति, पृथिवी आदि तत्त्वों से शरीर का सुख प्राप्त करना, अंगादि की पुष्टि तथा परकल्याण-भावना, वाणी आदि इन्द्रियों का शोधन, सद्गुणायधान, अविधादिमलों की निवृत्ति, विद्वान् तथा सुसभ्य बनना, आत्मबोध तथा आत्मशुद्धि, अन्य उद्देश्य, शिक्षा तथा शिक्षा में अन्तर, आचार्य तथा शिष्य का परस्पर सम्बन्ध, विद्याग्रहण का काल, विद्याध्ययन का स्थान, सह-शिक्षा का निषेध, शिक्षण में माता-पिता का दायित्व, शिक्षक एवं उनका दायित्व, कुछ सम्मिलित कर्तव्य, अध्ययनक्रम, छात्रों की परीक्षा, दैनिक, मासिक, परीक्षा का उद्देश्य, परीक्षा का प्रकार, शिक्षा में खण्ड विधान, शिक्षण विषय, कृषि, पाक, औषध, विज्ञान सम्बन्धी, भूगर्भ विद्या, दार्शनिक विद्याएँ, वेदविषयक अन्य विद्याएँ, धर्मशिक्षा ।

अष्टम अध्याय

राजा की आवश्यकता, राजा की योग्यता, राजा के गुण तथा कर्तव्य, राजा के लिए अकर्तव्य, निर्वाचन व्यवस्था, शासन व्यवस्था, राज्य संचालन के लिए तीन

सभाएँ, राजसभा, आरोग्य, पक्षी तथा पशु रक्षा, राजा तथा अन्य सभासदों के लिए अत्यन्त उपयोगी सुझाव, विद्या प्रसार, धर्म प्रसार, न्याय व्यवस्था, न्याय से राजा को लाभ, न्याय करना राजा का यज्ञ, न्याय की विधि। स्त्रियों का न्याय रानी करे, न्यायाधीश की योग्यता, न्याय करना सभी का कर्तव्य, युद्ध, युद्ध की आवश्यकता, स्त्रियों को भी युद्ध विद्या का ज्ञान, युद्ध में स्त्रियाँ, युद्ध के लिए सेना, युद्ध में चार प्रकार के व्यक्ति, सेनापति, युद्ध-यात्रा का समय, युद्ध सज्जा, युद्ध के उपकरण, धनुष आदि, व्यूह रचना, युद्ध का प्रकार, युद्ध के नियम, योद्धाओं को सुविधा और सत्कार, दण्ड व्यवस्था, राजा को दण्ड, राजा द्वारा अपराधी को विविध दण्ड, राजपुरुषों द्वारा दण्ड, दौत्य, यातायात अन्य ग्रन्थों में पानोल्लेख, कर-व्यवस्था, कर ग्रहण का प्रयोजन।

नवम अध्याय

समाज की पूर्णता के लिए आवश्यक विविध व्यवसाय कृषि, पशुपालन एवं विविध व्यवसाय, राष्ट्र रक्षा से सम्बन्धित व्यवसाय, सामान्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ जुटाने-वाले व्यवसाय, पाचक, स्त्री स्वयं भी भोजन बनाती है, पाचक का सम्मान, सौन्दर्य तथा मनोरंजक व्यवसाय, विद्या सम्बन्धी व्यवसाय, अध्यापक, उपदेशक, पुरोहित, वैद्य आदि, अन्य व्यवसाय, नौका-निर्माण, विविध व्यवसायों का अन्यत्र उल्लेख। कृषि, कृषि साधन, कृषि के प्रकार, उत्तम अन्न की प्राप्ति, सिंचाई, कृषि के प्रबन्धक तथा रक्षक, फसल का काटना तथा अनाज से भूसा पृथक् करना, भू-परीक्षण, अन्य वेदों में कृषि का उल्लेख, परवर्ती संहिताओं में ब्राह्मणों में कृषि का उल्लेख, पशुपालन, पशु रक्षा, पशु पोषण, वर्णन, पशुओं से लाभ, विविध शिल्प, शिल्प का उल्लेख, विभाग, अग्निबल विद्युत का शिल्प में नियोजन, अग्नि से भारवाहन करने का कार्य लेना, विद्युत से सिद्ध होनेवाला शिल्प कार्य, बलादि से निष्पन्न होनेवाला शिल्प, यान, वास्तुशिल्प, काष्ठादिशिल्प, प्रस्तर-शिल्प।

वैदिक—सोम का समीक्षात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—श्रीमती नीरांजना शर्मा
निर्देशक—(1) श्री पं० धर्मदेव विद्या मार्तण्ड
(2) डा० निरूपण विद्यालंकार
वर्ष—1977

प्रथम अध्याय

सोम के विविध नाम, स्वरूप और समन्वय

प्रथम अध्याय में सोम के विविध नामों पर विचार किया गया है जो कि संक्षेप में इस प्रकार हैं—

सोम

इस जगत को शास्त्रों में (अग्नीषोमात्मकं जगत्) अग्नि और सोम इन दो भागों में विभक्त किया गया है। संसार में जितना भी निर्माण कार्य हो रहा है वहाँ घट-बढ़ रूप में ये उपरोक्त दो तत्त्व व दो विभाग अवश्य विद्यमान होंगे। जितने भी आर्द्र तत्त्व हैं, द्रव व रस रूप हैं, वे सोम विभाग में आते हैं तथा जितने शुष्क तत्त्व हैं वे अग्नि विभाग में परिगणित किये गये हैं (द्रष्टव्य—श० प० 1/6/3/23)।

सोम पर विचार करते हुए मैंने इसी व्यापक दृष्टिकोण को सामने रक्खा है। परन्तु यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि सोम का यह प्रयोग तो पारिभाषिक प्रतीत होता है क्या सोम कोई विशिष्ट तत्त्व भी है कि नहीं ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि सोम एक विशिष्ट तत्त्व भी है। वह एक सूक्ष्मतम तथा देदीप्यमान भौतिक तत्त्व है जो कि जल आदि द्रव पदार्थों से पृथक् है। जलादि द्रव पदार्थ उसके आयतन हैं। इन आयतनों को भी गौणीवृत्ति से सोम कह दिया गया है।

सर्वप्रथम विशेषणों, मन्त्रों व मन्त्र पदों के द्वारा सोम के सामान्य गुणधर्मों—स्वादिष्ट, मदिष्ठ तथा चेतनाप्रद आदि गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है।

तत्पश्चात् सोम का जो आदिम रूप है जिसे कि मन्त्रों में पूर्व्य, प्रत्न, प्रथम तथा अग्रिम आदि नामों से स्मरण किया गया है उनका संक्षिप्त विवेचन किया है।

सोम का आदिम रूप जो कि सृष्टि के प्रारम्भ में होता है वह शुद्ध पवित्र (पवमान) क्लेदन व स्नेहन गुण वाला तथा देदीप्यमान होता है। (उन्दी, क्लेदने, त्रिदन्धी दीप्तौ)। यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। सृष्टि में इस सोम के शुद्ध पवित्र रूप की सत्ता द्युलोक में होती है। अन्तरिक्ष तथा पृथिवी पर वह आदिम सोम मिश्रित व अशुद्ध हो जाता है। जिसे पवमान अर्थात् पवित्र करने की आवश्यकता होती है। इस सोम में कई विभाग होते हैं। इन विभागों को अंशु नाम से कहा जाता है। शाखायन ब्राह्मण में इन अंशुओं को दस विभागों में विभक्त किया जाता है। ये दस विभाग निम्न हैं—

1. प्रत्न
2. तृप्त-आपः
3. रस-व्रीहि
4. वृष-यव
5. शुक्र-पय
6. जीव-पशु
7. अमृत-हिरण्य
8. ऋक्
6. यजः
10. साम

ये उपरोक्त सोम के दस अंशु अर्थात् दस विभाग शाखायन ब्राह्मण (13/4) के आधार पर हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन मन्त्रों के आधार पर किया गया है। परन्तु वेदमन्त्रों में यह भी ध्वनित होता है कि सोम के अंशु दस संख्या से भी अधिक हैं। (देखो—अथर्व० 19/6/16)

पवमान

सोम का पवमान नाम उसकी शुद्धता व पवित्रता को दर्शाता है। जिसमें किसी प्रकार का मिश्रण न हो वह शब्द पूङ् पवने तथा पूङ् शोधने धातुओं से निष्पन्न होता है। जब इस शुद्ध पवित्र सोम का ही किसी से मिश्रण होता है तो उसके गुण धर्म उसमें आरोपित हो जाते हैं अतः इस मिश्रित व अशुद्ध सोम को छानने का विधान किया है, क्षेत्र भेद से छाननेवाली छाननियों का भी वर्णन किया गया है।

इन्दु

सोम में क्लेदन (आर्द्रता) तथा दीप्ति ये दोनों गुण जब दर्शाने होते हैं तब सोम को

इन्दु कह देते हैं। जल तथा अन्य रसों में जो आर्द्रता है वह इन्दु के कारण है। इसी दृष्टि से सोम को ऊपोवसान ऊपोवृणातः आदि शब्दों से अभिहित किया है। सोम में स्नेहन गुण होने से दीप्ति पैदा करना भी इसका कार्य है। (त्रि इन्धी दीप्तौ)। यह इन्दु इन्द्र का प्रमुख रूप से पेय है। वस्तुतः इन्द्र की सत्ता इन्दु के कारण है। इन्दवे द्रवतीतिवा इन्दौ रमते वा आदि इन्द्र की व्युत्पत्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि इन्दु का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी दृष्टि से इन्दु रिन्द्रो वृषा हरिः ऋ० 9/5/9 तथा इन्दविन्द्र इति० ऋ० 9/6/2 इत्यादि मन्त्रों की सुसंगति हो सकती है। एक प्रकार से इन्दु ही इन्द्र का रूप धारण करता है, यह ध्वनित होता है।

अन्धस्

अन्धस् शब्द सोमान्न का वाचक है। प्रमुख रूप से यह देवों का अन्न है। यास्क ने इसकी जो निरूक्ति (आ-ध्ये चिन्तायाम्) दी है अर्थात् इसका समग्र प्राणी निरन्तर ध्यान करते हैं तो यह सामान्य भौतिक अन्न का भी वाचक होता है।

कवि

सोम में अनेकों गुण व शक्तियाँ हैं। कवित्व शक्ति भी इसमें है। वेद की कवित्व शक्ति क्रान्तदर्शिता को बताती है। इस सोम रस को पान करनेवाले व्यक्ति में क्रान्तदर्शन की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसके लिये कोई प्रच्छन्न व तिरोहित नहीं रहता।

हरि

हरि शब्द सोम के हरित वर्ण को दर्शाता है। सोम का यह नाम सोमलतादि औषधि समूहों की ओर संकेत करता है। हरणात् हरि व्युत्पत्ति करने पर उसके व्याधि शमन; चिन्ता, शोक आदि को तथा आवरणों के विनाश को बताता है। त्रिविध तापों को हरने से परमात्मा भी हरि है।

द्वितीय अध्याय

सोम के धाम

सोम सर्वत्र ओत-प्रोत है। इसे मन्त्रों में द्यावा पृथिवी का गर्भ बताया गया है। फिर भी प्राचुर्य आदि की दृष्टि से इसके विशिष्ट धाम बताये गये हैं। या ते धामानि विधि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वो षधीष्वप्सु-—ऋ० 1/91/4

द्युलोकस्थ सोम

दिवि सोमो अधिश्रितः—अथर्व॰ 14/1/1

दिवि वे सोम आसीत्—श॰ प॰

तृतीयस्ममितो दिवि सोम आसीत्—तै॰ ब्रा॰ 1/1/3/20

दिवः कविः, दिवः पीयूषं—ऋ॰

इत्यादि वाक्यों से द्युलोकस्थ सोम का वर्णन हुआ है। यह द्युलोकस्थ सोम शुद्ध, पवित्र तथा सर्वोत्कृष्ट माना गया है। पारसी धर्म में द्युलोक का दिग्दर्शन कराया गया है। द्युलोक से सोम का पृथिवी पर अवतरण, आदि।

अन्तरिक्षस्थ सोम—चन्द्रमा—चन्द्रमा को औषधियों का अभिपति माना है। इसकी रश्मियों द्वारा सोम औषधियों में प्रविष्ट होता है। जैमिनियोपनिषद् ब्राह्मण में चन्द्रमा के सोमरूप का विस्तृत वर्णन है। देवों द्वारा सोम (चन्द्रमा) का भक्षण, चन्द्रमा की वृद्धि तथा क्षय आदि का दिग्दर्शन हुआ है।

वायु में सोम

वायुमारोह धर्मणा—ऋ॰ 9/63/22

जुष्टो वायेव—9/70/8

इत्यादि मन्त्रों द्वारा दिग्दर्शन कराया है।

पार्थिव सोम

औषधीसोम—सोमलता विषयों पर विस्तार से विचार हुआ है। सुश्रुत संहिता में वर्णित सोमलता का वर्णन सोम रस निकालने का क्या प्रकार है इत्यादि विषयों पर विचार किया है। सोम लता की उपलब्धियों के लिए आधुनिक विद्वानों ने क्या-क्या प्रयत्न किये हैं तथा ईरानी वर्णन से भी अन्वेषण में सहायता ली गयी है। दक्षिण भारत में सोम सवन—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन इन तीन सवनों पर विचार किया है। सोम सवन करनेवाले अद्रि और ग्रावा क्या हैं भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के सोमरस का सवन करनेवाले अद्रि और ग्रावा भी भिन्न-भिन्न हैं।

तृतीय अध्याय

सोम परमात्मा

सब देव शक्तियाँ भगवान् की ही शक्तियाँ हैं। मन्त्र भी यही कहते हैं। उदाहरणार्थ—

तदेवाग्निंस्तदादित्यास्तद् वायुः स्तदुचन्द्रमाः

आदि मन्त्र दिखाये जा सकते हैं। इसी प्रकार सोम भी परमात्मा की ही एक शक्ति है। सोम सम्बन्धी मन्त्रों में प्रायः सभी मन्त्र परमात्मा के गुणगान में घटाये जा सकते हैं। हमने उदाहरणार्थ कुछ ही मन्त्रों को यहाँ प्रस्तुत किया है।

सोम और मानव

सोम सूक्तों में कई स्थलों पर सोम मनुष्य रूप में भी चित्रित हुआ है। वस्तुतः सोम मनुष्य में रस रक्तादि के माध्यम से औषध रूप में परिणत हो कहीं ब्रह्म शक्ति, कहीं क्षात्र शक्ति को, कहीं कवित्व व विद्वत्ता को, कहीं कला-कौशल को प्रकट करता है। इन शक्तियों से युक्त मनुष्य को सोम कह दिया गया है।

सोम और सुरा

सोम और सुरा पृथक्-पृथक् हैं या एक ही हैं यह एक बड़ा विवादास्पद विषय है। विद्वानों में तो इस सम्बन्ध में मतभेद ही हैं पर शास्त्र में भी ऐसे उद्धरण व वाक्य आते हैं जिनसे हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। वहाँ सुरा शब्द अच्छे अर्थ में भी है और बुरे अर्थों में भी है। स्वामी दयानन्द ने अपने आप में सुरा को सोम माना है। मद्य को उन्होंने बुरा माना है। इस विषय का पक्ष-विपक्ष में मन्त्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरणों से विवेचन किया है। आयुर्वेद ग्रन्थों से भी इसके गुणावगुण को दर्शाया है।

विश्वरूप

त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्षा विश्वरूप के आख्यान को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

शरीर में सोम

शरीर सोम ओज, श्लेष्मा, इन्द्रिय रस आदि रूपों व आयतनों में रहकर चेतना आदि का प्रदाता है। मस्तिष्क में बुद्धि आदि का सहायक है। शास्त्र में आता है—शीर्षकचत्वारः कूपाः—श० प० 3/5/4/1 ये चार कूप वैण्ट्रकलस हैं। आयुर्वेद ग्रन्थों में भी ओजः सोमात्मकं स्निग्धं आदि रूपों में इसका स्तवन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय

सोम के सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों के उद्गार
श्री अरविन्द और सोम

श्री अरविन्द सोम का प्रमुख रूप से आध्यात्मिक रूप ही उजागर करते हैं। उनका कहना है कि सोम आनन्द के रस का आमृत रस अधिपति है। वह आत्मा को धारण

करता है और उस आत्मा में से सब दिव्य रचना को उत्पन्न कर देता है। उनका यह कहना है कि 'अतप्रतनूर्नतदामो अश्नुते' अर्थात् जिस प्रकार कच्चा घड़ा पानी को नहीं थाम सकता उसी प्रकार जिसका शरीर संतप्त नहीं हुआ है उसका आस्वादन नहीं कर सकता। 'श्रुतास इद् वहन्तः तत् समाशत' केवल वे ही जन जो अग्नि में पक चुके हैं उसे धारण कर पाते हैं। शरीर के अन्दर उँड़ेला हुआ दिव्य जीवन का रस एक तीव्र उमड़ कर प्रवाहित होनेवाला प्रचण्ड आनन्द है। उस शरीर में यह नहीं थामा जा सकता जो कि जीवन की बड़ी-से-बड़ी अग्नि ज्वालाओं में तपी गयी कठोर तपस्याओं द्वारा तथा कष्ट सहन और अनुभव द्वारा इसके लिए तैयार हो पाया है।

महर्षि दयानन्द और सोम

महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में जितना वे कर चुके हैं। [यजुर्वेद सम्पूर्ण तथा ऋग्वेद मण्डल (7म) 61 सूक्त के 2य मन्त्र तक] उसमें इतस्ततः आये सोम मन्त्रों के आधार पर सोम के अनेकों अर्थ किये हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों ने विभिन्न क्षेत्रों के आधार पर सोम के तद्नुकूल अनेकार्थ प्रदर्शित किये हैं उसी प्रकार स्वामी दयानन्द के भी सोम शब्द के अनेकार्थ अनेक क्षेत्रों के द्योतक हैं। यथा—परमात्मा, यज्ञ, अध्ययन, अध्यापन, संसार, जन, राजा, सेना प्रेरक, विद्वान, औषधी रस, सोमलता के 24 भेद आदि।

डा० रेले

डा० रेले सोम के मानव शरीरान्तर्गत स्वरूप को दर्शाते हैं, उनके मन्त्र में मस्तिष्क द्रव (Ceretere spinal fluid) सोम रस है। वे लिखते हैं द्रव—According to the biological theory the nervus system which esembles a tree is personified as a soma plant and its secretion ceretere-spinal fluid within it is to be identified as the soma-juice.

श्री कपालि शास्त्री

श्री कपालि शास्त्री अपने ऋग्वेद के सिद्धांजन भाष्य की भूमिका में सोम का जो स्वरूप प्रदर्शित करते हैं वह श्री अरविन्द की तरह आध्यात्मिक स्वरूप का है।

श्री माधव पण्डित

श्री माधव पण्डित श्री अरविन्द के अनुयायी हैं। उन्हीं के समान ये भी सोम के आध्यात्मिक रूप को अधिक उजागर करते हैं। वे लिखते हैं—

It is this sap of delight, rasa, the draught of all experience and life that is called soma in the parlence of the vedic mystics.

The deity presiding over this rasa of life is soma, the Lord of delight.

पंचम अध्याय

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त सोम सम्बन्धी उपाख्यान

इस अध्याय में शतपथ ब्राह्मण, जेमिनीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में आये द्युलोक से गायत्री श्येन द्वारा सोमाहरण सम्बन्धी अनेकों उपाख्यानों का स्पष्टीकरण किया गया है। सोम राजा का आतिथ्य, सुपर्ण का देह संघात, आदि कथानकों को देकर उनका स्पष्टीकरण किया गया है।

षष्ठ अध्याय

सोम और जगत्

यह जगत् दो तत्त्वों से मिलकर बना है। अग्नि और सोम इसी कारण अग्निषोमात्मकजगत् ऐसा प्रसिद्ध है। सोम क्लेदन आर्द्र करनेवाला है। बिना आर्द्रता के दो तत्त्वों का सम्मिश्रण व मेल हो ही नहीं सकता। सृष्टि उत्पत्ति में यह सोम सीमेण्ट गारे आदि को मिलाने में जल के समान कार्य करता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के दायभाग का आलोचनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—रणवीर
निर्देशक—डॉ. वाचस्पति उपाध्याय
वर्ष—1979

दायभाग के समालोचनात्मक अध्ययन के लिए प्रवृत्त होने में मेरा जो मुख्य ध्येय रहा है, उसका प्रेरक उत्स उन सभी मनीषियों का चिन्तन रहा है जिन्होंने इस दिशा में कार्य किया है। परन्तु मूलरूप में विज्ञानेश्वर के पूर्ववर्ती व्याख्याकार विश्वरूप, उत्तरवर्ती व्याख्याकार अपरार्क, सुबोधिनी एवं बालम्भट्टी आदि उपेक्षित टीकाकारों के विचारों का प्रतिपादन करना रहा है जिनका कि प्रतिनिधित्व किसी भी कारणवश आज तक समग्र रूप से नहीं हो पाया है। वस्तुत: लब्ध प्रतिष्ठित व्याख्याकारों के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है, लेकिन प्राय: सामान्य या मध्यम स्तर के टीकाकारों की उपेक्षा जाने अनजाने हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात सम्भवत: नहीं है। इस शोध प्रबन्ध में मेरा यह विनम्र प्रयास रहा है कि विज्ञानेश्वर एवं जीमूतवाहन के विचारों के साथ-साथ विश्वरूप एवं अपरार्क आदि के विचारों का भी तात्विक एवं वैचारिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाये, जो आज तक मेरी जानकारी में नहीं हुआ है। इस शोध-प्रबन्ध के लेखन में मूलत: मौलिक कृतियों का ही आश्रय लिया गया है। व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत किये गये समस्यामूलक विषयों की अभिव्यक्ति कितनी सक्षम एवं तर्कसंगत हो सकी है, इसका निर्णय करने में मैं स्वयं असमर्थ हूँ तथापि व्याख्याकारों के हृदयों को निष्ठापूर्वक प्रस्तुत करने का मेरा हार्दिक प्रयास रहा है।

इस शोध प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय को भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें याज्ञवल्क्य, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं उसके महत्व पर तथा टीकाकारों एवं उपटीकाकारों के समय व उनकी टीकाओं का सामान्य परिचय दिया गया है।

'दायभाग का स्वरूप एवं विभाजनकाल' नामक द्वितीय अध्याय से याज्ञवल्क्य के विचारों के साथ टीकाकारों का आलोच्य विषय प्रारम्भ किया गया है। सर्वप्रथम दाय शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए मिताक्षरा एवं दायभाग के जन्मस्वत्ववाद तथा उपस्वत्ववाद का ऐतिहासिक पक्ष प्रस्तुत करके स्वत्व को शास्त्रीय न मानकर लौकिक क्रियाओं की सिद्धि का हेतु होने से विज्ञानेश्वर ने लौकिक सिद्ध किया है। विभाग लक्षण में जहाँ जीमूतवाहन विभाग को स्वत्व का ज्ञापक मानते हैं वहाँ विज्ञानेश्वर, विश्वरूप एवं अपरार्क आदि के साथ स्वत्व के विद्यमान होने पर व्यवस्था करने मात्र को विभाग मानते हैं। संयुक्त सम्पत्ति में इस प्रकार विज्ञानेश्वर के मत से दाय की घटोतरी एवं सदस्य की मृत्यु होने पर बढ़ोतरी भी होती रहती है जबकि जीमूतवाहन के अनुसार उपरत होने पर प्राप्त होनेवाला दाय किसी भी रूप से घट-बढ़ नहीं सकता है। विभाजन काल एवं विधि के विषय में भी विज्ञानेश्वर विश्वरूप एवं अपरार्क आदि किंचित् वैमत्य के साथ एकमत रखते हैं। पैतृक धन में जन्म से स्वत्व मानने के कारण पुत्रों की इच्छा की बलवत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। जिससे विज्ञानेश्वर कृत विभाजन के चार काल स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं रहती जबकि जीमूतवाहन इसके विपरीत विभाजन के दो ही समय स्वीकार करते हैं। विज्ञानेश्वर के मत में चार विभाग काल ये हैं—1. पिता की इच्छा से, 2. पिता की मृत्यु के उपरान्त, 3. पुत्रों की इच्छा से तथा 4. पिता के अशक्त, रोगी, पागल आदि होने पर। जीमूतवाहन के मतानुसार दो विभाजन समय इस प्रकार हैं—1. पिता की इच्छा से, 2. पिता की स्वत्व निवृत्ति (मृत्यु, संन्यास आदि कारणों से) होने पर। इसी प्रकार पितामह धन के विभाजन काल भी यथावत् ही रहते हैं।

पितृधन की विभाजन विधि के विषय में कई मत दृष्टिगोचर होते हैं। स्वार्जित पितृधन में पुत्रों का विभाजन का प्रकार स्पष्ट नहीं है। किन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात भी विभाजन प्रकार निश्चित नहीं हो पाया। याज्ञवल्क्य के आधार पर विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क एवं बालम्भट्टीकार ने समविभाग पर बल दिया है किन्तु विश्वरूप एवं अपरार्क उद्धार विभाग को भी स्वीकार करते हैं। जीमूतवाहन ने स्वार्जित पितृद्रव्य में तो न्यूनाधिक विभाग माना ही है, इसके साथ पिता की मृत्यु के पश्चात् होनेवाले विभाग में भी समविभाग के साथ उद्धार विभाग को प्रमुखता दी है। याज्ञवल्क्य के वचनों से समविभाग उपयुक्त प्रतीत होता है।

पितामह धन की विभाजन विधि में पितृतविभाग की व्यवस्था जहाँ जीमूतवाहन एवं विश्वरूप के मतानुसार संयुक्त सम्पत्ति में पुत्रों के स्वत्व को कम करती है वहाँ विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क आदि के मत में 'सदृशं स्वाम्यं' पद पिता पुत्र को पैतामहधन के विषय में एक ही धरातल पर खड़ा कर देते हैं। पैतामह धन के विभाजन में समविभाग ही होता है यह विज्ञानेश्वर, अपरार्क सुबोधिनीकार एवं

बालम्भट्टीकार ने स्वीकार किया है। विश्वरूप ने इसके आधार पर अविभक्तावस्था तक पुत्रों का पैतामह धन में जन्म से स्वत्व स्वीकार कर लेने पर सम या विषम विधि में से एक का ग्रहण नहीं किया है। जीमूतवाहन इस श्लोक की व्याख्या भिन्न प्रकार से करके अपने उपरम एवं उपकारकत्व के सिद्धान्त की रक्षा करता है।

विभाज्याविभाज्य नामक तृतीय अध्याय में विज्ञानेश्वर एवं जीमूतवाहन का मतभेद केवल मात्र विद्या धन पर है। याज्ञवल्क्य के दोनों श्लोकों के साथ पितृद्रव्या-विरोध की शर्त केवल मात्र विज्ञानेश्वर एवं उसके व्याख्याकारों ने ही स्वीकार की है जबकि विश्वरूप, अपरार्क आदि ने उसे विद्याधन से सम्बन्धित नहीं माना है। श्रीधर पाठक ने इसका युक्तियुक्त समाधान दिया है कि 'दोनों श्लोकों में दो क्रिया-पद हैं जो याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को स्पष्ट कर देते हैं। अत: विज्ञानेश्वर कृत अर्थ उचित नहीं है।' विद्याधन के निरूपण में सभी ने कात्यायन का सहारा लिया है। अपरार्क एवं जीमूतवाहन ने इसके आधार पर विद्याधन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। विज्ञानेश्वर ने मनु आदि के वचनों के आधार पर तेरह अन्य अवि-भाज्यों को स्वीकार किया है।

उत्तराधिकार क्रम में सर्वप्रथम पुत्रों का ही अधिकार होता है। पुत्रों में सम-विधि से ही विभाजन होता है किन्तु विश्वरूप एवं जीमूतवाहन विषम उद्धार विभाग को पुत्रों की सहमति से स्वीकार करते हैं। याज्ञवल्क्य के वचनों के आधार पर विज्ञानेश्वर, सुबोधिनीकार एवं बालम्भट्टीकार ने बहिन को संस्कार धन से पृथक तुरीयांश देने का विधान स्वीकार किया है जबकि विश्वरूप एवं जीमूतवाहन स्वल्प-धन में संस्कार मात्र धन देने पर भी बल नहीं देते हैं। अपरार्क ने संस्कार मात्र धन देने का विधान स्वीकार किया है। किसी भाई के अप्राप्त व्यवहार होने पर विभाग की आवश्यकता नहीं है। अपरार्क एवं जीमूतवाहन का यह मत है। मातृ धन में ऋण से अवशिष्ट होने पर दुहिता का अधिकार सभी ने स्वीकार किया है। अपरार्क पैतामह धन से पितृ ऋण को उतारना उचित नहीं समझते किन्तु विश्वरूप के मत में मातृधन से रहित माता के ऋण को चुकाना आवश्यक नहीं है। विज्ञानेश्वर माता-पिता के ऋण को चुकाने का भार पुत्र का स्वीकार करता है। बालम्भट्टी एवं सुबोधिनी में भी ऐसा ही स्वीकार किया है। यदि सवर्ण (समानजातीय)पुत्र विभाग करें तो वे समानांश प्राप्त करते हैं। इस याज्ञवल्क्य वचन के अनुसार पुत्रों का सम-विभाग विधि युक्तियुक्त है।

द्वादश पुत्रों का परिगणन करके याज्ञवल्क्य ने पुत्रों की महत्ता सिद्ध कर दी है जिससे दायभाग का समाज के साथ सम्बन्ध और गहरा हुआ है। इनके स्वरूप के विषय में अनेक मत हैं। धर्मपत्नी से उत्पन्न पुत्र औरस है चाहे वह सवर्णा या असवर्णा क्यों न हो। पुत्रिकासुत को पिण्डदान का अधिकार नहीं दिया है उसके पुत्र (दौहित्र) को ही पिण्डदाता माना है। क्षेत्रज पुत्र अत्यन्त विवादास्पद है, याज्ञ-

वल्क्य ने द्वामुष्यायण पुत्र का अलग से स्वरूप बतलाया है जिससे क्षेत्रज एवं द्वामुष्यायण में भेद किया जा सकता है। गूढ़ज एवं क्षेत्रज पुत्र में केवल मात्र इतना अन्तर है कि एक के बीजी का ज्ञान है और एक के बीजी का नहीं। कानीन पुत्र पर स्वामित्व के विषय में एकमत नहीं है, इसी कारण बालम्भट्टीकार ने मातामह एवं पिता के अपुत्रवान होने पर दोनों का ही स्वीकार किया है। विज्ञानेश्वर ने सजातीयता का पक्ष स्वीकार किया है किन्तु कानीन एवं गूढ़ज पुत्रों के विषय में यह नियम सफल नहीं हो सकता। दत्तक पुत्र के विषय में बहुत नियम हैं। एकाकी एवं ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक पुत्र नहीं बनाया जा सकता है और माता अकेली भी अपने पुत्र को नहीं दे सकती है। आपत्ति में ही देने एवं लेने का विधान है। मनु (9।168) के लक्षण में सदृश शब्द का मेघातिथि ने सदृशगुणयुक्त किया है। किन्तु बालम्भट्टीकार का कथन है कि 'सदृश' सवर्णता का ज्ञापक है गुणों का नहीं। क्रीत, कृत्रिम एवं स्वयं दत्त पुत्र गृहीता के ही होते हैं। सहोढज पर वोढा पिता का एवं अपविद्ध पर गृहीता का अधिकार है। विश्वरूप ने सजातीयता के लिए कानीन, गूढ़ज एवं सहोढ़ज को मातृजातीय माना है।

औरस पुत्र एवं इन पुत्रों के विद्यमानत्व में विभाजन की विधि में इन गौण पुत्रों को विज्ञानेश्वर सवर्ण होने पर चतुर्थांश, जीमूतवाहन तुरीयांश तथा विश्वरूप भोजन-आच्छादन मात्र का अधिकारी मानते हैं। विज्ञानेश्वर, अपरार्क, जीमूतवाहन, सुबोधिनीकार आदि ने औरस एवं पुत्रिकापुत्र का समान अधिकार स्वीकार किया है। विश्वरूप ने इसे 'क्षेत्रज' मानकर या 'क्षेत्रज' को पंचम या षष्ठ अंश का विधान किया है। अपरार्क एवं जीमूतवाहन सवर्ण असवर्ण से परिमापन न करके गुणों की सदृशता एवं असदृशता में धनाधिकार देते हैं। इन द्वादश पुत्रों का वर्गीकरण भी दायाद बन्धु एवं अदायादबन्धु रूप में होता है। किन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार सवर्ण असवर्ण भेद ही वर्गीकरण का आधार विज्ञानेश्वर ने और जीमूतवाहन ने गुणों को स्वीकार किया है।

असमानजातीय पुत्र परस्पर वर्णानुसार क्रमशः चार, तीन, दो तथा एक अंश प्राप्त करते हैं। किन्तु शूद्रा पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं माना है, जीमूतवाहन और विज्ञानेश्वर यहाँ एकमत हैं। शूद्र धन के विषय में विज्ञानेश्वर ने दासी पुत्र को याज्ञवल्क्य वचनानुसार अर्धांश का अधिकारी माना है। बालम्भट्टीकार का भी यही मत है। किन्तु विश्वरूप केवल मात्र भोजन-आच्छादन का अधिकार मानते हैं।

विभागानन्तर उत्पन्न पुत्र के अधिकार के साथ विज्ञानेश्वर असवर्णपुत्र एवं कन्या का भी अंश का अधिकार स्वीकार करता है। विश्वरूप ने इसको ही जन्म-स्वत्ववाद का परिचायक माना है। जीमूतवाहन ने इस कारण इसे पैतामहधनपरक व्याख्यात कर दिया। वैसे जीमूतवाहन भी विभक्तज पुत्र का समानांश विधान

स्वीकार करते हैं। बालम्भट्टी, सुबोधिनी एवं अपरार्क आदि का भी यही मत है।

पुत्राभाव के उत्तराधिकार क्रम में भ्रातृपुत्रों तक कोई मतभेद नहीं है। केवल मात्र माता या पिता इन दोनों में से कौन प्रथम धनाधिकारी होते हैं। प्रत्यासत्ति के सिद्धान्त के अनुसार अनेक माताओं के होने पर विज्ञानेश्वर का मत युक्तियुक्त लगता है किन्तु पिता से पुत्र का सम्बन्ध भी अपरिमेय है, अतः मित्रमिश्र का समाधान उचित है कि माता-पिता में अधिक गुणयुक्त प्रथम अधिकार ग्रहण कर लेंगे। गोत्रज आदि के निरूपण में सपिण्ड शब्द की व्याख्या अपना भेद प्रकट करने लगती है। इस कारण कुछ अगोत्रज पुरुष भी जीमूतवाहन के मत में पिण्ड दान देने के सिद्धान्त से दायाधिकार प्राप्त कर लेते हैं यथा—बहिन का पुत्र। अपरार्क ने भी यहां पिण्डदान से पारलौकिक उपकारकत्व के सिद्धान्त का अनुसरण किया है। विज्ञानेश्वर ने सपिण्ड शब्द का अर्थ ग्रहण करके भी याज्ञवल्क्य के 'गोत्रज' शब्द का अनुशासन स्वीकार किया है। विश्वरूप एवं सुबोधिनीकार भी ऐसा ही मत रखते हैं। बालम्भट्टीकार ने भाइयों के साथ बहिनों का अधिकार स्वीकार किया है क्योंकि वे भी सगोत्रा हैं। जबकि जीमूतवाहन ने स्त्रियों का पारलौकिक कर्म करने में अधिकार नहीं है वैसे ही दाय का भी अधिकार नहीं है।

स्त्री के साम्पतिक अधिकार नामक पांचवें अध्याय में स्त्री के पत्नी, माता, बहिन आदि रूपों में साम्पत्तिक अधिकारों का विवेचन किया गया है। धर्म सूत्रों एवं स्मृतियों में भी इस विषय में विस्तृत विचार हुआ है, इसका विवेचन करते हुए विज्ञानेश्वर की दृष्टि में विधवा पत्नी को विभक्त परिवार में पति की सम्पत्ति का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार मिताक्षरा एवं दाय भाग सम्प्रदाय में पत्नी के अधिकार को स्वीकार किया गया है। किन्तु इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि जहां मिताक्षरा में भाइयों से विभक्त तथा असंसृष्ट पुत्रहीन पति के मरने पर विधवा पत्नी सम्पूर्ण धन की स्वामिनी है और यदि संसृष्ट अथवा अविभक्तावस्था में पति की मृत्यु हुई हो तो पत्नी का केवल भरण पोषण मात्र का ही अधिकार है। वहाँ दाय भाग सम्प्रदाय में प्रत्येक स्थिति में पति की मृत्यु पर विधवा पत्नी का ही अधिकार है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीमूतवाहन यहाँ विज्ञानेश्वर से भी अधिक स्त्रियों को अधिकार देते हैं। परन्तु ऐसा इसलिए नहीं है कि जीमूतवाहन ने स्त्रियों का अधिकार उपभोग तक ही सीमित रखा है।

पुत्री के दायाधिकार में निरुक्तकार यास्क ने भी तीन मत प्रस्तुत किये हैं: 1. अभ्रातृमती कन्या, 2. पुत्रिका पुत्र बनाई कन्या एवं 3. भाई एवं बहिन। विश्वरूप ने दूसरे मत के आधार पर पुत्री का दायाधिकार स्वीकार किया है जबकि विज्ञानेश्वर एवं जीमूतवाहन 'दुहिता' के अधिकार के विषय में एक मत प्रतीत होते हैं। सर्वप्रथम अविवाहिता पुत्री का दायाधिकार है क्योंकि जीमूतवाहन की दृष्टि में उसके विवाह से पिता को परलोक में भी अपने दायित्व से छुटकारा मिलता है।

इतना होने पर भी विभाजन समय में भाई एवं बहिन को तुल्याधिकार प्राप्त नहीं है। विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्य वचन से तुरीयांश का विधान करते हैं जबकि जीमूत-वाहन संस्कार मात्र धन का ही विधान करते हैं। माता के अधिकार के विषय में कोई प्रतिवाद नहीं है, वह अपने पुत्र के धन को पत्नी (विधवा) दुहिता आदि के अभाव में प्राप्त करती है किन्तु जीमूतवाहन माता से प्रथम पिता के अधिकार का प्रतिपादन करते हैं। माता एवं पत्नी को तो विभाजन समय में पुत्रों के साथ अधिकार प्राप्त होते हैं। याज्ञवल्क्य ने स्त्रीधन की प्राप्ति न होने पर यह विधान किया है।

स्त्रीधन के स्वरूप के विषय में जीमूतवाहन संकीर्ण विचार रखते हैं जबकि विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क आदि ने रिक्थादि उपायों से प्राप्त धन को भी स्त्रीधन माना है। जीमूतवाहन उपभोग में और स्वामित्व के भेद के साथ जिस धन में स्त्री का पूर्ण स्वामित्व रहता है उसे ही स्त्रीधन स्वीकार किया है। स्त्रीधन के उत्तरा-धिकार विषय में कोई भिन्न मत नहीं है। स्त्रीधन की उत्तराधिकारिणी पुत्री ही होती हैं। अविवाहिता, विवाहिता तथा निर्धन एवं सधना का क्रम से अधिकार है।

अन्तिम अध्याय में संसृष्टि धन का निरूपण किया है। इस विषय में सभी एक मत हैं कि संसृष्टि धन है और उसका विभाग याज्ञवल्क्य के अनुसार समविधि एवं संसृष्ट सहोदर भाइयों में पहले तत्पश्चात् भिन्नोदर संसृष्ट एवं असंसृष्ट सहोदर भ्राता का अधिकार होता है। किन्तु जीमूतवाहन इसे पूर्वोक्त उत्तराधिकार क्रम का अपवाद स्वीकार नहीं करते हैं। संसृष्टि भी वही हो सकते हैं जो एक संयुक्त परिवार में निवास करते थे। यहाँ अपरार्क ने जीमूतवाहन के मत का ही अनुसरण किया है और विश्वरूप ने विज्ञानेश्वर का पथ प्रदर्शन किया प्रतीत होता है। अन्य आश्रयी जनों के उत्तराधिकार का भी वर्णन इस अध्याय में हुआ है। वानप्रस्थ, यति एवं ब्रह्मचारी के धन को क्रमश: (एक-एक) धर्म भ्राता, सत्शिष्य एवं आचार्य ग्रहण करते हैं। यहाँ अपरार्क ने इस क्रम को स्वीकार किया है। विभागकाल में लुप्तधन में सभी ने समविभाजन को स्वीकार किया है किन्तु जीमूतवाहन अपहर्त्ता को दोषी नहीं मानते हैं जबकि जन्म से स्वत्व होने पर विज्ञानेश्वर ने उसे दोषी माना है। दाय के अनधिकारियों में भी कोई विशेष मतभेद नहीं है। शारीरिक एवं मानसिक अयोग्यताएँ ही धनाधिकार में बाधक हैं। किन्तु इनके पुत्र एवं पुत्रियां अधिकार प्राप्त करते हैं। और अन्त में विभाजन में सन्देह होने पर विभाजित द्रव्यों से विभाजन के सन्देह की निवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् विभाजन समय में उपस्थित बन्धुओं तथा घर, खेत और लेख्य विभाग के साक्षी होते हैं। विज्ञानेश्वर ने धार्मिक क्रिया-कलापों को भी विभाग का साक्षी स्वीकार किया है। और अन्त में निष्कर्ष रूप से उपसंहार प्रस्तुत किया है। विश्वरूप और मिताक्षराकार द्वारा उद्धृत प्रमाणों की सूची भी अन्त में दे दी गयी है।

भवभूति के पात्रों में स्वात्म प्रक्षेपण

शोधकर्ता—श्रीमती अंजलि रोम्या
निर्देशक—डा० निगम शर्मा
वर्ष—1979

प्रस्तुत शोध कार्य महाकवि भवभूति द्वारा विरचित नाटकत्रय के प्रमुख पात्रों में प्रतिबिम्बित भवभूति के स्वात्म-प्रक्षेपण (Ego Projection) को ज्ञात करने के ध्येय को लेकर प्रारम्भ किया गया जिसके मनोविश्लेषण से भवभूति के वैयक्तिक जीवन और व्यक्तित्व के विषय में समुचित ज्ञान प्राप्त हो सके। संस्कृत साहित्य के अन्य रसेश्वर कवियों की भाँति ही हमारे शोध प्रबन्ध के इष्ट कवि के जीवन और व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण पक्षों के विषय में ज्ञान का सर्वथा अभाव है जिसकी पूर्ति के लिए यहाँ साहित्यिक समालोचनात्मक पद्धति और मनोविज्ञान की स्वात्म-प्रक्षेपण-परीक्षण (Ego Projection Test) तथा मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार यह शोध प्रबन्ध संस्कृत और मनोविज्ञान विषयों की अन्तरविषयी अध्ययन उपागम विधि (Inter-disciplinary Method) द्वारा पूर्ण हुआ। इसकी प्रेरणा हमें पाश्चात्य जगत् में हुए कवियों के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययनों से प्राप्त हुई है।

सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत कुल 16 अध्याय हैं। प्रथम परिचयात्मक अध्याय में तीन प्रसंग हैं—1. प्रबन्ध शीर्षक की व्याख्या—इसमें हमने प्रबन्ध शीर्षक "भवभूति का पात्रों में स्वात्म-प्रक्षेपण" में प्रयुक्त प्रत्ययों की सविस्तार व्याख्या की है। इसके अन्तर्गत 'भवभूति' पद का अन्तः और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर विशद विश्लेषण किया है। अर्थात् भवभूति कौन थे, उनका वास्तविक नाम क्या था, उनके पूर्वज, वंशज और गुरु कौन थे; भवभूति ने वसुन्धरा के किस भाग को अपने जन्म से अलंकृत किया, किस समयाविधि में वे भारत-भूमि में उत्पन्न हुए और उन्होंने अपने जीवनकाल में क्या काव्य-शिल्प निर्मित किया आदि। तत्पश्चात् भवभूति के

नाटकों—'महावीरचरितम्', 'मालतीमाधवम्' एवं 'उत्तररामचरितम्' में प्रयुक्त मुख्य पात्र कौन से हैं—इसकी व्याख्या है। स्वात्म (Ego) से तात्पर्य व्यक्ति की आत्मा, चेतना, अहं, मन और मानसिक धरातल से है। सभी साहित्यकार और वैज्ञानिक स्वीकारते हैं कि कवियों के काव्य-सृजन में उनके चेतन और अवचेतन में अवस्थित विचारों, भावनाओं और व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब (प्रक्षेपण) अवश्य पड़ता है। अतः भवभूति के भी व्यक्तित्व, विचारों और भावनाओं का उनके काव्य में स्वात्म प्रक्षेपण हुआ है। 2. शोध-प्रबन्ध का अध्ययन-क्षेत्र भवभूति का समस्त उपलब्ध काव्य यथा—'महावीरचरितम्', 'मालतीमाधवम्' एवं 'उत्तर रामचरितम्' तक है। इन्हीं उपर्युक्त नाटकों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। तदुपरान्त प्रसंग तीन में अध्ययन में प्रयुक्त विधि का विशद वर्णन है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड महोदय को मनोविश्लेषण पद्धति के आधार पर 'मरे' एवं 'बैलक' ने व्यक्तित्व-अध्ययन के लिए विषय सम्प्रत्यक्ष परीक्षण (Thematic Apperception Test) विधि प्रतिपादित की है। यह विधि व्यक्तित्व का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करा देती है। इसमें परीक्षार्थी के कथासृजन का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत कथा में प्रदर्शित मुख्य पात्रों की आवश्यकताओं और वातावरणजन्य प्रभाव में व्याप्त विचारों, गुणों, उद्वेगों और मानसिक संघर्षों का अध्ययन किया जाता है, और क्योंकि पात्रों में कथाकार के विचारों, गुणों और मानसिक संघर्षों की छाप प्रतिबिम्बित होती है अतः पात्रों के मनोविश्लेषण से कथाकार के विचारों, भावनाओं, गुणों, मानसिक संघर्षों और व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। कथाकारों और कवियों के इस प्रकार के बहुत से अध्ययन पाश्चात्य जगत में हुए हैं।

प्रथम अध्याय के अनन्तर शोध-प्रबन्ध के अगले 15 अध्याय चार भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग में 'महावीरचरितम्' नाटक के पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन है। इस भाग के अध्याय-2 में नाटक के प्रमुख पात्रों यथा—नायक राम, परशुराम, विश्वामित्र और माल्यवान् का 'मरे' एवं 'बैलक' की प्रक्षेपण परीक्षण विधि के आधार पर अध्ययन किया गया है। इन पात्रों के नाटक में प्रदर्शित प्रेरक (Motive) प्रवृत्ति (Trend) और भावना (Feeling) देखी हैं। 'मरे' तथा 'बैलक' द्वारा प्रतिपादित 28 प्रकार की सम्भावित आवश्यकताओं में से कौन-कौन सी आवश्यकताएँ इनमें अभिव्यक्त हुई हैं। इसके साथ ही पात्रों में प्रदर्शित उद्वेग (Emotion) और संघर्ष भी देखे हैं। आवश्यकता के अनन्तर पात्र के प्रभावी वातावरण जन्य दबाव के 'मरे' एवं 'बैलक' द्वारा प्रतिपादित सम्भावित घटकों का विवेचन किया है, अर्थात् पात्र के वातावरण के प्रभावी घटक कितने उसके पक्ष अथवा विपक्ष में हैं। तत्पश्चात् आवश्यकता और वातावरणजन्य दबाव के परिणाम का अध्ययन किया गया है। इसमें पात्रों की आवश्यकता और वातावरण के दबाव के

शक्ति संतुलन को 1:3 के माप में तालिका के रूप में निर्दिष्ट किया है। सभी प्रमुख पात्रों की पृथक्-पृथक् तालिकाएँ दी गयी हैं। परिणाम के अनन्तर पात्र के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है जिसमें निष्कर्ष निकला है कि पात्रों में क्या-क्या गुण काव्यकार ने अभिव्यक्त किये हैं। अध्याय-3 में विश्लेषण द्वारा निश्चित किया कि 'महावीरचरितम्' के किन प्रमुख पात्रों में भवभूति का स्वात्म-प्रक्षेपण हुआ है। श्रीराम में भवभूति का पूर्ण स्वात्म प्रक्षेपण और तादात्म्य स्थापन हुआ है। परशुराम, विश्वामित्र और माल्यवान् में भवभूति का आंशिक स्वात्म-प्रक्षेपण हुआ है। अध्याय-4 में 'महावीरचरितम्' पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त हुए भवभूति के विचारों, उद्वेगों, गुणों और मानसिक संघर्षों के प्रक्षेपण का अध्ययन है।

भाग द्वितीय के अन्तर्गत 'मालतीमाधवम्' नाटक का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। इस नाटक के मुख्य पात्र—माधव, मालती, कामन्दकी, मकरन्द और मदयन्तिका हैं। अध्याय-2 में किये 'महावीरचरितम्' के पात्रों के अध्ययन की भाँति अध्याय-5 में 'मालती माधवम्' के मुख्य पात्रों की आवश्यकताएँ, वातावरणजन्य दबाव, परिणाम और विवेचन का मनोविश्लेषणात्मक विधि से विस्तृत अध्ययन किया गया है जिसमें उपर्युक्त सभी पात्रों की आवश्यकता और दबाव सन्तुलन-मापन तालिका भी पृथक्-पृथक् दी गयी हैं। तदुपरान्त अध्याय-6 में विश्लेषण किया है कि भवभूति का 'मालती माधवम्' के किन पात्रों में स्वात्म-प्रक्षेपण हुआ है। ज्ञात हुआ है कि कामन्दकी में उनका पूर्ण तादात्म्य स्थापन और स्वात्म प्रक्षेपण तथा माधव, मकरन्द और सौदामिनी में आंशिक स्वात्म-प्रक्षेपण प्रतिबिम्बित हुआ है। अध्याय-7 में इन्हीं प्रमुख पात्रों के माध्यम से प्रदर्शित हुए भवभूति के विशिष्ट विचारों, भावनाओं और मानसिक संघर्षों का समीक्षात्मक अध्ययन है।

भाग तृतीय के अध्याय 8 में भवभूति की उत्कृष्ट कृति 'उत्तररामचरितम्' का 'मरे' एवं 'बैलक' की 'विषयसम्प्रत्यक्ष परीक्षण विधि' द्वारा मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन अध्याय-2 और 5 की भाँति ही किया गया है। इस नाटक के प्रमुख पात्र केवल दो श्रीराम और सीता हैं। राम और सीता की परोपकारी आवश्यकताएँ, वातावरणजन्य दबाव, परिणाम और विवेचन का सविस्तार अध्ययन किया है। उनकी आवश्यकताएँ और दबाव सन्तुलन तालिका भी निर्दिष्ट की है। अध्याय-9 में किये विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि 'उत्तररामचरितम्' में राम और सीता में भवभूति का पूर्ण तादात्म्य स्थापन और स्वात्म-प्रक्षेपण हुआ है तथा आंशिक प्रक्षेपण तमसा, अरुन्धती, लव और चन्द्रकेतु के चित्रण में हुआ है। अध्याय 10 में 'उत्तर-रामचरितम्' में पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त और प्रकाशित भवभूति के विचारों, गुणों और मानसिक संघर्षों का प्रक्षेपण वर्णित किया गया है।

भाग चतुर्थ में भवभूति के तीनों नाटकों का समग्र विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस भाग के अध्याय-11 में नाटकत्रय के पात्रों से भवभूति का तादात्म्य स्थापन और स्वात्म प्रक्षेपण वर्णित है। अध्याय-12 में तीनों को नाटकों में प्रक्षेपित भवभूति के विचारों, भावनाओं, गुणों और मानसिक संघर्षों का विस्तृत विवेचन है।

शोध-प्रबन्ध के अध्याय-13 में स्वात्म-प्रक्षेपण में प्रदर्शित और अभिव्यक्त भवभूति के वैयक्तिक जीवन और व्यक्तित्व के विषय में महत्वपूर्ण तथ्यों का सविस्तार वर्णन है। इसमें सर्वप्रथम भवभूति के जीवन की बाल्यावस्था, किशोरा-वस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था, की विस्तृत व्याख्या की गयी है। तत्पश्चात् उनके व्यक्तित्व का वर्णन है। भवभूति का व्यक्तित्व प्रतिभाशाली, ओजस्वी, गम्भीर, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का, परम अहं और अहं भाव सबल तथा सत्व एवं रजस्-प्रकृति प्रधान था। रेखाचित्र द्वारा दर्शाया गया है कि भवभूति के जीवन की किन अवस्थाओं में किन रसों के स्थायी भावों का बाहुल्य रहा और उन्हीं के अनुसार विभिन्न अंगीरसों के नाटकों की रचना हुई। एक और रेखाचित्र भवभूति के प्रतिभाशाली बुद्धिमान होने को प्रदर्शित करता हुआ उल्लिखित है।

इस भाग में कुछ अन्य महत्वपूर्ण पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया है। जैसे अध्याय-14 में भवभूति के तीनों नाटकों का कालक्रम दो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों यथा-स्वात्म प्रक्षेपण के सिद्धान्त और रस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित किया गया है जिनसे 'महावीरचरितम्' भवभूति की प्रथम युवावस्था की रचना, 'मालती-माधवम्' द्वितीय प्रौढ़ावस्था की तथा 'उत्तररामचरितम्' तृतीय अन्तिम प्रौढ़ावस्था के अन्त और वृद्धावस्था की रचना है। अध्याय-15 की विशिष्ट खोजपूर्ण उपलब्धि है कि भवभूति ने बहुत पहले सातवीं-आठवीं शताब्दी में अपने काव्य में आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, असामान्य मनोविज्ञान और योग मनोविज्ञान के महत्वपूर्ण तत्वों को बड़ी सफलता से प्रयुक्त किया है। इसके साथ ही भवभूति विभिन्न प्रकार के और विभिन्न अवस्थाओं के मनों का चित्रण बड़ा सजीव और अनूठा कर सके हैं। इससे भवभूति के मनुष्य प्रकृति विषयक विशाल और गहन ज्ञान का पता चलता है जो आज बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की दृष्टि से भी सत्य उतरता है।

अध्याय-16 में उपसंहार के साथ शोध की उपलब्धियों का निरूपण है। शोध प्रबन्ध की प्रथम उपलब्धि 'अन्तरविषयी अध्ययन उपागम' (Inter-disciplinary Approach) के माध्यम से संस्कृत और मनोविज्ञान की विधियों को सर्वप्रथम सफलतापूर्वक प्रयुक्त करता है। भवभूति का पात्रों में स्वात्म प्रक्षेपण पाना द्वितीय उपलब्धि है। तृतीय उपलब्धि के रूप में भवभूति के जीवन और व्यक्तित्व का ज्ञान प्राप्त होता है। इससे भवभूति के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का ही नहीं, व्यक्तित्व का चित्रण भी प्राप्त हुआ है। चतुर्थ उपलब्धि भवभूति के काव्य में

आधुनिक-मनोवैज्ञानिक तत्वों की विद्यमानता प्राप्त करना है। शोध द्वारा संस्कृत साहित्य को उसके महान कवि भवभूति के जीवन और व्यक्तित्व के अज्ञात पक्षों को प्रकाशित कर प्रस्तुत करना पंचम उपलब्धि है। एक और उपलब्धि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधारों पर भवभूति के नाटकों का कालक्रम निर्धारण करना है।

शोध-प्रबन्ध ने संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में 20वीं शताब्दी के उत्कृष्ट विज्ञान मनोविज्ञान की विधि को सफलतापूर्वक प्रयुक्त कर इतने प्राचीन महाकवि का जीवन वृत्तान्त उपलब्ध कराके एक सर्वथा नवीन अध्ययन करने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है, क्योंकि संस्कृत साहित्य के प्राचीन कवि अपने जीवन के वर्णन के प्रति प्रायः उदासीन रहे हैं। अतः यह शोध प्रबन्ध इसी प्रकार के भावी शोध के लिए प्रेरणा-स्रोत बन सकता है जिससे विश्व-साहित्य में संस्कृत साहित्य के अनुपम, प्रतिभासम्पन्न हमारे इष्ट व प्रिय कवियों के जीवन के प्रति पूर्ण ज्ञान के साथ सर्वोच्च स्थान भी उपलब्ध हो सकेगा।

क्षत्रपति चरितं महाकाव्यम्-एक अध्ययन

शोधकर्ता—देवकेतु
निर्देशक—डा० कृष्णकुमार
वर्ष—1982

साहित्य समाज की तत्कालीन स्थितियों को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। भारतीय इतिहास में शिवाजी का बहुत महत्व रहा है, जिन्होंने सदियों से उत्पीड़ित और परतन्त्र हिन्दू जाति में नव उत्साह का संचार करके स्वतन्त्रता की भावना को भारतीयों में संभृत किया। शिवाजी को नायक बनाकर अनेक कवियों ने विभिन्न भाषाओं में काव्यों की रचना की। शिवाजी यद्यपि मराठा थे तथापि वे सम्पूर्ण भारत में नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए। उन पर मराठी में ही नहीं संस्कृत, हिन्दी व बांग्ला आदि भाषाओं में विभिन्न विधाओं में काव्यों की रचनाएँ हुईं। इन काव्यों में कवि उमाशंकरजी शर्मा द्वारा रचित क्षत्रपति चरितं महाकाव्यं भाव, भाषा, कला, आदि सभी दृष्टियों से बहुत सुन्दर और प्रांजल है। अतः इस महाकाव्य की समालोचना करना समुचित है।

क्षत्रपतिचरितं महाकाव्यं के लेखक उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी का जन्म एक सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में 1 जनवरी सन् 1922 ई० में हुआ। इनके पिता रामनरेश संस्कृत व ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे और उन्होंने अपने पुत्र को संस्कृत की विशेष योग्यता प्रदान की। युवा होने पर रामनरेश काशी आये और यहाँ आपने अंग्रेजी में एम० ए० किया। तदनन्तर विभिन्न महाविद्यालयों में अध्यापन कार्य करते रहे और अन्त में काशी विद्यापीठ वाराणसी में आपकी नियुक्ति हो गयी। इस स्थान पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त करके आपने क्षत्रपतिचरितं महाकाव्यं नामक काव्य की रचना की। यह महाकाव्य पहले तो 'सूर्योदय' नामक पत्रिका में और उसके पश्चात् ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ।

क्षत्रपतिचरितं महाकाव्यं जिन प्रयोजनों से लिखा गया है उसमें कवि सर्वथा

सफल हैं। वीर रस प्रधान इस महाकाव्य में शिवाजी के चरित्र का वर्णन करके कवि ने हिन्दुओं के जातीय एवं राष्ट्रीय गौरव का उत्थान करते हुए अनेक सदुपदेश दिये हैं तथा इस काव्य से काव्यानन्द की उपलब्धि भी सहृदयों का होती है।

यद्यपि इस महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक है किन्तु कवि ने अपनी कुछ कल्पनाएँ भी सन्निहित करके महाकाव्य को रोचक बनाने का प्रयास किया है। इसमें पाँचों अर्थ-प्रकृतियों अवस्थाओं तथा सन्धियों का सुन्दर समावेश किया गया है। कथा का प्रारम्भ सरस्वती देवी की स्तुति से होकर शिवाजी द्वारा महाराष्ट्र को पूर्ण स्वतन्त्र करने के रूप में होने से यह महाकाव्य सुखान्त है। इस महाकाव्य की ऐतिहासिक घटनाएँ—शिवाजी-अफजलखाँ युद्ध, शायिस्त खाँ युद्ध, शिवाजी द्वारा सूरत शहर की विजय, शिवाजी की औरंगजेब के दरबार में उपस्थिति आदि सर यदुनाथ सरकार की रचनाओं से ली गयी हैं। शिवाजी की गुरुभक्ति, शिवाजी के सैनिकों द्वारा आगरा भ्रमण आदि प्रकरी कथाएँ कवि की कल्पनाएँ हैं। कवि ने काल्पनिक घटनाओं में भी कार्य ऐतिहासिक पात्रों से ही कराया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह महाकाव्य सफल रहा। इसके पात्र स्वाभाविक, सरल एवं ऐतिहासिक हैं। पात्रों का बाह्य तथा आन्तरिक दोनों चित्र उपस्थित हैं। सभी पात्र प्रायः प्रतिनिधि पात्र हैं। कवि ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों विधियों का आश्रय लिया है। शिवाजी के पक्ष के पात्रों के चरित्र-चित्रण में शिवाजी, तानाजी, वाजीप्रभु मुरार तथा नारसाल आदि चित्रण किया है। शिवाजी के विपक्ष के औरंगजेब, जयसिंह, अफजलखाँ, तथा शाहजादा मुअज्जम आदि के चरित्र का चित्रण है। स्त्री पात्र में केवल जीजाबाई का चित्रण है। महाकाव्य के नायक शिवाजी के चरित्र में अनेक गुणों के समावेश के साथ कवि ने परतन्त्रता से उत्पीड़ित हिन्दू-जाति के उत्थान के प्रति अनेक भावनाएँ प्रकट की हैं। तानाजी व वाजीप्रभु मुरार आदि सेनापतियों की शूरवीरता एवं स्वामी भक्ति के निस्सन्देह अतुलनीय उदाहरण इसमें हैं। औरंगजेब हठी, दुराग्रही एवं अनेक दुरभिलाषाओं से युक्त है। अफजलखाँ के चरित्र में घमण्ड, उद्दण्डता तथा पराक्रम का समावेश दर्शाया है। माता जीजाबाई का चरित्र उज्ज्वल है, वह नीतिवान, प्रभुप्रेमी, विरक्त तथा सती होते हुए निष्काम होकर अपने पुत्र शिवाजी को स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित करती है।

कवि ने इस महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का अतीव सुन्दर चित्र अंकित किया है। अनेक स्थानों पर, अनेक रूप से आपने पात्रों को प्राकृतिक रूप देने का प्रयत्न किया है। अधिकांश प्रकृति-चित्रण आलम्बन-विभाव में होते हुए भी अनेक स्थलों पर प्रकृति उद्दीपन-विभाव में भी दृष्टिगोचर होता है। पर्वत, नदी, प्रदेश, चन्द्र, सूर्य, रात्रि, प्रातः, सायं, पवन, अरण्य आश्रम तथा षड्ऋतुओं का कवि ने निरपेक्ष चित्र खींचा है। प्रोषितभर्तृका के उन्मुक्त चित्रण से प्रतीत होता है कि कवि की

प्रतिभा अलौकिक है। प्रकृति के उपादान का चेतनीकरण भी इस महाकाव्य में उपलब्ध है ।

इस महाकाव्य के संवाद कथावस्तु के विकास के साथ पात्रों के चरित्र को प्रकट करते हैं । ये संवाद स्वाभाविक, सार्थक एवं नाटकीयता के गुणों से युक्त हैं । इसके संवाद देश, जाति और धर्म के गौरव की भावना को व्यक्त करनेवाले, क्रोधावेश, गुरुभक्ति तथा नीति को प्रकट करते हैं ।

इस शोध-प्रबन्ध में महाकाव्य के देशकाल, भौगोलिक-विवरण, राजनीतिक-वातावरण तथा रणनीति की ओर ध्यान दिया गया है । क्षत्रपति-चरितं की काल-योजना शिवाजी के जन्म से लेकर शिवाजी के राज्याभिषेक एवं उनकी राज्य-पद्धति के साथ समाप्त होती है । शिवाजी के वर्णन से पूर्व उनके पूर्वजों का भी वर्णन किया है । भौगोलिक विवरण में काश्मीर, पंजाब, राजस्थान, गुजरात, उत्तरप्रदेश, बंग, दक्षिण, महाराष्ट्र, आदि प्रदेशों दिल्ली, पूना, सूरत, मथुरा, प्रयाग, वाराणसी आदि नगरों जावली, जुन्नर, कोंकण, रायगढ़ आदि स्थानों चंकण, प्रतापगढ़, कल्याण, पुरन्दर, रुद्रमाल, कोण्डन आदि दुर्गों हिमालय आदि पर्वतों तथा नर्मदा आदि नदियों का उल्लेख है । इस महाकाव्य में तत्कालीन भारत की स्थिति का सम्यक् निरूपण किया है। उस समय भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य था, महाराष्ट्र का बहुत-सा क्षेत्र बीजापुर के राजा के अधिकार में था । अफजलखाँ तथा शायिस्तखाँ को शिवाजी से पराजित होना पड़ा । जयसिंह द्वारा सन्धि के लिए मजबूर किये जाने पर शिवाजी औरंगजेब के दरबार में गये जहाँ उनको बन्दी कर लिया गया परन्तु शिवराज कुशलता से मुक्त होकर दक्षिण आकर महाराष्ट्र को पूर्ण स्वतन्त्र कराते हैं ।

मुसलमान हिन्दुओं पर अनेक अत्याचार करते थे । हिन्दू परस्पर द्वेषाग्नि में भस्म होते रहते थे । औरंगजेब सम्पूर्ण भारत को स्वाधीन करना चाहता था, मुसलमान अत्याचारी तथा हिन्दू दयावान् थे । शिवाजी कूटनीति धुरीण, कुशल तथा शत्रु को वश में करने के लिए युद्ध में विश्वास न रखकर छल में विश्वास रखते थे । मुसलमान शासक विलासप्रिय तो थे ही, साथ ही शिवाजी से युद्ध करने से घबराते थे । उस समय दुर्ग, युद्ध तथा सम्मुख-युद्ध दोनों लड़े जाते थे । युद्धों में तोप तथा खड्ग का भरपूर प्रयोग होता था ।

यह महाकाव्य भाषा की दृष्टि से सजीव, सशक्त, स्पष्ट तथा सरल है । शब्द-शक्तियों अर्थात् लक्षणा, व्यंजना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । प्रकरण के अनुरूप शब्दों के प्रयोग के साथ महाकाव्य में नवीन शब्दों की अल्पता का अनुभव नहीं होता। शब्दों के अक्षय-भण्डार से कवि की प्रतिभा स्पष्ट प्रतिभासित होती है । करुणापूर्ण स्थलों के तथा ऋतुओं आदि के वर्णन में सर्वत्र सशक्त भाषा का प्रयोग हुआ है ।

कवि ने शृंगार प्राकृतिक-सौन्दर्य तथा करुण रस के वर्णनों में माधुर्य गुण वीर,

बीभत्स तथा भयानक रस के वर्णनों में ओजोगुण तथा श्रृंगार, हास्य, करुण, वात्सल्य तथा वीर आदि के वर्णनों में प्रसाद गुण की अभिव्यक्ति करायी है। महाकाव्य में प्रसाद गुण की ही प्रधानता है।

क्षत्रपति की पद-रचना मध्यरूप से वैदर्भी रीति में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य के वीर रस प्रधान होने के कारण अनेक स्थलों पर गौड़ी रीति का प्रयोग हुआ है। अंगभूत श्रृंगार की अभिव्यंजनाओं में पांचाली रीति का प्रयोग है।

त्रिपाठीजी ने छन्दों का निर्माण रस एवं प्रकरण के अनुरूप किया है जो कि लयात्मक और प्रेषणीयात्मक कहा जा सकता है। इस काव्य में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, मालिनी प्रमाणी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित, स्रग्धरा, इन्द्रवंशा तथा रथोद्धता छन्दों का प्रयोग हुआ है। दो वृत्त छन्दःशास्त्र के लक्षणों से भिन्न भी हैं।

काव्य में आनन्द की उपलब्धि रस के द्वारा होती है। रस-क्षेत्र में यह महाकाव्य पूर्ण सफल है। क्षत्रपति महाकाव्य में वीर-रस की प्रधानता है। शेष सभी रस अंग रूप में हैं। नायिका के अभाव में यद्यपि इसमें श्रृंगार की चमत्कार-पूर्ण अभिव्यंजना नहीं है पुनरपि यत्रकुंत्रचित् मुक्तक रूप में कवि श्रृंगार का प्रयोग कर महाकाव्य में रोचकता उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया है। वीर-रस के स्थलों में दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर तथा दयावीर इन चारों प्रकार के रसों की अभिव्यंजना हुई है। वीर रस की अभिव्यक्ति मुख्यतः शिवराज तथा उनके सहायक बाजीप्रभु देशपाण्डे आदि के विभाव से हुई है। हास्य के भी इसमें अनेक स्थल आये हैं। करुण-रस की अभिव्यक्ति मुख्यतः भारत-दुर्दशा एवं यवनों के अत्याचारों के वर्णन में हुई है। रौद्र-रस के भी इस महाकाव्य में अनेक प्रसंग हैं। भयानक रस के लिए कवि ने यवनों को आश्रय बनाया है। युद्ध-वर्णन एवं वेशभूमि के वर्णनों से बीभत्स रस की अभिव्यक्ति होती है। अद्भुत-रस के भी उदाहरण इस महाकाव्य में उपलब्ध हैं। शान्त तथा वात्सल्य रस की अनुभूति भी अनेक प्रसंगों में होती है। इसके अतिरिक्त भाव, भावाभास, रसाभास तथा भावसन्धि का भी प्रयोग हुआ है।

काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ानेवाले अलंकारों द्वारा इस महाकाव्य के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही इसमें सटीक विश्लेषण हुआ है। अनावश्यक अलंकारों द्वारा कहीं भी रस आक्रान्त नहीं हो पाया है। अनुप्रास का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। रूपक और उत्प्रेक्षा का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

उल्लेखनीय सूक्तियों का भी शोध-प्रबन्ध में उल्लेख किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि उमाशंकरजी शर्मा के इस महाकाव्य का स्थान संस्कृत-साहित्य में विशेषकर आधुनिक संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त श्लाघनीय है। क्षत्रपति चरितं का यह महत्त्व संस्कृत-साहित्य में अभिनव काव्य रूप विधान

उनकी मौलिक रचना, प्रक्रिया, रचना-विधान के तत्त्वों का मौलिक एवं सफल विनियोजन, प्रभावपूर्ण भावोद्भावना, उदात्तकल्पना, जनसंग्राहक और जनसंरक्षक विचारों की पृष्ठभूमि तथा प्रसाद-गुण से युक्त-शैली सभी दृष्टियों से है।

त्रिपाठीजी के इस महाकाव्य को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना अनिवार्य है। वह समय दूर नहीं है जब कि संस्कृत के अधिकारी विद्वान इस कृति के गौरव को अनुभव करके इसके अध्ययन में अधिकाधिक प्रवृत्त होंगे।

भास और कालिदास के कथात्मक कल्पनाबिम्बों का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—वीना रानी
निर्देशक—डा० निगम शर्मा
वर्ष—1983

भास और कालिदास एक ही परम्परा के रस-सिद्ध कवि हैं एवं उस मान्यता के प्रति भी निष्ठावान हैं जो उन्हें पूर्वजों से प्राप्त हुई। उनके काव्य में जहाँ भारतीय संस्कृति एवं दर्शन का निचोड़ है वहाँ विशेषत: रामायण, महाभारत एवं पुराण आदि अन्य ग्रन्थों के आख्यान कल्पना रूप में, अप्रस्तुत रूप में, बहुत आये हैं जैसे—'बर्हेणेव स्फुरितरुचिता गोपवेशष्य विष्णोः'। मेघ को श्रीकृष्ण से कल्पनात्मक रूप से संश्लिष्ट कर कालिदास ने जो औदात्य साम्य-संसर्ग के द्वारा स्थापित किया है वह अभूतपूर्व है। शिवजी महाकाल-मन्दिर के ऊपर गजाजिन का रूप धारण किये एवं मृदंग की ध्वनि करते हुए मेघ को जिस दिव्यता एवं भक्ति से वर्णित किया है वैसा रूप विश्व के किसी साहित्य में देखने को नहीं मिलता। यह मेघ का बिम्ब कालिदास को जितना प्रिय है उतना ही अंग्रेजी कवि पी० बी० शेली को भी प्रिय है। अन्तर केवल कथातमकता का ही है। बिम्ब का अर्थ भाव का मूर्तन है वह अमूर्त का भी हो सकता है और मूर्त का भी। और स्वयं अन्त में अमूर्त भी रह सकता है। इस विधा में प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बन्धित अथवा मनोविज्ञान की भाषा में चेतन मन के बिम्ब बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें नयन कर्णादि गोचरता विद्यमान रहती है। दूसरे बिम्ब परोक्ष ज्ञान अथवा अवचेतन मन के होते हैं। चेतन मन के दो बिम्ब हैं—

1. स्मृति बिम्ब
2. कल्पना बिम्ब

अवचेतन मन के आद्य बिम्ब को हम कथात्मकता से सम्बन्धित भी मान सकते हैं। युंग के मतानुसार जब पूर्वज्ञान अवचेतन मन से उभरकर चेतन मन की ओर अग्रसर होता है तो आद्य बिम्ब का निर्माण होने लगता है। यदि कल्पना का पुट मिल जाये

तो वह रोमानी हो जाता है। जैसे विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण के रूप का अवचेतन मन में अस्तित्व तो था वह कृष्ण वर्ण मेघ से संश्लिष्ट होकर नवीन चमत्कार को जन्म दे गया। बिम्ब पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का केन्द्र माना जाता है। अर्थात् साहित्य में अभिव्यक्ति जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही महत्त्वपूर्ण बिम्ब योजना। इस शोध-प्रबन्ध का पावन उद्देश्य यह भी है कि भारतीय एवं पाश्चात्त्य काव्यशास्त्रों के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दोनों प्राचीन कवियों का अध्ययन किया जाये। आश्चर्य यह होता है कि जब हम साहित्य की बात करते हैं तो प्राचीन कवियों के कविकर्म की चर्चा बिल्कुल नहीं करते हैं। डा० नगेन्द्र एवं अन्य मनीषियों का अब यह स्पष्ट मत हो चुका है कि लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि एवं अलंकारों का यदि कहीं समस्त रूप देखना हो तो बिम्ब देखा जा सकता है। साथ यदि सम्प्रेषित न हो तो रस अथवा भाव विचारोपेक्षित रह जायेगा क्योंकि जैसे मन के संकल्पों एवं अनुभूतियों को जिह्वा अभिव्यक्त करती है वैसे ही बिम्ब भाव को अभिव्यक्त करता है। जिह्वाहीन व्यक्ति के भाव घुटे से रह जाते हैं। इस शोध का सदुद्देश्य यह भी है कि प्राचीन कवियों के सन्दर्भ में पाश्चात्य और पौरस्त्य काव्य-शास्त्र की दो धाराओं का संगम हो जाये।

भास और कालिदास सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से निश्चित रूप से विषयिगत सौन्दर्य के समुपासक हैं। उनकी इच्छा के अनुसार बिम्बों में स्थानान्तरण होता रहता है। कालिदास की मृदुलता और भास की प्रसन्नता किस सहृदय से छिप सकी है। औचित्य सुघड़ता भावपक्ष को अत्यन्त प्रबल बनाती है। बिम्ब के अध्ययन के लिए सौन्दर्यपक्ष का होना अत्यन्त आवश्यक है। सौन्दर्यबोध से वैरूप्यबोध भी हो सकता है। उदाहरणार्थ इन्द्र के दो रूप माने गये हैं, एक तो वृत्रसंहार वीर दूसरे मुनियों की समाधि से भयभीत इन्द्र। दोनों का प्रयोग कालिदास ने कल्पनात्मक रूप से किया है। इन्द्र आदि के बिम्बों के संश्लेष से पात्र के चरित्र को अद्‌भुत रसात्मक दिव्यगुणसम्पन्न औदात्य मिल जाता है। यही किसी पात्र के चरित्र के विकास के लिए आवश्यक तत्त्व है। यही नहीं पुराणों तथा आर्षकाव्यों में वर्णित देवों एवं गंगादि दिव्य नदियों के स्वरूप क्रिया एवं गुण के संयोग से अद्‌भुत रसात्मक दिव्य वातावरण बन जाया करता है। जैसे—तस्माद् गच्छेरनुकनखलं···। भास और कालिदास के द्वारा स्वर्ग के बिम्बों के संयोग से दिव्य वातावरण का निर्माण किया जाता रहा है जिस पर कथावस्तु चलती है। जैसे गंगा को स्वर्गसोपानपंक्ति कहा गया है। कथात्मक बिम्बों के माध्यम से मन के अकथ्य एवं अमूर्त भावों को कामदेव के वर्णन से मूर्तन मिला है। यह कल्पनात्मकता काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती है। ऋषि-मुनियों के आश्रमों के वर्णन से दिव्य पवित्र व्यक्तित्व एवं वातावरण को चित्रित किया जाता रहा है। वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचकर दिलीप का मन उसी पवित्र वातावरण में रमता जाता है। अरुन्धती और वसिष्ठ स्वाहा और अग्नि के समान

आदर्श युगल के रूप में वर्णित किये गये हैं। इसी प्रकार इन्द्र और शची, काम और रति भी इसी श्रेणी में आते हैं। इस शोध-प्रबन्ध में दैवीय बिम्ब ही मुख्यत: अध्ययन का विषय है।

बिम्ब जब अत्यन्त प्रसिद्ध एवं रूढ़ हो जाता है तो वह प्रतीक का रूप धारण कर लेता है। जैसे—काम के बाण, आनन्द के लिए वसन्त आदि।

द्वितीय अध्याय में इन्द्र का वर्णन किया गया है। इन्द्र का वेद में सबसे उच्च स्थान है परन्तु पुराणों में इसके महत्त्व को सीमित रखा गया है। इन्द्र और उनके कार्यों का अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में भगवान विष्णु का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन्द्र के सहायक के रूप में विष्णु का महत्त्व पहले ही ज्ञात हो चुका है परन्तु त्रिमूर्तियों में एक विष्णु भी हैं। विष्णु के इन्हीं स्वरूपों का वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में भगवान शिव का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पुराणों में शिव प्राय: सृष्टि के संहारक रूप में वर्णित हैं परन्तु रघुवंश में कालिदास की भक्ति के कारण वे सर्ग-स्थिति-नाश तीनों के हेतु हो गये हैं। यह वैदिक वाङ्मय की परम्परा प्रतीत होती है।

पंचम अध्याय में कामदेव का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। फ्रायड के मतानुसार काम अथवा सेक्स साहित्य का केन्द्रबिन्दु है और साहित्य की निर्मिति कामाभाव पूर्त्यर्थ है। कालिदास भी 'सर्वम् कामस्य चेष्टितम्' काम के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। कामदेव के स्वरूप को ही विस्तृत रूप में वर्णन करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

षष्ठ अध्याय में यम, वरुण, दक्ष, सरस्वती, कुबेर, ब्रह्मा, चन्द्र, आकाशगंगा, अनसूया, वशिष्ठ, त्रिशंकु, राम और रावण आदि देवताओं के कथात्मक बिम्ब प्रस्तुत किये गये हैं।

नारद, बृहस्पति और कात्यायन स्मृतियों का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—भगतसिंह
निर्देशक—डा० भारतभूषण विद्यालंकार
वर्ष—1985

प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्मशास्त्र का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। इन्हें मानव की आचार-संहिता के रूप में देखा जा सकता है। धर्मशास्त्र तत्कालीन समाज की धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति के पूर्ण प्रतिविम्ब हैं। वस्तुस्थिति यह है कि अपने से पूर्ववर्ती किसी भी साहित्य की अपेक्षा धर्मशास्त्रों ने समाज के साथ अधिक निकट सम्पर्क स्थापित किया है।

यद्यपि स्मृतियों में मनुस्मृति को ही सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक माना जाता रहा है तथापि याज्ञवल्क्य आदि परवर्ती आचार्यों ने भी इस परम्परा में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य के पश्चात् स्मृति-साहित्य में व्यवहार को ही प्रतिपाद्य विषय बनाकर स्मृतिलेखन की एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश हुआ जिसके आद्यप्रवर्तक विधिवेत्ता नारद थे। इसी व्यवहार शृंखला को परवर्ती बृहस्पति तथा कात्यायन ने सुदृढ़ किया। अतः इन आचार्यों एवं इनकी विधि-संहिताओं को आज भी त्रिरत्नमण्डल के नाम से श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इन्हीं तीन स्मृतियों के प्रतिपाद्य विषय व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

नारद, बृहस्पति और कात्यायन ने स्मृति क्षेत्र को पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं विस्तृत बना दिया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'व्यवहार' शब्द 'विवाद' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन स्मृतिकारों ने समस्त विवादों (व्यवहारों) को अठारह पदों में विभक्त किया तथा सर्वप्रथम बृहस्पति ने उन्हें धनमूलक (सिविल) तथा हिंसामूलक (क्रिमिनल)—इन दो भागों में वर्गीकृत करके विधिशास्त्र को अपूर्व देन दी। आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती धार्मिक सुधारक होने के साथ-

साथ सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक चिन्तक भी थे तथा उन्होंने अपनी अप्रतिम ऊहापोह से विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं को अपने ग्रन्थों में ग्रथित किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती किसी व्यवस्था को तर्क की कसौटी पर खरा उतरने पर ही स्वीकार करते थे। अतः इस शोध-प्रबन्ध में महर्षि दयानन्द की व्यवस्थाओं के साथ इन तीन स्मृतिकारों की व्यवस्थाओं की तुलना की है तथा उन्हें तर्क निकष पर तोला गया है। अतः महर्षि दयानन्द के परिप्रेक्ष्य में नारद, बृहस्पति और कात्यायन स्मृतियों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

विषय-विभाजन की दृष्टि से इस शोध-प्रबन्ध को नौ अध्यायों में विभक्त किया है जिससे एक स्थान पर एक विषय की पूर्ण विवेचना की जा सके। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए प्रथमाध्याय में धर्मशास्त्रों की परम्परा, उनकी उपयोगिता तथा महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। स्मृतियों चूंकि तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब हैं अतः उनका सामान्य परिचय देते हुए, उनका तर्क, युक्ति एवं अन्तः-वाह्य साक्ष्यों के आधार पर कालनिर्धारण किया गया है। नारद, बृहस्पति और कात्यायन स्मृतियों का पूर्ण परिचय देते हुए तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति का समीक्षण किया गया है एवं महर्षि दयानन्द के परिप्रेक्ष्य में इन स्मृतियों का कितना औचित्य है? वर्तमान न्यायविधि को इन्होंने कहाँ तक प्रभावित किया है? तत्कालीन न्यायपालिका पर इनका क्या प्रभाव रहा? आदि विचारणीय प्रश्नों की समीक्षा करने का प्रयास किया है।

इस शोध-प्रबन्ध का मुख्य विषय नारद, बृहस्पति और कात्यायन की व्यवहार सम्बन्धी व्यवस्थाओं की तुलना करना है। यहाँ पर व्यवहार शब्द रूढ़ार्थ में प्रयुक्त होकर 'विषाद' अर्थ का बोधक है। अतः द्वितीय अध्याय में विषय प्रवेश हुआ है जिसमें व्यवहार की प्रवर्तना एवं व्यवहार शब्द के अर्थ पर विचार करने के बाद सम्पूर्ण व्यवहारपदों (विवादपदों) का अठारह भागों में वर्गीकरण किया गया है। इन विवादपदों से ऋणदान (ऋण लेना) प्रथम है। यहाँ पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अलौकिक तथा लौकिक ऋणों की उत्पत्ति, विकास एवं स्वरूप पर विचार करके कुसीदग्रहण; ऋणदान प्रकार, कुसीद नियन्त्रण आदि सभी पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। ऋणदान में प्रतिभू (जमानतदार) की महत्वपूर्ण भूमिका थी इसलिए उसके उद्देश्य भी दर्शाये गये हैं। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र ये दो धाराएँ परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक हैं और इनमें वैमत्य होने पर धर्मशास्त्र ही प्रमाण होंगे।

सर्वप्रथम बृहस्पति ने अठारह विवादपदों को हिंसामूलक (फौजदारी) और धनमूलक (दीवानी) भेद से दो प्रकार का बतलाया है जो प्रक्रिया आज भी भारतीय न्यायालयों में यथावत् जारी है। तृतीय अध्याय में हिंसामूलक विवादों अर्थात् वाक्-पारुष्य दण्डपारुष्य, साहस और स्त्रीसंग्रह की परिभाषा देकर उनके क्षेत्र तथा दण्ड

पर विचार किया गया है । इसी के अन्तर्गत 'सम्भूयप्रहरण' (किसी पर सामूहिक आक्रमण) जैसे जटिल प्रश्नों पर भी विचार किया गया है जिससे वास्तविक दोषी का पता लगाया जा सके । अध्याय के अन्त में आततायी के वध में कोई दोष नहीं माना गया है । नारद, बृहस्पति और कात्यायन के समान महर्षि दयानन्द भी आततायी के वध में दोष नहीं मानते । इसके अतिरिक्त आततायी के विविध प्रकार भी दर्शाये गये हैं ।

चतुर्थ अध्याय स्वामी-सेवक सम्बन्धों पर केन्द्रित है । स्वामी और सेवक में किसी भी विषय को लेकर विवाद होना स्वाभाविक है । इनका क्षेत्र काफी व्यापक है । सर्वप्रथम पशु-स्वामी और पशु-पालक के सम्बन्धों पर विचार करके उनके मध्य जायमान विवादों को निपटाने का प्रयत्न किया है । अभ्युपेत्याशुश्रूषा का सम्बन्ध सेवक से है, यदि कोई सेवक सेवा करने का वचन देकर ऐसा नहीं करता तो इस विषय में भी स्मृतिकारों ने व्यवस्था दी है । सेवकों के शिष्य, अन्तेवासी, भृतक, अधिकर्मकृत और दास ये पाँच प्रकार हैं जिनमें से प्रथम चार के कार्य शुभ तथा दास के कार्य अशुभ माने गये हैं । बृहस्पति और कात्यायन की अपेक्षा नारद ने दासों के विषय में व्यापक चर्चा करते हुए उनके पन्द्रह प्रकार माने हैं । इन तीनों ही विधि-पुस्तिकाओं में दास को लगभग नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया है किन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में किसी के साथ इस प्रकार का अमानवीय व्यवहार सर्वथा अनुचित है । 'वेतनस्यानपाकर्म' का सम्बन्ध स्वामी से है और स्वामी यदि भृत्य को उसका पारिश्रमिक नहीं देता तो परस्पर जायमान विवाद का समाधान भी स्मृतिकारों ने दिया है । वर्तमान में सहकारिता कार्यक्रम को उपयोगी बनाने के लिए उस पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है । नारद, बृहस्पति और कात्यायन के समय में भी यह व्यवस्था प्रचलित थी और इसे 'सम्भूयसमुत्थान' के नाम से व्यवहृत किया जाता था । कृषि, शिल्प तथा ऋत्विक् आदि कार्यों को मिलकर करने में किसे कितना अंश मिलेगा, यह सब चतुर्थ अध्याय में वर्णित है । न्यूनाधिक रूप में ये व्यवस्थाएँ आज भी प्रचलित हैं । इस अध्याय के अन्त में वाणिज्य सम्बन्धों की चर्चा करते हुए राजा द्वारा कर एवं शुल्क (चुंगी) ग्रहण का प्रकार भी बतलाया है ।

पंचम अध्याय में निक्षेप (धरोहर), उसके विभिन्न प्रकार, निक्षेप नष्ट होने पर अग्रिम व्यवस्था एवं निक्षेप के नाश के कारणों का दिग्दर्शन कराया है । क्षेत्रज-विवाद के अन्तर्गत स्मृतिकारों ने सीमा-सम्बन्धी समस्त विवादों का समावेश किया है तथा एतत्सम्बन्धी विवादों के स्थायी समाधान के लिए सीमा सन्धि पर वृक्ष-स्थापन, शिला निखनन आदि उपायों का निर्देश किया है । किसी वस्तु को खरीदने या बेचने पर जो पश्चात्ताप होता है उसे न्यायालय की भाषा में क्रय-विक्रयानुशय कहा जाता है । इसमें व्यवस्था दी है कि यदि पण्यवस्तु निर्दिष्ट नहीं है तो खरीदने

के पश्चात् किस प्रकार लौटाना होगा। इसके लिए क्रीत वस्तु का परीक्षण काल भी स्मृतिकारों ने बतलाया है। इस प्रकार यहाँ उपभोक्ता एवं दुकानदार के संबंधों की परोक्ष रूप से चर्चा हुई है।

द्यूत एवं समाह्वय (प्राणि-द्यूत) की ऐतिहासिकता निर्विवाद है। ये सभिक (द्यूताध्यक्ष) के पर्यवेक्षण में खेले जाते थे और इससे राजकीय आय में वृद्धि होती थी तथा तस्करों का भी इससे पता लगाया जाता था। यद्यपि मनु और महर्षि दयानन्द ने इसे सर्वथा निषिद्ध माना है।

शोध-प्रबन्ध का षष्ठाध्याय पूर्णतया पारिवारिक सम्बन्धों तथा उत्तराधिकार के प्रश्न पर केन्द्रित है। विवाहसूत्र में बँधकर ही स्त्री-पुरुष पारिवारिक धरातल का निर्माण करते हैं। इसलिए इस अध्ययन में सर्वप्रथम विवाह, उनका काल, वर-वधू के गुण-दोषों पर चर्चा करके विवाह के आठ प्रकारों पर चर्चा की गयी है। इनमें ब्राह्म, देव, आर्ष और प्रजापत्य इन चारों को महर्षि ने श्रेष्ठ माना है। किन्तु नारद ने इन विवाहों का श्रेष्ठता-क्रम के रूप में ब्राह्म, प्रजापत्य, आर्ष और दैव का परिगणन किया है। नारद के गान्धर्व विवाह को मध्यम माना है जबकि महर्षि इसे निकृष्ट मानते हैं। विवाह प्रकारों के पीछे इन मनीषियों की मूल-भावना यही रही है कि धर्म्य विवाह ही किये जायें जिससे गुणवती और बलवती सन्तति उत्पन्न हो। मानव में अमरत्व की भावना आदिकाल से ही विद्यमान रही है, इसी के लिए वह विवाह से पुत्र उत्पन्न करके अपने प्रतिनिधि के रूप में उसे छोड़ जाता है, इसी भावना से औरस पुत्र के अतिरिक्त क्षेत्रज आदि ग्यारह गौण-पुत्रों का अस्तित्व भी स्मृति-कारों ने स्वीकार किया है। नियोग प्रथा का प्रचलन प्राचीनकाल से ही चलता आ रहा है। आधुनिक काल में महर्षि दयानन्द सरस्वती इस प्रथा के प्रबल समर्थक हुए हैं। नारद और कात्यायन ने इसके पक्ष या विपक्ष में अपना मत व्यक्त नहीं किया है, जबकि मनु का उद्धरण देते हुए बृहस्पति ने इसे निषिद्ध ठहराया है। इसी अध्याय में ज्येष्ठ पुत्र के कर्तव्य एवं विशेषाधिकार के उल्लेख के साथ कन्या एवं उसके रिक्ताधिकार के प्रश्न पर भी चर्चा की गयी है। अध्याय के अन्त में स्त्रीधन के विभिन्न रूपों, माता-पिता के धन-विभाजन और पिता की अनुपस्थिति में पुत्रों द्वारा देय एवं अदेय ऋणों की भी चर्चा हुई है।

सप्तम अध्याय में न्याय-व्यवस्था का सर्वांगीण विवेचन हुआ है। वैदिककाल में ही न्यायालयों की स्थापना हो चुकी थी। उस समय इसे सभा के नाम से जाना जाता था। नारद या कात्यायन की अपेक्षा बृहस्पति ने न्यायालय का स्थान, निर्माण आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला है तथा चार प्रकार के न्यायालयों की भी चर्चा की है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने विद्यार्थसभा, धर्मार्थसभा और राजार्थसभा इन तीनों सभाओं की संस्थापना पर बल देते हुए इनके क्षेत्र एवं कार्य को पारिभाषित किया है। व्यवहार को चतुष्पाद् कहा गया है जिसमें वादी का आवेदन पूर्वपक्ष, प्रतिवादी

का उत्तर पक्ष, सभ्यों द्वारा उभयपक्ष की दलीलों पर विचार-विमर्श और प्राड्विवाक द्वारा निर्णय, ये चार व्यवहार के पाद हैं। इस अध्याय में चतुष्पाद् व्यवहार, सभ्य एवं प्राड्विवाक की योग्यताएँ, अनादेयवाद (जो विवाद न्यायालय द्वारा नहीं सुने जा सकते) की चर्चा करते हुए न्यायकार्य में विलम्ब को न्यायपालिका का दोष बतलाया है। न्यायालय में प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर ही निर्णय किया जाता है इसके लिए साक्षी, लेख्य और भुक्ति (किसी सम्पत्ति पर भोग) ये तीन मानुष प्रमाण स्मृतिकारों के इष्ट थे। इन तीनों प्रमाणों के अभाव में भी न्यायालय न्याय-तट पर पहुँचने का प्रयास करता था। इसके लिए अध्याय के अन्त में दिव्य नामक चतुर्थ प्रमाण की भी चर्चा हुई है।

अष्टम अध्याय को प्रायश्चित एवं आपद्धर्म इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है। इसमें प्रायश्चित शब्द को परिभाषित करके पाप की भावना, पाप के प्रकार, प्रायश्चित के अधिकारी-अनधिकारी तथा नैमित्तिक कर्म पर विचार करते हुए 'प्रायश्चित से पापमोचन' इस विवादास्पद प्रश्न पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। इसी प्रसंग में स्मृतिकारों एवं महर्षि दयानन्द की दृष्टि में प्रायश्चित की उपयोगिता पर विचार करके महापातकों तथा उपपातकों के लिए विहित प्रायश्चितों का उल्लेख किया है। प्रसंगवश चान्द्रायण, प्राजापत्य आदि व्रतों के मनु एवं बृहस्पति निर्दिष्ट लक्षण भी दिये गये हैं।

'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति' इस उक्ति के अनुसार मनुष्य आपत्तिकाल आने पर मर्यादाओं का अतिक्रमण कर देता है और वह अपनी जीविका निर्वाहार्थ शास्त्रोक्त आपद्धर्मों का आश्रयण करता है। नारद, बृहस्पति, कात्यायन एवं महर्षि दयानन्द इस मानवीय दुर्बलता से पूर्णतया अवगत थे अतः उन्होंने आपत्-कालीन धर्मों का समर्थन किया है। इस अध्याय में बतलाया गया है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणादि वर्ण अन्य वर्णों की जीविका अपना सकते थे किन्तु आपत्काल को पार करने के बाद उन्हें अपने वर्ण की जीविका को पुनः ग्रहण करना होता था। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के आपद्धर्मों के अतिरिक्त आपद्ग्रस्त राजा के कर ग्रहण सम्बन्धी धर्मों की विवेचना के साथ इस अध्याय का समापन हुआ है।

प्रथम आठ अध्यायों में जिस प्रकार 'व्यवहार' का सर्वांगीण विवेचन हुआ है उस विवाद के दोषी को दण्ड-विधान करने के साथ विवाद की परिसमाप्ति हो जाती है। अतः इस अन्तिम अध्याय में दण्ड को केन्द्र-बिन्दु बनाकर उसके सभी पक्षों पर विचार हुआ है। दण्ड ही सभी प्रजाओं का नियामक है अतः अध्याय के प्रारम्भ में उसकी उत्पत्ति और आवश्यकता दर्शाकर आधुनिक विचारों के मतानुसार दण्ड के तीन सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। नारद, बृहस्पति और कात्यायन तीनों ही दण्ड-विधान में जातीय तत्वों को आधार मानकर उच्चवर्ण को न्यून एवं निम्नवर्ण

को अधिक कठोर दण्ड देने के पक्षधर रहे हैं जबकि महर्षि दयानन्द का विचार इनसे भिन्न है। महर्षि के अनुसार 'एक सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए।' परन्तु तीनों स्मृतिकारों के साथ महर्षि इस बात से अवश्य सहमत हैं कि देश, काल आदि का विचार करके ही दण्ड-विधान होना चाहिए। इस अध्याय में दण्ड के प्रकारों पर चर्चा करते हुए कहा है कि वाक्, धिक्, अर्थ और शरीर भेद से दण्ड चार प्रकार के होते हैं जिनमें से प्रथम दो ब्राह्मणाधीन एवं अन्तिम दो नृपाधीन होते हैं। अन्त में शारीरिक दण्ड के अंग-भंग, अंकन (दागना), शूली चढ़ाना, तप्त तैल में डालना, हाथी से कुचलवाना, कुत्तों से नुचवाना, कारावास, निर्वासन, विचित्र वध एवं अविचित्र वध आदि विभिन्न प्रकार दर्शाते हुए अपराधानुसार दण्डव्यवस्था दी है। इससे यह विदित होता है कि स्मृतिकाल में कठोर दण्ड प्रचलित थे। नारद, बृहस्पति और कात्यायन के समान महर्षि दयानन्द ने भी कठोर दण्ड विधान का समर्थन किया है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि नारद, बृहस्पति और कात्यायन ने व्यवहार-क्षेत्र में स्मृति-साहित्य को अपूर्व योगदान दिया है। समस्त व्यवहारपदों का अठारह भागों में वर्गीकरण, पुनः उसका सिविल और क्रिमिनल के रूप में वर्गीकरण,-ऋण लेन-देन प्रकार, स्वामि-सेवक सम्बन्ध, निक्षेप के नियम, पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध, दाय-विभाजन, न्याय-व्यवस्था, प्रायश्चित्त, आपद्धर्म एवं दण्ड आदि विषयों से सम्बद्ध सभी व्यवस्थाएँ एवं नियमों का विवेचन इस शोध-प्रबन्ध का विषय रहा है।

शोध-प्रबन्ध के परिशिष्ट भाग में शताधिक पारिभाषिक शब्दों के अर्थ भी दिये गये हैं जोकि स्मृतिकालीन व्यवस्थाओं को समझने में बहुत सहायक सिद्ध होंगे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने नारद, बृहस्पति और कात्यायन की तरह पृथक् से व्यवहार विषय पर कुछ नहीं लिखा है। व्यवहार-सम्बन्धी कुछ व्यवस्थाएँ उनके ग्रन्थों में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है। महर्षि ने व्यवहार के विषय में मनु को प्रमाण माना है। अतः इस शोध-प्रबन्ध में जहाँ मनु के मत का उल्लेख हुआ है वह भी महर्षि का मत समझना चाहिए।

बृहत्त्रयी और लघुत्रयी पर वैदिक प्रभाव

शोधकर्ता—सुषमा स्नातिका
निर्देशक—डॉ० निगम शर्मा
वर्ष—1986

समस्त भारतीय वाङ्मय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—वैदिक-साहित्य और संस्कृत-साहित्य। वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत संहिताएँ, जिनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद संहिता हैं।

ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत वह साहित्य है जो मूल संहिताओं की व्याख्या कही जा सकती है।

महर्षि दयानन्द से पूर्व वेदों को केवल पूजा-पाठ और संस्कारों में बोले जाने-वाले मन्त्रों का विविध आयामों में विनियोग समझा जाता था। महर्षि दयानन्द ने आकर कहा कि वेदों में प्रकृति से लेकर मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान बीज रूप में मिल सकता है। संस्कृत महाकाव्यों और वैदिक-साहित्य में हजारों शताब्दियों का अन्तराल है, परन्तु यदि समस्त वाङ्मय को एक स्थान पर समन्वयात्मक दृष्टि से अवलोकित किया जाय जो उसके सूत्रों का तारतम्य प्राप्त हो जाता है। इतने लम्बे अन्तराल में कुछ वस्तुओं का विरोध-सा अथवा भेद होना स्वाभाविक ही है।

प्रथम उल्लास में वैदिक-साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमें बतलाया गया है कि ऋग्वेद की 21 शाखाएँ थीं जिनमें केवल शाकल शाखा ही उपलब्ध है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ—ऐतरेय और कौषीतकि हैं। कौषीतकि को शांसवायन अथवा खाण्डायन भी कहते हैं। दो आरण्यक—ऐतरेय और कौषीतकि है और तीन उपनिषद हैं। ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय के आरण्यक के अन्तर्गत है, कौषीतकि उपनिषद् कौषीतकि आरण्यक का भाग है। वाश्कल उपनिषद् ऋग्वेद की वाश्कल शाखा से सम्बन्धित है।

चरणव्यूह के अनुसार यजुर्वेद की 66 शाखाएँ हैं।—"यजुर्वेदस्य षडशीति भेदाः भवन्ति"; किन्तु इसकी दो प्रकार की शाखाएँ मिलती हैं, जो शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। यजुर्वेद की जिस संहिता में ब्राह्मण ग्रन्थ भी सन्निविष्ट हैं वह कृष्ण यजुर्वेद कहलाता है। इसकी 85 शाखाएँ बतायी गयी हैं जिनमें से पाँच का पता है—तैत्तिरीय, मैत्रायणी कठ, कापिष्ठल तथा श्वेताश्वेतर। इसका एक ब्राह्मण तैत्तिरीय एकमात्र आरण्यक तैत्तिरीय आरण्यक है। शुक्ल यजुर्वेद की 16 शाखाएँ थीं किन्तु अब काण्व और माध्यन्दिन (वाजसेनयी) दो ही संहिताएँ सुरक्षित हैं। इसका शतपथ ब्राह्मण है। यजुर्वेद संहिता के दो उपनिषद् ईशोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् हैं।

सामवेद के दस ब्राह्मण हैं 1. पंचविंश, 2. षड्विंश, 3. सामविधान, 4. आर्षेय, 5. मन्त्र, 6. दैवताध्याय, 7. वंश, 8. संहितोपनिषद्, 9. जैमिनीय, 10. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् और केनोपनिषद् के अन्तर्गत हैं।

अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से शौनक और पिप्पलाद ये दो ही शाखाएँ प्राप्त हैं। गोपथ इसका ब्राह्मण ग्रन्थ है। प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य इत्यादि बहुत-सी इसकी उपनिषदें हैं।

वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियों का मत है कि भगवान् ने जैसे प्राणी मात्र के लिए वायु, अग्नि, जलादि सभी वस्तुएँ प्रदान की हैं ऐसे ही सृष्टि के आदि में वेद का ज्ञान ही ऋषियों के मस्तिष्क में अवतरित करते हैं। इसके विपरीत आधुनिक दूसरी विचारधारा वेदों को ऋषियों द्वारा निर्मित मानते हैं। वेदों के अन्तःसाक्षी के आधार पर वेदों को ईश्वरप्रदत्त ज्ञान मानना ही उचित होता है। वेदों के काल के विषय में सभी मतों का दिग्दर्शन कराया गया है।

वेद ऐसा अमर काव्य है जो सदा नया रहता है—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"—की उक्ति वास्तव में वेदों के लिए चरितार्थ होती है।

लौकिक संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा आदि कवि वाल्मीकि की रामायण से प्रारम्भ मानी जाती है। यह परम्परा सतत प्रवाहित होती हुई गुप्तकालीन राजाओं के युग में अत्यन्त विस्तृत और पल्लवित हुई।

बृहत्रयी में किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषध, इन तीन महाकाव्यों की कथावस्तु का विवेचन किया गया है। लघुत्रयी के कुमारसम्भव, रघुवंश ये दो महाकाव्य हैं, मेघदूत खण्डकाव्य की कथावस्तु का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय उल्लास में वेदों में प्रतिपादित प्रकृति चित्रण का वर्णन करते हुए उषा का वर्णन किया है। उषा का वर्णन करते हुए वेदों में कहा गया है कि ये उषाएँ पानी की लहरों की तरह चमकती हैं। धनवाली होकर सबके लिए सुपथ मार्ग प्रशस्त करती है इत्यादि वर्णन वेदों में सुरम्य रूप में प्राप्त होता है। जैसाकि कहा है कि—हे उषे तुम दानदाता के लिए यश, बल, अन्न लाती हो। धनवती यात्रिणी,

तुम वीर को सन्तान और रत्न दो—इत्यादि प्रकार से उषा की स्तुति की गयी है।

सप्तसिन्धु का वर्णन करते हुए वेद में आया है कि पृथिवी की आठों दिशाएँ, तीनों मरुस्थल और सातों नदियाँ प्रकाशित हैं। सुनहरी आँखोंवाले सवितादेव यजमान दानियों के लिए उत्तम रत्न लिये आये हैं। वृष्टिधारक कामवर्षी दोनों बाहुओं से वज्र को फेंकनेवाले, उग्र महानतम नेता शचीयुक्त वृषभ ने अर्थात् इन्द्र ने श्री के लिए सेवन कराया है तथा विप्र ने नदियों की सुमति प्रदान की है। हे व्यास, सतलुज, अन्नकारिणी, सुन्दर धनयुक्त ऐश्वर्यशालिनी सरस्वती हमारी स्तुति योग्य हो।

इस प्रकार वेदों में प्रभावत वर्णन, ऋतु वर्णन आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

किरातार्जुनीय में पर्वत का वर्णन इतना भव्य और सुरम्य रूप में किया गया है कि हिमालय पर्वत का पूर्ण चित्र आँखों के सम्मुख नर्तन करने लग जाता है। इसी प्रकार जलक्रीड़ा का वर्णन, शिशुपाल में समुद्र वर्णन, प्रभात वर्णन आदि सभी प्राकृतिक वर्णन बड़े ही सशक्त रूप में किये गये हैं। जैसाकि शिशुपालवध में जल-क्रीड़ा का वर्णन करते हुए कहा है कि वन-विहार-जन्य श्रम से क्लान्त अतएव जलक्रीड़ा के इच्छुक रमणियों के समूह जल की ओर बड़े कष्ट के साथ भूतल पर पैर रखकर चलने लगे। नदियों पर आशुगति करते हुए कवि उत्प्रेक्षा करते हुए—शोभायुक्त बड़े-बड़े नितम्बमण्डलोंवाले, श्रीकृष्ण की रमणियों के जघनों से पराजित तट प्रदेशोंवाली नदियाँ मानो पराजयजन्य लज्जा के कारण पत्थरों पर स्खलित होती हुई चंचला के साथ जा रही थीं। जल के माधुर्यादि सब गुणों को धारण करती हुई उज्ज्वल कमल-रूपी भूषणोंवाली प्रियतमों के साथ सेवित मदिरा ने रमणियों के नेत्रों को लाल कर दिया।

ऐसे ही मेघदूत में प्रकृति के अन्तःसौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि तथा-कथित बाह्य सौन्दर्य वस्तुतः सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता है। प्रकृति सुन्दर व्यक्ति या वस्तु के लिए बाह्य सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं होती—किमिव मधुराणां हि मण्डनं नाकृतीनाम्—सहज सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में सुन्दर एवं मनोरम लगता है। —"सर्वस्वास्थासु रमणीयत्व मा प्रकृतिविशेषणानाम्"—प्रकृति प्रदत्त सौन्दर्य कभी नष्ट नहीं होता जबकि बाह्य प्रसाधन अवस्था विशेष में अपना सौन्दर्य खो देते हैं।

इसी प्रकार प्रकृति का मार्मिक वर्णन करते हुए कहा है कि—पास में वनों से आच्छादित सरसों के दोलित पम्पा के इस जल को दूर से उतरी दृष्टि खिन्न हो रही थी। स्तन जैसे सुन्दर गुच्छों से झुकी, तट के अशोक की पतली लता को तुझे पाया समझ, अश्रु बहाते आलिंगन के इच्छुक मुझे लक्ष्मण ने रोका। हे सुतनु धारा की आवाज उगलनेवाली गुहा रूपी मुख और शिखर के अग्रभाग पर लगे मेघ के क्रीड़ा पंकवाला यह चित्रकूट दर्पयुक्त हो साँड की तरह आँखों को खींच रहा है।

पर्वत के पास निर्मल निश्चल प्रवाहवाली दूर होने से पतली यह मन्दाकिनी नदी भूमि के कण्ठ में पड़ी—मुक्तावली-सी प्रतीत हो रही है।

तृतीय उल्लास में काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए विभिन्न विद्वानों के मतों को दर्शाया गया है। लौकिक काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा है कि यश के लिए, धनादि उपार्जन के लिए, व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए, पाठक को आनन्दानुभूति कराने के लिए, सुकोमल कान्ता के समान मधुर रूप में उपदेश प्रदान करने के लिए लौकिक काव्य के प्रयोजन कहे गये हैं।

वैदिक काव्य के प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना है। इसीलिए वेदों में जहाँ व्यवहार आदि ज्ञान सीखने के लिए ज्ञान प्राप्त है वहाँ दर्शन, धर्म, सृष्टि रचना, जीवात्मा की मुक्ति आदि गम्भीर ज्ञान का चिन्तन भी प्राप्त होता है। इसलिए लौकिक काव्यकार वेदानुमोदितमार्ग दुष्कर मार्ग बतलाते हैं और अपने साहित्यिक मार्ग को सुकुमार एवं मधुर मार्ग की संज्ञा देते हैं। इसलिए साहित्य दर्पणकार ने कहा है कि साहित्य भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति कराता है, परन्तु कंटकाकीर्ण मार्ग से न कराके सुकुमार एवं सुकोमल मार्ग से कराता है। वेदों में अधिकतम रूपेण आदेश एवं उपदेश प्राप्त होता है परन्तु उक्त बृहत्रयी और लघुत्रयी में उसी उपदेश को मानव स्वभाव के सहज सरल यथार्थ-वादी रूप को उजागर करते हुए नायक, नायिका की कथा उनके स्वाभाविक जीवन की अभिव्यक्तियों द्वारा कथनोपकथन के द्वारा प्राकृतिक चित्रण के द्वारा और नाना प्रकार की कथाओं के द्वारा काम, अर्थ और धर्म की वीथियों को ले जाते हुए पाठक को मोक्ष की ओर प्रवृत्त कराया जाता है। कथाओं एवं विभिन्न चरित्रों के चित्रण के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था, धर्म, दर्शन, राजनीति का बोध साहित्य के द्वारा ही प्रशस्त किया जाता है। कुमारसम्भव में यदि काम का अधिक रूप में वर्णन प्राप्त है तो रघुवंश में धर्म और सेवा, परोपकार अर्थात् मोक्ष की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास किया है। कालिदास का यह प्रयास शुष्क और उपदेशात्मक न होकर सुन्दर और रमणीय रूप में उपलब्ध है। जैसाकि—"वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्"। अर्थात् वृद्ध अवस्था में मुनिवृत्ति धारण करके समाधि के द्वारा मृत्यु को प्राप्त किया जाये। अर्थात् मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसी प्रकार बृहत्रयी के महाकाव्यों में भी प्राकृतिक वर्णन, समाज व्यवस्था, राज-नीति और धर्म के साथ काव्य प्रयोजन की समस्त विधाओं का वर्णन मिलता है।

चतुर्थ अध्याय में पूजा-पद्धति एवं आराधना का वर्णन किया गया है। पूजा के विभिन्न रूपों का वर्णन करते हुए कहा है कि जो देवता हवि आदि देकर सन्तुष्ट किये जाते हैं, वे यज्ञभाग देवता कहे जाते हैं। इन याज्ञीय देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्राचीन भारत में बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन किया जाता था। जिस प्रकार के कर्मकाण्ड में जिस प्रधान देवता का यज्ञ न हो उस कर्मकाण्ड को उसी देवता के

नाम से अभिहित करते हैं।

वैदिक देवताओं में वैदिक प्रकार के यज्ञों का निरूपण किया है। सात हविर्यजन, सात सोमयज्ञ। हविर्यज्ञ ये हैं—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दशापूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास, निरुद पशुबन्ध और सोत्रामणि—ये सातों यज्ञ चरु अथवा पुरोडाश हवि से सम्पन्न होते हैं इसलिए उन्हें हविर्यज्ञ कहते हैं। सोमयज्ञ ये हैं—अग्निष्टोम, अन्त्यग्नि होम, उक्थय, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोयमि—ये सभी समरस के साथ सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार बृहत्रयी और लघुत्रयी महाकाव्यों में पूजा के विविध रूपों का वर्णन किया गया है। पूजा और आराधना के नाना रूपों का वर्णन किया गया है। पूजा और आराधना के नाना रूपों का वर्णन इन काव्यों में विभिन्न चरित्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय में वेदों में आये देवता शब्द और देवमण्डल कल्पना का वर्णन, वैदिक साहित्य के अनेक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित मतों का वर्णन किया गया है। इस प्रस्तुत अध्याय / उल्लास में वेदों में देवता और देव शब्द तथा बृहत्रयी और लघु-त्रयी में वर्णित देवों का वर्णन करने का प्रयास किया है। वेदों के अन्दर देव शब्द के विभिन्न भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में अनेक अर्थ किये हैं। नैरुक्त प्रक्रिया में देव अर्थात् देवता शब्द विविधार्थक है।

आधुनिक वेदों के भाष्य में महर्षि दयानन्द भी देव शब्द के अनेक अर्थों को स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि किसी भी वस्तु या ज्ञानादि जो देता है वह देव कहलाता है। इसलिए अन्नादि करने से पृथिवी देव है। अर्थात् प्रकाश और उष्णता देने से अग्नि तथा सूर्य दोनों देव हैं। इस तरह उन्होंने देव शब्द को जड़ और चेतन दोनों रूपों में माना है।

लौकिक काव्य बृहत्रयी और लघुत्रयी में वैदिक देवताओं से लेकर पुराण साहित्य का वर्णन आराधना के रूप में मिलता है। जब कोई नायक या नायिका किसी कार्य को करना चाहते हैं तो कार्य की सफलता के लिए उस देवता की पूजा एवं आराधना करते हैं। यह पूजा विधेयात्मक और निषेधात्मक दो रूपों में की जाती थी। शत्रु की विजय न हो। हम विजयी हों। इन दोनों भावनाओं से पूजा की जाती है। शिव और पार्वती आदि अनेक देव और देवता वैदिक देवताओं से भिन्न शिव और पार्वती जैसे अलौकिक शक्ति रखनेवाले देवों का वर्णन इन काव्यों में किया गया है।

षष्ठ उल्लास में वैदिक काव्य में आये शब्दार्थ सौन्दर्य, अलंकार, शैली, आदि का विवेचन किया गया है। मध्यकालीन इन महाकाव्यों में जो शब्दार्थ सौन्दर्य का वर्णन मिलता है उसका विविध आयामों में वर्णन प्रस्तुत किया गया है। नाना अलंकारों और अनेक प्रकार की भावाभिव्यक्ति शैलियों का वर्णन किया गया है। वेद की भाषा में भी काव्य चमत्कार मिलता है। अनेक शैलियों द्वारा विषयवस्तु का

प्रतिपादन भी वैदिक काव्य में प्राप्त होता है। इसके साथ यह भी दर्शाया गया है कि वेदों में वर्णित अलंकार बहुत न्यून हैं और उपरोक्त वेदों में / काव्यों में अनेक प्रकार के अलंकारों का बहुत ही सशक्त वर्णन प्रस्तुत हुआ है।

सप्तम उल्लास में वैदिक साहित्य में प्रतिपादित समाज व्यवस्था, वर्णाश्रम का वर्णन, विस्तृत रूप में किया गया है। वेदों में प्रतिपादित समाज व्यवस्था का वर्णन आरम्भिक न होकर एक आदर्शवादी समाज की एक संरचना की प्रेरणा वेदों में प्राप्त होती है। इसलिए समाज रचना में, पंचमहायज्ञ, तीनऋण, शिक्षा आदि का वर्णन जो वेदों में प्राप्त होता है उसका विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है।

बृहत्रयी और लघुत्रयी में समाज संरचना के संकेत, कथनोपकथन में चित्रित वर्णाश्रम और धर्मादि के कारकों का दिग्दर्शन भी कराया गया है।

अष्टम उल्लास में वेदों और इन महाकाव्यों में प्रयुक्त छन्दों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वैदिक छन्दों का प्रयोग केवल वैदिक साहित्य में ही हुआ है। कुछेक छन्दों को छोड़कर लौकिक काव्यों के छन्द वैदिक छन्दों से भिन्न हैं। बृहत्रयी और लघुत्रयी में प्रयुक्त छन्दों का विवरण संक्षिप्त रूप में प्रयुक्त हुआ है।

नवम उल्लास में समस्त शोध प्रबन्ध का उपसंहार एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेद भाष्य के प्रथम दस अध्यायों का व्याकरण की दृष्टि से समालोचनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—केशवप्रसाद उपाध्याय
निर्देशक—डा० रामप्रकाश शर्मा
वर्ष—1986

शोध-विषय की उपादेयता

महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत यजुर्वेद-भाष्य के अध्ययन से यह सुनिश्चित है कि उनकी व्याकरण-परक भाष्य-शैली विविध भाष्यकारों की भाष्य शैली से पृथक् है। उसका मुख्य कारण यह है कि महर्षि दयानन्द ने निरुक्त और पाणिनि व्याकरण के आधार पर वेदभाष्य किया है और यह भी ठीक ही है कि मन्त्रार्थ में व्याकरण प्रमुख होता है। जैसाकि महाभाष्यकार पतंजलि ने पस्पशाह्निक में व्याकरण के मुख्य प्रयोजन में निर्देश किया है—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च" इति।

प्रधानं च षट्स्वङ्गेणु व्याकरणम्।

यह अनुभवसिद्ध है कि वेदभाष्य के लिए व्याकरण का पूर्ण ज्ञान नितान्त अपेक्षित है क्योंकि प्रकृति प्रत्यय के संयोग से ही शब्द बनता है और उस शब्द के अर्थ के ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके मूल का अन्वेषण करें अर्थात् शब्दगत मूल धातु से पूर्ण परिचित हों।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में जिन शब्दों की व्युत्पत्ति भाष्य करते समय की गयी है, उसमें धात्वर्थपरक ही शब्दों का निष्पादन हुआ है। निस्सन्देह वैदिक शब्दों के अर्थज्ञान में व्याकरण की पूरकता महर्षि के भाष्य में पद-पद पर परिलक्षित होती है तथापि महर्षि के व्याकरण ग्रन्थों—अष्टाध्यायी भाष्य, धातु-पाठ, उणादि कोष, गणपाठ, लिंगानुशासन सम्बन्धी निर्देश, परिभाषेन्दुशेखर को तिरस्कृत करनेवाला पारिभाषिक तथा स्वोवर आदि से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि ने वेदार्थ को ही समझने के लिए व्याकरण की दुर्गमता को समझते हुए उक्त

ग्रन्थों का मूल्यांकन या समाहार किया था। उक्त प्रणाली अष्टाध्यायी क्रम को भंग करने के लिए नहीं अपितु वैयाकरणनिकाय में प्रेरणास्रोत होकर अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। महर्षि दयानन्द स्वयं सत्यार्थप्रकाश में लिखते हुए कहते हैं कि "यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि पाणिनिकृत व्याकरण क्रमबद्ध व स्वर पद्धति की वैज्ञानिकता के कारण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और उसी के आधार पर वेदार्थ में गति हो सकती है।" महर्षि दयानन्द के व्याकरण पर इसलिए बल दिया कि व्याकरण ही वेदार्थ ज्ञान में उपकारक है। यह ठीक ही है जैसाकि भर्तृहरि ने अपनी कारिकाओं में स्पष्ट किया है जिसका अर्थ अंग्रेजी में आबद्धित है।

कारिका—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्ग प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥

अंग्रेजी अनुवाद—

The scholars think of grammar as one most intimately related with the Shabdabrahman. One has to make laborious efforts to get access to that Brahman. But first and foremost amongst these labours is the grammar. That is why the scholars have named it to be first amongst the six different organs of (Angas) Veda i. e. Etymology, Astronomy, Prosody etc. and grammar etc. Thus grammar becomes the Shortest and surest way leading towards the Shabdabrahman.

अर्थप्रवृत्तितत्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥

is closely related, rather intricately aligned, with the outer form of the words. Meaning can be retained only in the external form of the words, but the intricacies of these can be mastered with the help of grammar atone. Without it we can never know the reality, even about a single word.

पाणिनि व्याकरण जहाँ लौकिक-भाषा के नियमोपनियमों का पूर्ण परिचय कराता है, वहाँ वह वैदिक नियमों का भी ज्ञान कराता है—जैसाकि महाभाष्यकार ने प्रथमाह्निक के प्रारम्भ में ही लिखा है—"केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावद्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिमृगो ब्राह्मणा इति। वैदिकाः खल्वपि-शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीडे पुरोहितम्। अग्न आ याहि वीतये॥" साथ ही यह जनश्रुति भी ठीक ही है कि वेद में प्रवेश हेतु पाणिनीय-व्याकरण की अपरिहार्य आवश्यकता होती है। पाणिनिव्याकरण वेद में

प्रवेश के लिए कितना सक्षम है यह तो उसके वेदविषयक सूत्रों—उणादयो बहुलम्, बहुलं छन्दसि, व्यत्ययो बहुलम्, सिष् बहुलं लेटि आदि-आदि की प्रामाणिकता से स्वतःसिद्ध है। इस विषय में वैदिक व्याकरण के ज्ञाता श्री वेंकटमाधव की यह उक्ति है कि—पाणिनि व्याकरण के अन्तर्गत आये हुए वैदिक नियमोपनियमों के आधार पर जो गति वेदार्थ में हो सकती है, वह किसी एक वैदिक व्याकरण निबद्ध ग्रन्थ या प्रातिशाख्य से नहीं हो सकती। पाणिनि के लगभग 400 सूत्रों को वैदिक ज्ञान के लिए ही अष्टाध्यायी में उनका प्रणयन किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदार्थ ज्ञान में पाणिनि व्याकरण की महती आवश्यकता है। पाणिनि व्याकरण में वैदिक स्वरों की महत्ता के सम्बन्ध में प्राचीन वैयाकरण श्री वेङ्कटमाधव ने लिखा है कि—

"वेदार्थ में स्वर ज्ञान सबसे प्रधान साधन है। पाणिनि ने स्वरशास्त्र के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से न केवल प्रत्यय तथा आगम के इत् नित् चित् आदि अनुबन्धों पर विशेष ध्यान रखा है अपितु लगभग 400 सूत्र केवल स्वर विशेष के परिज्ञान के लिए ही रचे, इससे पाणिनि की वेदमता स्पष्ट है।"

पाणिनि व्याकरण के सम्बन्ध में पाश्चात्य क्षेत्र के विद्वान् डा० पालथीमे का विचार है कि "आचार्य पाणिनि ने वेद को ही अपना महत्त्वपूर्ण विषय बनाकर वैदिक व्याकरण की रचना के साथ-साथ एक प्रासंगिक रूप में लौकिक व्याकरण की रचना की है।"

महर्षि दयानन्द ने पाणिनि-व्याकरण अर्थात् सांगपंचतन्त्री को हृदयंगम करते हुए वेदभाष्य किये हैं। अन्य वेदभाष्यकर्ताओं ने वेदार्थ में सामान्य व्याकरण का ही परिचय दिया है अथवा वेदभाष्य करने की होड़ में उन्होंने व्याकरण की उपेक्षा की है, किन्तु महर्षि ने महाभाष्यकार के अनुसार वेदार्थ में व्याकरण को प्रमुखता देते हुए शब्दों की मूलकता तथा धातु पर विचार करते हुए वैदिक स्वर आदि के आधार पर व्याकरणात्मक प्रकृति, प्रत्यय पर पूरा-पूरा विचार किया है। यास्क और भाष्यकार पतंजलि इन दोनों की यह धारणा है कि वैदिक शब्द योगिक हैं जैसाकि निरुक्त में बताया है—"तत्र नामान्याख्यातजानी-तिशाकटायनो नैरुक्त समयश्च।" इस प्रकार धात्वर्थ के आधार पर एवं ऋषि, छन्द, देता के आधार पर भी मन्त्रों का व्याकरणपरक अर्थ आवश्यक है जो महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के मन्त्रार्थ में अनुस्यूत या भरा पड़ा है।

वेदार्थ ज्ञान में स्वरों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसाकि महाभाष्यकार ने लिखा है—"असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्तिस्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति।" महाभाष्यकारीय उक्त वचन से यह निर्विवाद है कि शब्दार्थ में स्वर की कितनी महत्ता है। स्वर विषयक विशेषता को लेकर महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में व्याकरण के प्रकृति, प्रत्ययों के आधार पर स्वरांकन

में जो दक्षता दिखलायी है, उसका भी गवेषणात्मक अध्ययन आवश्यक है। वेदार्थ में स्वर विषयक व्याकरण की उपादेयता, आर्षपद्धति में यम (ग्वं आदि) अक्षरों की प्रमुखता, इन शब्दों का अस्तित्व तथा इस विषय में महर्षि दयानन्द की धारणा प्रामाणिक है अथवा जो पौराणिक क्षेत्र के मूर्धन्य विद्वान् इन अक्षरों के उच्चारण को अपभ्रंश रूप में करने को प्रामाणिक मानते हैं, सही है—इस विवादास्पद विषय में महर्षि दयानन्द की आर्षदृष्टि से विचार किया जाना आवश्यक है। इसके साथ ही यौगिक शब्दों की क्या विशेषता है? कैसे व्युत्पत्ति करनी चाहिए? आदि-आदि पर महर्षि की जो अनोखी सूझबूझ है, उसका भी चित्रण करना विषय को परिपुष्ट करना है। इसी प्रकार सायण, महीधर आदि आचार्यों ने किन-किन मन्त्रों का व्याकरणपरक अर्थ नहीं किया है तथा कहाँ-कहाँ व्याकरण की उपेक्षा की है एवं आधिदैविक आधिभौतिक आध्यात्मिक मन्त्रों का या तो यज्ञपरक अर्थ किया है या अनुचित रूप से अर्थ संयुक्त करते हुए उन उन मन्त्रों का स्वर विषयक स्पष्ट स्पष्टीकरण नहीं दिया है इन सबका प्रथम अध्ययन को चार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्राच्य ग्रन्थ-लेखन की परिपाटी के अनुसार प्रथम परिच्छेद में अध्ययन के प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है। द्वितीय परिच्छेद में अध्ययन की परिधि के सम्बन्ध में चर्चा की है। साथ ही इसकी आधार-सामग्री क्या हो सकती है, का भी प्रतिपादन किया है। तृतीय और चतुर्थ परिच्छेदों में इस प्रमुख अध्ययन का विशिष्ट निरूपण क्या है? तथा महर्षि दयानन्द की वेदभाष्य-शैली में व्याकरण का विशिष्ट आधार कैसे साध्य है? के प्रतिपादन के लिए व्याकरण के कतिपय हेतु दिये हैं।

द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य

यजुर्वेद के विविध भाष्यकर्ताओं में महर्षि दयानन्द के भाष्य में व्याकरण-शैली की प्रधानता को सुसाधित किया है। महर्षि दयानन्द की मन्त्रगत व्याकरण-पद्धति को विस्तृत रूप से रखा है और अन्य भाष्यकारों की मन्त्रगत व्याकरण-प्रक्रिया की अपेक्षा महर्षि की व्याकरण-पद्धति को प्रौढ़ के रूप में अवस्थित किया है। प्रथम परिच्छेद में महर्षि से प्राक्कालिक भाष्यकारों की मन्त्र में प्रदत्त व्याकरण-पद्धति के विषय में आद्योपान्त विचार किया है। द्वितीय परिच्छेद में सायण की मन्त्रार्थ में व्याकरण शैली को दिखाकर महर्षि की व्याकरण-शैली का महत्त्व पूर्णरूपेण व्याख्यात किया है। आचार्य सायण ने मन्त्र के पद-साधुत्व में व्याकरण को पर्याप्त रूप से प्रस्तुत किया है, किन्तु अपनी पूर्व नियुक्त धारणा कि प्रत्येक मन्त्र का भौतिक अर्थ होता है, के अनुसार धात्वर्थपरक षटसाधुत्व की उपेक्षा करने के कारण मन्त्र के वैज्ञानिक अर्थों को उपेक्षित कर दिया। इसी कारण मन्त्र के सारगर्भित अर्थ को प्रस्फुटित नहीं कर पाये। महर्षि की भाष्य शैली में सारगर्भित अर्थ तात्विक रूप से उभरकर आता है। तृतीयपरिच्छेद में महर्षि दयानन्द के प्रकृति प्रत्यय पूर्वक अर्थात्

शब्द की धातुमूलकता को लेकर अर्थोद्घाटन किया है और इसी धातुमूल सिद्धान्त के आधार पर मन्त्र में आये यौगिक शब्दों की निष्पत्ति की है। चतुर्थ परिच्छेद में पौर्वकालिक एवं परवर्ती भाष्यकारों के साथ महर्षि दयानन्द के भाष्य की तुलना की है।

तृतीय अध्याय में प्रतिपाद्य

महर्षि दयानन्द की वैदिक स्वर विषयक मान्यता को चार परिच्छेदों में अंकित किया है। प्रथम परिच्छेद में पाणिनि व्याकरण के आधार पर उदात्त, अनुदात्त, स्वरितादि स्वरों के भेदों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। महर्षि दयानन्द के स्वर-व्याख्यान प्रधान सौवर ग्रन्थ की महत्ता को भी स्पष्ट किया है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी पर विविध व्याख्याकारों की स्वर सम्बन्धी सम्मतियों का आकलन कर प्रस्तुत किया है। केवट और नागेथ की व्याख्याएँ द्रष्टव्य हैं। स्वर सम्बन्धी पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने स्वर विषयक जो टिप्पणियाँ दी हैं, उनको प्रस्तुत करना प्रकरण के अनुकूल माना है। पाणिनि के अनन्तर जिन आचार्यों ने स्वर विषयक विवेचना की है, उसका भी समायोजन किया है। मन्त्रों के अन्दर जो स्वरांकन है, उसके आधार पर अर्थ स्पष्ट हुआ है, उसमें महर्षि दयानन्द ने कितना योगदान दिया है, इसको भी सुतरां प्रतिपादित किया है। द्वितीय परिच्छेद में ति्, नित्, ङित् और चित् प्रत्यय आदि के आधार पर स्वरों में परिवर्तन से मन्त्रार्थ में कैसे संगति लगती है, इसको काफी निरूपित किया है। तृतीय-चतुर्थ परिच्छेदों में महर्षि की इस धारणा को प्रबल किया है कि स्वर-नियमों के आधार पर वेदार्थ में कैसे प्रवेश हो सकता है और यह तो सर्वथा सत्य है ही कि स्वर-त्रुटि से वेदार्थ में आनर्थक्य हो जाता है। जैसाकि चतुर्थ परिच्छेद में 'कृष्ण' शब्द के स्वर के सम्बन्ध में संकेत किया है। यजुर्वेद 2/1 में यह 'कृष्ण' शब्द पठित है। यदि इस शब्द को आद्युदात्त मान लें तो मृग वचन परक होगा, जैसाकि आचार्य उबट एवं महीधर ने कहा है—

"अस्ति कृष्णशब्दो मृगवचन आद्युदात्तः, तदिहाद्युदात्तत्वात् कृष्णमृगो गृह्यते।"

किन्तु 'कृष्ण' शब्द की व्याख्या 'कृष्ण' वर्ण में प्रयुक्त करके नत्र् प्रत्ययान्त प्रत्ययाद्युदातत्व के द्वारा अन्तोदात्तत्वं प्राप्त होने पर बाहुलकात् आद्युदात्तत्व स्वर-सिद्धि होगी, जिसका अर्थ महर्षि दयानन्द के अनुसार—

"(कृष्णः) अग्निना छिन्नो वायुना कर्णितो यज्ञः।"

'कृष्ण' शब्द का यज्ञपरक अर्थ होगा।

आचार्य उबट एवं महीधर के अनुसार 'कृष्ण' शब्द का अर्थ मृग है। प्रस्तुत स्थल पर 'मृग' अर्थ कर दिया जाय तो स्वर-त्रुटि के कारण आनर्थक्य हो जायेगा तथा यज्ञपरक अर्थ करने पर महर्षि दयानन्द का—"कृष्णः अग्निना छिन्नो वायुना

कर्षितो यज्ञः।" यह अर्थ युक्तियुक्त है क्योंकि 'कृष्ण' का तात्विक अर्थ जो यज्ञपरक है, स्वर-बोध से ही हो सकता है। स्वर-त्रुटि के होने पर आनर्थक्य होना स्वाभाविक ही है।

चतुर्थ अध्याय में प्रतिपाद्य

वेदभाष्य करने में निरुक्त के अनुसार मंत्रगत शब्दों की निरुक्ति अत्यन्त आवश्यक है, यदि यास्क का निरुक्त न होता तो कतिपय वैदिक पदों की निष्पत्ति में भटक जाती। षट-पट् पर वैदिक शब्दों की व्याख्याएँ निरुक्त के आधार पर ही सम्यक् रूपेण प्रतिपादित की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए एक व्युत्पत्ति प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं
सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे
वितस्तयार्जीकीये श्रणुह्या सुसोमया।।" —ऋग्वेद 10/75/5

इस मन्त्र में गंगा शब्द का अर्थ निरुक्त की प्रक्रिया एवं निष्पत्ति के आधार पर ही निकाला जा सकता है। यास्क के अनुसार गंगा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

"गंगा गमनात्" —निरुक्त 9/25

महर्षि ने अपने मन्त्रार्थ में पद-पद पर निरुक्त प्रक्रिया को आधार बनाकर मन्त्रार्थ किया जिसका विस्तृत रूप से विवेचन शोध-प्रबन्ध के विवेच्य अध्याय में किया गया है।

पंचम अध्याय में प्रतिपाद्य

यजुर्वेद के प्रथम और द्वितीय अध्यायस्थ पदों में व्याकरण-प्रक्रिया को विस्तृत रूप देकर उक्त अध्याय को प्रस्तुत किया है। संक्षेप में उन पदों को मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनकी व्याकरणपरक व्याख्याएँ की गयी हैं।

1. अघुक्षः
2. अन्वेमि
3. अभिविख्येषम्
4. अवधूताः
5. आप्यायध्वम्
6. उत्पुनामि
7. क्रमताम्
8. तनच्मि
9. पुनातु

10. प्रत्युष्टम्
11. प्रावयतु
12. राध्यताम्
13. श्रययतु
14. सविता
15. सविता

इसी प्रकार इस अध्याय में अन्य भी अनेक तिङन्त एवं सुबन्त वैदिक पदों का विवेचन व्याकरण दृष्ट्या किया गया है।

षष्ठ अध्याय का प्रतिपाद्य

विवेच्य अध्याय में यजुर्वेद के तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों की व्याकरण प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है, तृतीय अध्याय में से 56 शब्दों का चयन इस सन्दर्भ में किया है, कुछ पद हैं—

1. अन्नादम्
2. उपप्रयन्तः
3. करत्
4. जमदग्नेः
5. दूडभः
6. मयोभुवा
7. स्वधितिः

इसी प्रकार चतुर्थ-अध्याय (यजुर्वेद) में भी अनेक शब्दों का चयन किया है, जिनमें से कुछ हैं—

1. अक्ष्णः
2. आत्मा
3. उरोः
4. यज्ञवाहसम्
5. विष्णवे

सप्तम अध्याय का प्रतिपाद्य

शोध-प्रबन्ध के सप्तम अध्याय के अन्तर्गत महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत यजुर्वेद भाष्य के पंचम एवं षष्ठ अध्यायों का समावेश करते हुए पंचम अध्याय से 51 पदों का चयन इस सन्दर्भ में किया गया है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. अङ्घारिः
2. कविः
3. गिर्वणः
4. दुवस्वान्
5. प्राची
6. सुपजा

यजुर्वेदीय षष्ठ अध्याय से व्याकरणपरक विवेचन के लिए कुल 37 शब्दों का चयन किया है, जिनमें से कुछ प्रस्तुत हैं—

1. आरण्यः
2. पदम
3, परिवीः
4. मन्दिन्तमः
5. श्वात्राः

अष्टम अध्याय का प्रतिपाद्य

शोध-प्रबन्ध के अष्टम अध्याय के अन्तर्गत व्याकरणपरक विवेचन के लिए यजुर्वेद के सप्तम एवं अष्टम अध्यायों को रखा गया है। सप्तम अध्याय से 44 पदों पर विवेचन किया है, कुछ हैं—

1. अकवारिम्
2. आनुषक्
3. जातवेदसम्
4. माध्वी
5. शर्वाभिः

इसी प्रकार यजुर्वेद के अष्टम अध्याय में 53 पदों का चयन व्याकरणपरक विवेचन के सन्दर्भ में किया गया है, जिन पर विवेचन करते समय शब्दों के मूल प्रकृति, प्रत्यय या प्रत्यान्तों की विवेचना पाणिनीय अष्टाध्यायी, उणादि कोष एवं अन्य व्याकरण ग्रन्थ तथा महर्षि दयानन्द के मतों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. अभिदासति
2. जरायुणा
3. पीत्वी
4. मदिन्तमानाम्
5. वृत्रहन्

नवम अध्याय का प्रतिपाद्य

विवेच्य अध्याय में यजुर्वेद के नवम एवं दशम अध्यायों के विशिष्ट चयनित शब्दों की व्याकरण-प्रक्रिया को महर्षि दयानन्द की भाष्य-सरणि में प्रस्तुत किया गया है। पदों पर विवेचन करते समय धातुगत प्रकृति, प्रत्यय के साथ पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी से आवश्यक सूत्रों का उल्लेख भी यथास्थान किया गया है। इन शब्दों में से कुछ इस प्रकार हैं—

1. चिताना:
2. त्विषि:
3. पस्त्यासु
4. मान्दा:
5. सत्यप्रसव:
6. सुरायम्
7. हंस:

यजुर्वेदीय दशम अध्याय से कुल 50 शब्दों का चयन व्याकरण-परक विवेचन के लिए किया गया है, कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

1. अग्निनेत्रेभ्य:
2. अन्वारभामहे
3. ऊर्जाहुतप:
4. ज्येष्ठ्याम
5. ब्राह्मणानाम्
6. सनेमि

दशम अध्याय का प्रतिपाद्य

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य पर अपने हेत्वाभासों के आधार पर कई महानुभावों ने कटाक्ष और आक्षेप किये हैं। उनके ये आक्षेप निराधार बालुका के ऊपर विविध भ्रान्तियों की ईंटों से निर्मित व सज्जित भवन के सदृश हैं। यहाँ एक विचित्र विसंगति दिखायी पड़ती है। आक्षेपकर्ताओं की मान्यता रूपी असि से उनके ही आक्षेपों पर प्रहार होता है तो उनको अपने दिये हुए हेतु हेत्वाभास के रूप में छिन्न-भिन्न दिखायी पड़ते हैं। जैसाकि आक्षेपकर्ताओं का यह अभिकथन है कि वेदार्थ में पाणिनि-व्याकरण की अपरिहार्य आवश्यकता है। यहाँ पर यह लिख देना भी युक्ति-युक्त होगा कि महर्षि दयानन्द की भी यही धारणा है कि व्याकरण के बिना वेदार्थ में प्रवेश हो ही नहीं सकता। आक्षेपकर्ता एवं जिस पर आक्षेप किया जा रहा है, दोनों का आधार पाणिनि-व्याकरण ही है। अब ऐसी स्थिति में पाणिनि-व्याकरण

के आधार पर आक्षेपकर्ताओं को समाधान दिये जाते हैं तो सर्वथा निरुत्तर और अवाक् रह जाते हैं। इसलिए महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य पर किये गये आक्षेप सर्वथा मिथ्या धारणाओं पर अवलम्बित हैं।

इस अध्याय में उन सब आक्षेपों एवं उनके व्याकरणपरक समाधानों को संग्रहीत कर विवेचन किया गया है।

शोध-प्रबन्ध के उपसंहार के रूप में शोध-प्रबन्ध में विवेचित विषयों पर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचना की गयी है।

महर्षि दयानन्द के परिप्रेक्ष्य में महाभारत में निर्दिष्ट धर्मों व दर्शनों का समीक्षात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—राजकुमारी शर्मा
निर्देशक—डा० निगम शर्मा
वर्ष—1987

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में महाभारत एक रत्नकोष है। भारतीय इतिहास की परम्परा में महाभारत का अपना एक महान् अनुदान है, साथ ही धर्म-मीमांसा की दृष्टि से अपना मूर्धन्य स्थान बनाये हुए है। कला, क्रीड़ा, काव्य, संगीत, गीता, जिगीषा, गो-पालन, कृषि, ज्योतिष, ज्यामिति, दर्शन आदि विषयों में प्रेरणा देने के लिए महाभारत का तारतम्य एक लम्बे युग से बना हुआ है, अध्यात्म-विद्या जिसमें योग, सांख्य, वेदांत और उपनिषद्-रहस्य की बातें प्रमुखता से गिनाई जाती हैं—महाभारत इनके लिए भी एक उपजीव्य-ग्रंथ है। महाभारत के उपदेश तथा दृष्टांत जीवन के सर्वांगीण-क्षेत्र पर प्रकाश डालते हैं। कृष्ण भगवान के द्वारा उपदिष्ट गीता का मर्म महाभारत का ही एक अनुबिम्ब है। विश्व की समस्त सभ्य जातियों ने गीता के इस रहस्य को जानने-पहचानने तथा छान-बीन करने में अपना महान योगदान दिया है।

महाभारत को पंचम वेद कहा जाता है। वेद के बहुत से रहस्य महाभारत के दर्पण में अनुबिम्बित होते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र को सर्वोपयोगी और सभी कलाओं का केन्द्र माना है पर यहाँ कृष्ण द्वैपायन भगवान वेदव्यास की भी घोषणा है कि हमारे द्वारा रचित वेद (महाभारत) महान फलों की निष्पत्ति में प्रमुख स्थान रखता है।[1]

ऋषि को परम्परा से प्राप्त ऋषि-धर्म, कुटुम्ब-धर्म, छात्र-धर्म, आदि के बारे

---

1. अक्षुद्रान् दानशीलांश्च सत्य शीलाननास्तिकान्।
   कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान् छावयित्या धर्मश्नुते ।। आदि 62-18

में एक बड़ी मनीषा तथा मीमांसा प्रस्तुत करनी थी अतः युद्धकथा को निमित्ति-मात्र बनाया और प्राचीन सभी शास्त्रों का अनुदोहन करके अपने सिद्धान्त-रत्न को प्रकाशित किया।

संसार में विस्तृत प्रत्यक्ष अर्थात् सर्वानुभवगम्य चार्वक (बृहस्पति) मत अथवा अन्य स्थूल प्रतिपादनों को देखते हुए क्रमशः लोकज्ञ को सूक्ष्मानुभूति भी होती जाती है। इन सब सूक्ष्म-विषयों का प्रतिपादन छोटी-बड़ी कथाओं के माध्यम से जिस प्रकार महाभारत में अंकित हुआ है, वह न केवल लोकरंजक महत्व रखता है, अपितु विश्व-साहित्य में इस सिद्धान्त शैली ने अनुपम योगदान किया है।

पुनर्जन्म, जीव का स्वरूप, जगत् की सत्ता के विश्व-सत्ता का प्रतिष्ठान, प्रकृति-विकृति का चिन्तन, सत्कार्यवाद की मीमांसा आदि विषय भी महाभारत की सरल, स्वाभाविक भाषा-शैली में उपनिषद हैं, तथापि अभी तक इस सामग्री का वर्गीकरण के साथ सूक्ष्म और पूर्वापर वाङ्मय से तुलना करके तथ्यात्मक विवेचन नहीं हो पाया है। महाभारत से सम्बन्धित बहुत से काव्यों तथा अन्य ग्रन्थों में अंश रूप से कुछ चर्चा अवश्य मिलती है किन्तु इससे महाभारत में निर्दिष्ट धर्मों तथा दर्शनों के स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता और न तो ऐसा होना सम्भव ही प्रतीत होता है, क्योंकि विषय तथा विवेचन क्षेत्र की विभिन्नता ही इस दृष्टि-बीज में बाधक रही है, अतः महाभारत के धार्मिक तथा दार्शनिक चिन्तन पर आधारित न होने के कारण ऐसे आलोचनात्मक संस्करण कुछ अंश में ही उपादेय हो सके हैं।

भारतीय धर्म और दर्शन के विषय में बहुत-सी भ्रान्त धारणाएँ भी फैली हुई हैं जिनका अन्य-अन्य धर्मवाले अपनी-अपनी सिद्धि में खण्डन-मण्डन करते रहे हैं। इन समस्त विषयों और विचारों के बारे में एक तथ्यात्मक अनुशीलन की आवश्यकता है। अतः उन प्राचीन सिद्धान्तों की उपादेयता की दृष्टि से यह समीक्षात्मक आलोचन एक तात्विक रूप-रेखा प्रस्तुत कर सकेगा।

भारतीय संस्कृति के तत्वाख्यान, देववाद, नृत्य-गीत-वाद्य-नाट्य सामग्री, प्रकृति-विकृति-चिन्तन, दार्शनिक-चिन्तन, यज्ञ-विज्ञान, काव्य-कला, मीमांसा, राष्ट्र-धर्म आदि विषयों के लिए महाभारत एक विशाल रत्नाकर है। इसके विविध पक्ष पर गवेषणा की दृष्टि से चिन्तन भी किया जाता रहा है। धर्म के स्वरूप तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित एक शोधात्मक समीक्षा प्रस्तुत करना इस अध्ययन का मुख्य प्रयोजन है।

महर्षि दयानन्द एक महान तत्ववेत्ता थे। वेद का ज्ञान ही ईश्वरीय ज्ञान है, इस मान्यता के आधार पर ज्ञान वितरण किया है। ऋषि दयानन्द के अनुसार वेद

में समस्त ज्ञान-विज्ञान है,[1] वेद निहित ज्ञान को चार रूपों में बाँटा है—विज्ञान, कर्म, उपासना व साक्षात्कार।[2]

महर्षि दयानन्द एकेश्वरवाद को मानते हैं। बहुदेववाद का वर्णन नहीं किया है। वेदों के आधार पर ही ईश्वर को इस सृष्टि का कर्ता व हर्ता मानते हैं। वेद ही ज्ञान का मार्ग है, उनके मार्ग पर न चलना अविद्यारूपी घोर अन्धकार में पड़कर दारुण दुख का भोग करना है। दान के बारे में स्वामीजी की मान्यता थी कि दान के फल सर्वत्र प्राप्त हैं। उत्तम, मध्यम व निकृष्ट तीन प्रकार के दाताओं का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। उनका कहना है कि परोपकारार्थ सुपात्र को दिया गया दान पुण्यप्रद है, एवं कुपात्रों को दान देना निष्फल है। स्वामीजी वेद व मनुस्मृति के सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं।

स्वामी दयानन्दजी ने तीर्थ शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। "जनाः येस्तरन्ति तानि तीर्थानि", मनुष्य जिन्हें करके दुःखों से तरे उनका नाम ही तीर्थ है। जो जल स्थलमय है, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते, जल तरानेवाले नहीं, बल्कि डुबोकर मारनेवाले हैं।

स्वामी दयानन्दजी ने भारतीय समाज को सनातन धर्म का यथार्थ रूप दर्शाकर उचित मार्ग प्रशस्त किया है, जो भारतीय जन-जीवन के लिए अमर प्रेरणादायक है।

प्रथम खण्ड

प्रस्तुत विषय की दृष्टि से महाभारत का स्वरूप, महत्व, काल, परिस्थिति एवं वर्तमान स्वरूप इस खण्ड में चर्चा का विषय रहे हैं। इस खण्ड में महाभारत में निर्दिष्ट धर्मों एवं दर्शनों की पृष्ठभूमि, निर्दिष्ट त्रिवर्ग धर्म की प्रधानता की विवेचना सहज ढंग से की गयी है। धर्म के लक्षण एवं स्त्रोत, धर्म के तीन स्तर तथा धर्म और दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करते हुए वेद को धर्म का स्रोत बताते हुए "वेदो खिलो धर्ममूलम्" मनुजी के विचारों का समावेश किया गया है। अनुशासन पर्व में 'वेदोक्तः परमोधर्मः' कहा है।

'दृश्यत अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये वही दर्शन है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार दर्शन को फिलासफी की सामान्य संज्ञा दी गयी है। इस शब्द का अर्थ विद्यानुराग से सम्बन्धित है। भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शन के अनुपात में अधिक सर्वांगीण व सुगठित है तथा व्यावहारिक व लोकोपकारी है। भारतीय दर्शन में आत्मा-परमात्मा को ज्ञात करने के लिए बौद्धिकता का सहारा

1. दयानन्द दर्शन—डा० वेदप्रकाश गुप्त, पृ० 7
2. यजुर्वेदभाष्य—महिधर—भूमिका

लिया गया है। भारतीय विचारक भारतीय दर्शन को दैवी प्रेरणा की पद्धति के रूप में ही मानते हैं। वैदिक काल से भारतीय दर्शन की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती चली आ रही है, इसी भारतीय दर्शन के विवेचनात्मक तत्वज्ञान के फलस्वरूप ही भारतीय धर्म उदार व व्यापक तथा मानवीय रहा है। भारतीय ऋषियों का उपदेश ही भारतीय दर्शन व धर्म की मूलभित्ति है।

अतः भारतीय दर्शन व धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। भारतीय दार्शनिक की परिपुष्टि के आधार पर ही धर्म की प्रतिष्ठा अवलम्बित है।

स्वामी दयानन्द के मतानुसार वैदिक साहित्य में सनातन सत्य निहित है। वेद ज्ञान ही ईश्वरीय ज्ञान है। स्वामीजी वेद-धर्म को सनातन मानते हैं। 'नास्तिको वेदनिन्दकः' वेद विरुद्ध धर्म को माननेवाला नास्तिक है। स्वामीजी के अनुसार वेद आप्तोक्त है। वेद स्वयं प्रकाशमय हैं, उनके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

दूसरा खण्ड

पुराणों के अनुसार काल के चार परिणाम—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग हैं। मनुस्मृति के अनुसार सतयुग के धर्म बताते हुए कहा है कि सतयुग में अन्य धर्म होते हैं, त्रेता, द्वापर, कलियुग में युगानुरूप धर्म विलक्षण होते हैं। सतयुग में धर्म-प्रचार सर्वथा प्रमुख है। इसमें स्वार्थ की भावना नहीं होती है। सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्यों में संलग्न रहते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि "सत्ययुग में सभी धर्म सब अंगों से परिपूर्ण था और सत्य भी था।"

सत्ययुग के बाद त्रेता युग को धर्म को अंशतः दूषित करनेवाला युग कहा है। प्रत्येक के बीतने पर धर्म की मान्यता भी नष्ट होने लगती है। महाभारत के अनुशासन पर्व में नारदजी ने कहा कि "पहले सत्ययुग में धर्म अपने पैरों से युक्त होकर सबके द्वारा पालित होता था, तदनन्तर समयानुसार अधर्म की प्रवृत्ति हुई, इसी का नाम त्रेता युग है।

द्वापर में यज्ञ की महत्ता है। इस युग में वेद का ज्ञान नहीं किन्तु वेद के अनेक भाग कर लिये जाते हैं। सात्विक बुद्धि का क्षय हो जाता है, तथा कोई व्यक्ति ही सत्य में अवस्थित रहता है। इस युग में अधर्म, धर्म के पैरों को नष्ट कर देता है।

कलियुग को त्रांटक भी कहते हैं। इस युग में दान-धर्म ही महान माना गया है। ईर्ष्या, लोभ, क्रोध, मान, माया आदि दुर्गुण मनुष्यों में प्रवेश करते हैं। धर्म का क्षय होने से लोक भी क्षय होने लगता है। कलियुग में वेद प्रायः लुप्त हो जाते हैं।

वर्ण धर्म, चारों वर्णों के धर्मों का पृथक्-पृथक् विवरण इस अध्ययन में दिया

गया है। इस खण्ड में सनातन धर्म, राजधर्म, आपद् धर्म, सामान्य धर्म, अधर्म व अधर्माचरण का परिणाम, देवताओं का स्वरूप आदि की व्याख्या की गयी है। परलोक विषयक मान्यताओं तथा पुनर्जन्म जैसे गूढ़ विषय पर विवेचना की गयी है। पुनर्जन्म के विषय में महाभारत में महेश्वर व उमा संवाद का वर्णन है कि केवल वेद में पूर्णतः श्रद्धा करके परलोक एवं पुनर्जन्म होता है। परमात्मा की प्राप्ति हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता है।

स्वामी दयानन्दजी के अनुसार जीवात्मा देह से निकलकर स्थानान्तर या शरीरान्तर को प्राप्त होता है। कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगता है। सत्य भाषण, परोपकार, न्याय धर्म का पालन, व परमेश्वर की स्तुति व प्रार्थना से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है।

तीसरा खण्ड

दर्शन का पहला स्तर—कालवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, चार्वाक आदि गूढ़ विषयों पर व्याख्या कर सूर्य को दीपक दिखाने का प्रयास किया गया है। काल की महिमा अवर्णनीय माना गया है। नियतिवाद अर्थात् जो कुछ भी होता है, वह पहले से ही ईश्वर द्वारा नियत रहता है, वह टल नहीं सकता। सु- के अभाव को स्वभाव कहते हैं सु-ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्म विषयक ज्ञान से है। महाभारत में व्यासजी ने स्वभाववाद को मूढ़ों की कल्पना मात्र कहा है। दैवयोग से किसी कार्य के होने को यदृच्छा कहते हैं। चार्वाकवाले पुनर्जन्म में आस्था नहीं रखते, ये प्रत्यक्ष का ही प्रमाण मानते हैं।

दर्शनों का दूसरा स्तर हमें सांख्य, योग, वेदान्त तथा आन्वीक्षिकीवाद के अध्ययन द्वारा ज्ञात होता है। सांख्यदर्शन में तत्वों की मीमांसा अति अनुपम है। इस शास्त्र में योग तथा वेद में अधिक प्रामाणिकता समझकर इसके अध्ययन के लिए मनुष्यों को आगे बढ़ना चाहिए। योगदर्शन का भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट स्थान है। योग महाभारत के विभिन्न अध्यायों में भिन्न-भिन्न क्रम में आया है। वेदान्त के विचार में सत्य वही है जो किसी ज्ञान द्वारा बाधित न हो। वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य है, सत्य स्वरूप है। आन्विक्षिकी की विद्या द्वारा महर्षियों ने जिस ब्रह्म का उपदेश दिया है, उसी ब्रह्म की उपासना श्रेयस्कर है।

दर्शनों का तीसरा स्तर—पांचरात्र—को वैष्णव आगमन के प्रतिनिधि के रूप में माना जाता है। भागवत् के द्वारा भगवान की उपलब्धि का सुगम उपाय बताया गया है। पाशुपात सिद्धान्त में पशु व पशुपति के सम्बन्ध पर सैद्धान्तिक चिन्तन किया है। इसमें अद्भुत सायुज्य का वर्णन है। शेष सारे वर्णों व सम्प्रदायों में शिव शक्ति का विशेष उल्लेख व उपयोग हुआ है।

गीता में प्रतिपादित मोक्ष धर्म और उसके महत्व की मीमांसा करते हुए गीता

को भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख ग्रन्थ कहा है। इसमें कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग की व्याख्या सहज ढंग से की गयी है।

चौथा खण्ड

भारतीय धर्म एवं दर्शन को महाभारत का दाय—महाभारत श्रेष्ठ महाकाव्य है। महाकाव्यों में यह एक गम्भीरतम तथा विशालतम ग्रन्थ है। इस महाकाव्य के माध्यम से महर्षि वेदव्यासजी ने मानव में निहित समस्त नैतिक व आध्यात्मिक धर्म, राजनैतिक धर्म व सामाजिक धर्मों का व्यापक व विशाल विवेचनात्मक दिग्दर्शन ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति की महत्ता को भी दर्शाया है।

धर्म के यथार्थ व आदर्श रूप के साथ ही साथ दार्शनिक भावों का पिष्टपेषण भी किया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ इस महाकाव्य में कहा गया है, वहीं अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं कहा गया है।

महाभारत में निर्दिष्ट धर्मों की वर्तमान समय में जन-जीवन के लिए उपयोगिता के सम्बन्ध में महाभारत का अनुशीलन, समस्त मानवों का सत्यान्वेषी पथ-प्रदर्शक कहा गया है।

ऋषि दयानन्द की देन इस अन्धकारमय युग के लिए अविस्मरणीय है। वे ईश्वर, जीव, प्रकृति—तीनों सत्ताओं को अनादि मानकर यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। स्वामीजी के एकेश्वरवाद की व्याख्या इस खण्ड में की गयी है।

वाल्मीकि रामायण : एक परिशीलन

शोधकर्ता—वसन्तकुमार
निर्देशक—वेदप्रकाश शास्त्री
वर्ष—1987

वाल्मीकि रामायण महाकाव्य, लौकिक महाकाव्य का आदि रूप है। वैदिक-साहित्य के अनन्तर सरस्वती की कृपावशात् लौकिक छन्द का अवतरण सर्वप्रथम वाल्मीकि की रसवती रसना पर ही हुआ। तपःपूत महर्षि वाल्मीकि ने भी वेद-शास्त्रीय मर्यादा से अनुबद्ध, युग-पुरुष भगवान् राम के चरित्र का काव्यमयी पद्धति से संकीर्तन करके रामानुगामी होने का सन्देश जन-जन के मानस तक पहुँचाया। सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए जहाँ ऋषियों ने परमात्मा प्रदत्त ज्ञान को वेद मन्त्रों के माध्यम से प्रकट किया, वहाँ मन्वादि स्मृतिकारों ने वेदानुसार ही स्मृति ग्रन्थों का निर्माण करके सम्पूर्ण मानव-जीवन को व्यवस्थित एवं मर्यादित करने का प्रयास किया। वाल्मीकि रामायण में उन सभी मर्यादाओं के दर्शन होते हैं जिनका प्रतिपादन स्मृतियों में हुआ है। अतएव मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि एक तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर वाल्मीकि रामायण तथा स्मृतियों का अध्ययन किया जाये। तदनुसार मैंने रामायण में उन सभी स्थलों का अन्वेषण कर उन्हें प्रकट किया है जो मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतिकारों के साथ संगति प्राप्त करके परिपुष्ट हो रहे हैं।

वाल्मीकि ने मनुस्मृति को न केवल सैद्धान्तिक प्रक्रिया में स्वीकार किया है अपितु उन्होंने स्पष्टतया मनुस्मृति का नामतः उल्लेख करके पाठकों को अपने काव्य की स्मृत्यनुगामिता से अवगत कराया है। जैसे कि रामायण में प्रस्तुत श्लोकों के द्वारा स्पष्टतया प्रत्यय हो जाता है। श्रीराम बाली को समझाते हैं—

श्रूयते मनुनागीतौ श्लोकौ चारित्र वत्सलौ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया॥ कि. 18-30-32

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी ऐसे ही प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि रामायण का विरचन स्मृतिशास्त्र के अनुरूप ही हुआ है।

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में स्मृतियों की उन मूल प्रवृत्तियों को दर्शाया गया है जिनका मानव-जीवन के उत्थान एवं पतन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्मृतियों के विधि एवं निषेध विषयों को सामान्य दृष्टि से प्रतिपादित किया है। स्मृति परम्परा का प्रादुर्भाव दर्शाते हुए उसका वेदानुगामित्व सिद्ध किया है। क्योंकि स्मृतिकारों ने स्वत: ही अपने स्मृति ग्रन्थों को वैदिक परम्परा के अनुसार ही प्रतिपादित करने की घोषणा की है। जैसा मनु ने कहा है—

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्...।। 2.6

स्मृतिशास्त्र की यह परम्परा मनु से लेकर सुदीर्घ काल तक चलती रही। मानव-समाज की स्मृतियों के प्रति ग्राह्यता एवं सत्कार भावना को देखते हुए ही अनेक स्मृतिकारों ने अनेकश: स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण किया और वृद्धि-क्रम से स्मृतियों की संख्या लगभग 20 तक पहुँच गयी। मैंने उक्त अध्याय में सभी स्मृतिकारों का सामान्य परिचय देते हुए स्मृतियों के प्रमुख विषयों की ओर तथ्यात्मक दृष्टि से किञ्चित्मात्र अपना बौद्धिक उन्मेष किया है।

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय में मैंने वाल्मीकि रामायण के उस सामान्य विषय-विचार को प्रकट किया है जिसके आधार पर रामायण सर्वजन वैद्य एवं सकलसहृदय हृदयंगमनीय हो गया है। काव्य के सामान्य स्वरूप की व्याख्या करते हुए कतिपय प्रमुख अलंकार-शास्त्रियों की मान्यताओं के आधार पर काव्य के उस स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसकी किसी भी आचार्य ने किञ्चिन्मात्र भी अवमानना नहीं की है। काव्य मानव-जीवन में एक अभिनवचेतना उद्बुद्ध करता है। अत: काव्य का महत्त्व स्वत: ही सिद्ध है। काव्य के मनोवैज्ञानिक पक्षों के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि काव्य सामाजिक जीवन से अभिन्न रूप से सन्तृप्त होकर किस प्रकार सामाजिक चेतना में व्यापकता को धारण करता है। काव्य का प्रारम्भिक उन्मेष वाल्मीकि रामायण से पूर्व दृष्टिगत नहीं। अत: मैंने वाल्मीकि रामायण के आदि काव्यत्व की ओर भी प्राग्वर्ती आचार्यों की परम्परा के अनुसार ध्यान दिया है। वाल्मीकि ने रामायण की रचना का जो प्रयोजन स्वयं वर्णित किया है उसको प्रस्तुत करते हुए मैंने रामायण की लोकप्रियता की ओर भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। संक्षेपत: रामायण के उपजीव्य ग्रन्थों पर भी दृष्टिपात करते हुए उनकी सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है, रामायण के वर्तमान काल में

उपलब्ध प्रकाशनों की प्रामाणिकता पर भी विचार किया गया है।

इसी अध्याय में वाल्मीकि रामायण में सामाजिक चेतना तथा राष्ट्रीय चेतना को उद्‌बुद्ध करनेवाले उन विचारबिन्दुओं पर भी चिन्तन किया गया है जिनके आधार पर राष्ट्र एवं समाज अपने उत्कर्ष की कहानी को संजीवित कर सकता है।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में मानव-जीवन से सम्बन्धित उन नित्यकर्मों की व्याख्या की है जिनके आधार पर मानव-जीवन उत्तरोत्तर उन्नति के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है। नित्य कर्म व्यवस्था के अन्तर्गत स्मृतिशास्त्र द्वारा प्रतिपादित पञ्चमहायज्ञों के उस स्वरूप को मैंने रामायण में दर्शाने का प्रयत्न किया है जिसके आधार पर मानव लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की सरणी पर निरन्तर आरोहण करता हुआ प्रतीत होता है। कतिपय उन नैमित्तिक कर्म-व्यवस्थाओं की ओर भी ध्यान दिया है जिनका कर्मकाण्डीय परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। यह नैमित्तिक परम्परा पुत्रोत्पत्ति, नामकरण, विवाह एवं आश्रम दीक्षा आदि से संपृक्त है। नैमित्तिक परम्पराओं का यथावत् पालन स्मृतिशास्त्र के निर्देशानुसार ही रामायण में प्राप्त होता है। मानव स्वभावतः ही त्रुटिप्रधान है। ज्ञात अथवा अज्ञात स्थिति में वह अपने द्वारा कृत अपराधों का प्रायश्चित भी करना चाहता है। अतः स्मृतिशास्त्र में प्रायश्चित विधान के अनुसार ही रामायण में भी अहल्या आदि के प्रकरण तदनुसार ही वर्णित किये गये हैं। तप-अनुष्ठान, गुरुकुलीय शिक्षा एवं ऋषि परम्परा का मानवजीवन में अपरिहार्य स्थान है। इन बिन्दुओं पर रामायण में अत्यन्त सतर्कता के साथ स्मृतिशास्त्र के परिप्रेक्षण में ही चिन्तन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय

मानव समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का समुचित रूप ही उसके अभ्युदय का प्रधान कारण होता है। वर्णाश्रम व्यवस्था का समुचित परिपालन ही राष्ट्रीय अभ्युदय का मूल है। स्मृतियों में वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था को पूर्णतया व्यवस्थित प्रतिपादित करके मानव को तदनुसार चलने का सन्देश दिया है। अतः मैंने रामायण में ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक के सभी वर्णगत कर्तव्यों का तथा ब्रह्मचर्य से लेकर संन्यास तक के समस्त आश्रमगत कर्तव्यों का अन्वेक्षण स्मृतिशास्त्र की परम्परा में ध्यानपूर्वक किया है।

पंचम अध्याय

इसमें राजनीति के उन प्रमुख विषयों पर विचार किया गया है जिनके आधार

पर राजा जहाँ अपने राष्ट्र में सशक्त होकर शासन करता है वहाँ अन्य राष्ट्रों के मध्य उसकी गौरवगरिमा का यश भी प्रसृत होता है। राजा के उन अपेक्षित गुणों का वर्णन जो स्मृतिशास्त्र में वर्णित हुए हैं, अक्षरशः रामायण में उपलब्ध होता है। राजा को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित होने के समय गुरुओं द्वारा दिये गये उपदेश के जो महत्वपूर्ण पक्ष स्मृतिशास्त्र में वर्णित हैं, रामायण में हमें उनका वर्णन अक्षरशः प्राप्त होता है। उदाहरण के रूप में दशरथ तथा राम का चरित्र दिव्य-गुणों से युक्त दर्शाया गया है। राजा के उन्नयन में मन्त्रियों का समुचित चयन, राजसभा का संचालन, दूतों एवं उनकी योग्यतानुसार नियुक्ति, शिक्षा का समुचित प्रबन्ध आदि माने जाते हैं। इन अभ्युदयात्मक प्रधानभूत राज्य व्यवस्थाओं की ओर भी रामायण में परम्परागत संकेत मिलते हैं। इनके अतिरिक्त प्रजापालन का उत्कृष्ट रूप रामायण में दृष्टिगोचर होता है जो मन्वादि धर्माचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है।

षष्ठ अध्याय

इस अध्याय में अर्थव्यवस्था पर विचार किया गया है। अर्थव्यवस्था मानव-समाज का मेरुदण्ड है। क्योंकि अर्थ पर ही किसी राष्ट्र का अभ्युत्थान निर्भर करता है। अतः अर्थोपार्जन एवं व्यय के मूलभूत सिद्धान्तों को मैंने बड़े ध्यानपूर्वक रामायण में देखने का प्रयास किया है। कृषि एवं वाणिज्य के निर्विघ्न रूप से उन्नत होने पर आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र समृद्ध होता है किन्तु इसके साथ ही राजकोष का व्यय किस प्रक्रिया में होता है इस विषय में भी स्मृतिशास्त्र में कुछ निर्देश प्राप्त होते हैं। रामायण में हमें इस प्रकार के संकेत आर्थिक व्यय के विषय में प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर स्मृतिशास्त्रीय मान्यताएँ परिपुष्ट होती हैं। इसी अध्याय में मैंने राजकीय कर-व्यवस्था का भी समुचित उल्लेख किया गया है।

सप्तम अध्याय

इस अध्याय में न्याय एवं दण्डव्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है क्योंकि न्याय एवं दण्ड मानव-जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए नितान्त आवश्यक है। सामाजिक चेतना में भावात्मक शान्ति का होना किसी भी राष्ट्र की उन्नति का प्रधान कारण है। इसके लिए समाज में न्यायिक प्रक्रिया का शुद्ध होना सर्वप्रथम मान्य है। अतः राजा को अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण के साथ उन न्यायाधीशों की नियुक्ति करना अपेक्षित है जिनके द्वारा सामाजिक न्याय-प्रक्रिया में किसी भी प्रकार का दूषण न हो। न्यायिक प्रक्रिया में न्यायाधीशों की नियुक्ति से लेकर उनके अधिकार एवं कर्तव्य भी आ जाते हैं। स्मृतिशास्त्र में न्याय-प्रक्रिया के अन्तर्गत अपराध एवं उनके दण्ड भी निश्चित किये गये हैं। रामायण में अत्यन्त

स्पष्ट रूप से अपराधियों को वे ही दण्ड दिये गये हैं जिनका समर्थन स्मृतिशास्त्र में किया गया है। उदाहरण के लिए ताड़का, शूर्पणखा तथा बाली को दिये गये दण्ड उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही अपराधी में अपराध के प्रति वितृष्णा होकर सरल जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न हो इसके लिए कुछ उपाय संकेतित किये गये हैं जिनका अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वर्णन उपलब्ध है।

अष्टम अध्याय

इसमें युद्ध नीति का विस्तृत वर्णन किया गया है। मानव-जीवन में किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह व्यक्तिगत जीवन से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक व्याप्त होती है। युद्ध के पीछे कुछ मूल हेतु एवं उद्देश्य होते हैं। अतः युद्ध-प्रक्रिया को भी मानव-जीवन के साथ बाँधकर शास्त्रीय परम्परा में मर्यादित किया गया है जिसके आधार पर युद्ध का काल, उसका उद्देश्य, योद्धाओं की नियुक्ति तथा योद्धाओं के गुणों पर विशेष चिन्तन किया गया है। युद्ध क्षेत्र के उन नियमों की ओर भी ध्यान दिया गया है जिनके आधार पर युद्ध का व्यवस्थित रूप बना रहे। युद्ध में प्रयोग किये जानेवाले शस्त्रास्त्रों का वर्णन अथवा प्रयोग भी व्यवस्थित रूप से मिलता है। पराजित शत्रु के साथ कैसा व्यवहार किया जाये इत्यादि युद्धशास्त्रीय मर्यादा में आ जाता है। रामायण में युद्धकालीन परिस्थितियों के घटित होने पर यौद्धिक-मर्यादाओं का परिपालन करने का प्रयास किया गया है।

नवम अध्याय

इस अध्याय में धार्मिक परम्पराओं की ओर ध्यान दिया गया है। धर्म मानव-जीवन पुष्प की वह गन्ध है जिसके अभाव में मानव का बाह्य सौन्दर्य उस निर्गन्ध किंशुक पुष्प के समान है जिसका मात्र बाह्य सौन्दर्य ही दृष्टिगोचर होता है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में भी धर्म का प्रथम स्थान है। अतः स्मृतिशास्त्र में धर्म के सामान्य एवं विशेष लक्षण पर विस्तार से चिन्तन किया गया है। धर्म के अन्तर्गत आचार को परमधर्म की संज्ञा से विभूषित किया गया है। आचार की महत्ता को प्रतिष्ठित करते हुए "आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः" तक कह दिया गया है। हम देखते हैं कि व्यक्ति से लेकर समष्टि तक की जिन धर्म एवं आचार सम्बन्धी मान्यताओं को स्मृतिशास्त्र में वर्णित किया है वे सब मान्यताएँ रामायण में अखण्डता के साथ प्राप्त होती हैं। रामायण में जहाँ मातृ और पितृ धर्म का चित्रण स्मृतिशास्त्र से परिपुष्ट हो रहा है वहाँ पति और पत्नी का परस्पर मर्यादा से संजीवित धर्म स्मृतिशास्त्र की ध्वजा को ऊपर उठाये हुए है। दृष्टान्त रूप में श्रीराम और सीता का स्तुत्य चरित्र रामायण के प्रत्येक पाठक के लिए प्रेरणा बना हुआ है। एक भ्राता का

दूसरे भ्राता के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? इसका बोध भी हमें सहजतया रामायण से प्राप्त होता है जो धर्मशास्त्र का प्रतिनिधित्व करता है। मित्र धर्म का मानव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मित्र स्वधर्म का पालन करके अपने मित्र को जीवन की कठिनतम विसंगतियों से उभारकर कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित कर देता है। जैसे रामायण में हमें श्रीराम और वानरराज सुग्रीव की मैत्री से शिक्षा प्राप्त होती है। पुत्र परिवार का प्रमुखतम अंग है। पुत्र की चेष्टा परिवार के उन्नत शिखर पर दीप्त दीपक की भाँति प्रकाशमान होती है। अतः यदि पुत्र अपने धर्म का पालन करता है तो वह ऐतिहासिक परम्परा में भी अपना अक्षुण्ण स्थान बना लेता है। श्रीराम ने रामायण में जिन कर्त्तव्यों का पालन किया वे शिष्ट एवं प्रशंसनीय पुत्र के ही धर्म हो सकते हैं। अपने अग्रज राम की भाँति ही लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न ने भी अपने पुत्रधर्म का पालन पूर्ण मनोयोग से किया।

ऋग्वेद में प्रतिपादित विभिन्न विधाओं का संकलन एवं विवेचनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—सुरेन्द्र कुमार
निर्देशक—रामप्रसाद वेदालंकार
वर्ष—1987

वेदों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों को अनेकानेक धारणाएँ हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार वेद यज्ञों के प्रतिपादन के लिए हैं, कुछ मनीषियों के मत में वेद उन गीतों का संकलन है जिनकी रचना सिन्धु तट के निवासी आर्य लोगों ने की तथा जिनमें दैवी शक्तियों से अपने और अपने पशु समूहों पर ऐश्वर्य-वृष्टि की कामना की गयी है। विद्वानों का एक समूह ऐसा भी है जो वेदों को सभी सत्य विद्याओं को पुस्तक के रूप में स्वीकार करता है।

निर्दिष्ट विविध धारणाओं के होते हुए भी वेद के महत्त्व को सभी विद्वानों ने समवेत स्वर में परिमान्य किया है। वस्तुतः वेद यदि ईश्वर-प्रदत्त हैं जैसा कि वेद के अन्तःसाक्ष्यों एवं परिपुष्ट प्रमाणों से भी प्रमाणित है, तो उनमें सभी सत्यविद्याओं को संसूचना होनी चाहिए, भले ही वह सूत्र रूप में क्यों न हो; क्योंकि मनुष्य की उन्नति उसके नैमित्तिक ज्ञान पर आधारित है।

चारों वेदों में ऋग्वेद की पौरस्त्य तथा पाश्चात्य उभयविध विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। प्रस्तुत शोध कार्य ऋग्वेद में विभिन्न विद्याओं के सूत्रों को खोजने का प्रयास है। इस कार्य को प्रेरणा का श्रेय उन सभी बुधजनों को है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेद विद्याविषयक चिन्तन को गति प्रदान की है।

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है इस घोषणा के उद्घोषक स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य का इस शोध कार्य के आधार रूप में चयन किया गया है, किन्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद पर स्वामी दयानन्द का भाष्य उपलब्ध नहीं है अतः अन्य भाष्यकारों की भी यथाशक्ति सहायता ली गयी है जिनमें सायण, सातवलेकर, तथा जयदेव प्रमुख हैं तथा इसे दयानन्द के वेद विद्या विषयक आशय की पुष्टि ही समझा गया

है। यत्र-तत्र शोधार्थी ने धातु, प्रत्यय, व्याकरणात्मक प्रक्रिया को आधार बनाकर मन्त्रार्थ में शोधपरक स्वतन्त्र उहा का प्रयोग भी किया गया है। वैदिक भाव अविकृत रहे इसका पूर्ण ध्यान रखा है।

यह शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। पूर्व के दो अध्याय परिचयात्मक हैं। प्रथम अध्याय में वेद के सामान्य परिचय के साथ-साथ याज्ञिक ऐतिहासिक, नैरुक्तादि प्रमुख वेदभाष्य सम्प्रदायों का स्वरूप तथा सायण, दयानन्दादि वेद भाष्यकारों को वेद विषयक धारणाओं का समावेश है।

द्वितीय अध्याय में ऋग्वेद संहिता तथा संहितेतर साहित्य का परिचय मात्र है।

तृतीय अध्याय में आध्यात्मिक विद्याओं के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या, दर्शनशास्त्र तथा कल्प का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।

ब्रह्मविद्या

ईश्वर तत्त्व के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत है कि ऋग्वेद में बहुदेवतावाद है। कुछ भारतीय विद्वान् भी इसी मत के पोषक हैं। उनके अनुसार वैदिक देवतावाद, बहुदेवतावाद की ओर उन्मुख था, कालान्तर में एक देववाद और सर्वेश्वरवाद के रूप में उसकी चरम परिणति होती है।

यह परम सत्य है कि ऋग्वेद में देवतावाद तो है किन्तु देवता का अर्थ ईश्वर लेना तथा कालान्तर में बहुदेवतावाद से एकेश्वरवाद की ओर प्रवृत्ति का अभिकथन करना भारी भूल है। इस प्रकरण में ईश्वरविषयक उपर्युक्त धारणाओं के पक्ष-प्रतिपक्ष का उद्‌भावन करते हुए ऋग्वेद के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर-प्राप्ति के साधन तथा मोक्ष और पुनर्जन्म का विवेचन किया गया है।

दर्शनशास्त्र

जिज्ञासाओं की प्रवृत्तियों में दर्शनशास्त्र का उदय देखा जाता है। प्रमुखतः दर्शनशास्त्र का विवेच्य विषय वे अनादि सत्ताएँ हैं जो इस सृष्टि की कारण हैं। इस प्रकरण के अन्तर्गत ऋग्वेद में अनादि सत्ता विषयक जिज्ञासाओं तथा उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। साथ ही उन दार्शनिक प्रत्ययों को भी निर्दिष्ट किया है जिनका कि सांख्य योगादि दर्शनों में विस्तार हुआ है।

कल्प

सामान्य रूप से लोगों की यही धारणा है कि वेदों का प्रतिपाद्य मुख्यतः यज्ञ-यागादि ही है, किन्तु उपनिषद् महाभारत तथा पुराणादि में प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस सम्भावना को बल मिलता है कि लौकिक द्रव्य मय यज्ञ यागादियों की ऋषि-मुनियों

द्वारा कल्पना की गयी है। प्रतीत होता है कि इस कल्पना के कारण ही यज्ञों का एक नाम कल्प भी है।

इन समस्त धारणाओं के स्वरूप का विवेचन करते हुए इस प्रकरण में ऋग्वेद प्रतिपादित यज्ञ का स्वरूप वर्णित है।

चतुर्थ अध्याय में भौतिक विद्याओं के अन्तर्गत सृष्टि विज्ञानादि के स्वरूप का विवेचन किया है।

सृष्टि विज्ञान

यह विश्व कैसे बना ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए प्राचीनकाल से ही प्रयास होता रहा है, फलस्वरूप सृष्टि-निर्माण के विषय में अनेक धारणाओं का जन्म हुआ है। इस प्रकरण में सृष्टि विज्ञान से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं का उल्लेख करते हुए ऋग्वेद प्रतिपादित सृष्टि निर्माण प्रक्रिया का विवेचन हुआ है। साथ ही आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उक्त विवेचन का तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

खगोल विज्ञान

सौर मण्डल जिससे कि हम सम्बद्ध हैं, वह इस विशाल सृष्टि का एक छोटा-सा भाग है। यह छोटा-सा भाग भी इतना विशाल है कि अरबों वर्षों के श्रमसाध्य अन्वेषणों के बाद भी इस विषय में प्राप्त ज्ञान को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। खगोल विज्ञान नामक इस प्रकरण में सूर्य तथा ग्रह आदि की उत्पत्ति तथा भ्रमण आकर्षणादि के विषय में ऋग्वेद की धारणाओं का विवेचन करते हुए आधुनिक विज्ञान के एतद्-विषयक सिद्धान्तों के साथ तुलना की गयी है।

भूगर्भ विज्ञान

भूगर्भ विज्ञान के अन्तर्गत पृथिवी निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। पृथिवी निर्माण के सम्बन्ध में ऋग्वेद की क्या मान्यताएँ हैं, उनका विवेचन इस प्रकरण में हुआ है। साथ ही आधुनिक विज्ञान की भूगर्भ सम्बन्धी मान्यताओं से साम्य भी दर्शाया गया है।

जल विज्ञान

आधुनिक विज्ञान ने परीक्षणों के बाद यह सिद्ध कर दिया है कि जल, स्वतन्त्र रूप में एक तत्त्व न होकर हाइड्रोजन (Hydrogen) और आक्सीजन (Oxygen) नामक वायुओं का यौगिक है। ऋग्वेद में भी जलों को मित्र तथा वरुण नामक दो

वायुओं का यौगिक स्वीकार किया है, जिसका विस्तृत विवेचन इस प्रकरण में हुआ है।

विमान विज्ञान

संस्कृत भाषा में 'वि' का अर्थ पक्षी तथा 'मान' का अर्थ आकार अथवा परिमाप होता है। अतः विमान का अर्थ हुआ पक्षियों के आकार जैसा। इस प्रकरण के अन्तर्गत ऋग्वेद में विमान निर्माण के सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है।

आयुर्विज्ञान

चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदीय संहिताओं के अनुसार आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है, किन्तु ऋग्वेद में भी आयुर्वैज्ञानिक तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है, जिनका कि इस प्रकरण में विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में सामाजिक विद्याओं के अन्तर्गत राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का स्वरूप विविक्त है—

राजनीतिशास्त्र

प्रजा की प्रसन्नता-अप्रसन्नता, उत्थान-पतन सबकुछ राजा और उसकी नीति पर निर्भर है। राजा प्रबल पराक्रमी, बुद्धिमान्, चरित्रवान् तथा ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व का धनी होना चाहिए जो कि उसे सम्पूर्ण प्रजाजनों से उत्कृष्ट सिद्ध करता हो। राज्य में व्यवस्था की स्थापना हेतु राज-सभा, विद्या-सभा और धर्म-सभा नियत की जायें। प्रजा का पालन करते हुए राज्य में न्याय और दण्ड व्यवस्था को समुचित रूप दिया जाय। रक्षा और प्रतिरक्षा के उद्देश्य से सेना के गठन के साथ-साथ उसे शस्त्रास्त्रों से सज्जित किया जाय।

ऋग्वेद के अनुसार इन सभी राजनैतिक विषयों का विवेचन इस प्रकरण में हुआ है।

समाजशास्त्र

व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्तियों से परिवार तथा परिवारों से समाज का निर्माण होता है। रचना संघटनादि की दृष्टि से सामाजिक कलेवर की दो व्यवस्थाएँ धारण करती हैं, वे हैं—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था। यहाँ इन दोनों व्यवस्थाओं के विवेचन के साथ-साथ शिक्षा तथा अर्थ-व्यवस्था पर भी विचार किया गया है।

नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र मानव जीवन से सम्बद्ध आदर्शों का विज्ञान है। वह मनुष्य को कुछ शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, पाप और पुण्य का भेद बतलाता है। धर्म-अधर्म, सदाचार-कदाचार आदि का स्पष्टीकरण नीतिशास्त्र का ही विवेच्य विषय है। इस प्रकरण में धर्म, ऋत और सत्य के विवेचन के साथ-साथ व्यावहारिक नैतिक विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में कलात्मक विद्याओं के अन्तर्गत भाषा तत्त्व, काव्य तत्त्व तथा पुराण तत्त्व का विवेचन किया गया है।

भाषा तत्त्व

भाषा मनुष्य की विचाराभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में भाषाशास्त्रियों द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों की कल्पना हुई है। ऋग्वेद में भाषा उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, जिसका विवेचन इस प्रकरण में किया गया है। साथ ही भाषा के घटक तत्त्वों के रूप में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात पर भी विचार किया गया है।

काव्य तत्त्व

काव्य मानवीय भावनाओं और संवेदनाओं का मूर्त रूप है। क्रौंच पक्षी की विरह वेदना को देखकर महाकवि वाल्मीकि की संवेदना—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः' —के रूप में मूर्त होकर लौकिक काव्य का आदि स्रोत बन गयी। ऋग्वेद सृष्टि का आदि काव्य है, जिसमें मनुष्य की संवेदनाएँ ही नहीं अपितु सबकुछ निहित है। इस प्रकरण के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद में शैली, शब्द-शक्ति, रस तथा अलंकारों की विवेचना की गयी है।

पुराण तत्त्व

किसी गूढ़ विषय को आख्यान के माध्यम से सरलतापूर्वक स्पष्ट करना पुराण साहित्य का अपना वैशिष्ट्य है, अतएव इतिहास और पुराण को वेदोपबृहक माना जाता है। इस प्रकरण में बृहद्देवता आदि के कतिपय पौराणिक आख्यानों के मूल तथा उनमें अन्तर्भुक्त रहस्यों को स्पष्ट किया है। स्वामी दयानन्द ने भागवतादि को पुराण के रूप में स्वीकार नहीं किया है, पुनरपि इस प्रकरण में भगवतादि पुराणों के उन स्थलों की समालोचना भी की गयी है जिनमें कि ऋग्वेदोपबृहण हुआ है।

सप्तम अध्याय के अन्तर्गत ऋग्वेद में विद्याओं से सम्बद्ध किये गये शोध कार्य का संकलन है। इस संकलन का आधार विश्वविद्यालय बोर्ड द्वारा प्रकाशित शोध-ग्रन्थ सूचियाँ रही हैं। अन्त में उपसंहार करते हुए शोध कार्य की मौलिकता को दर्शाया है।
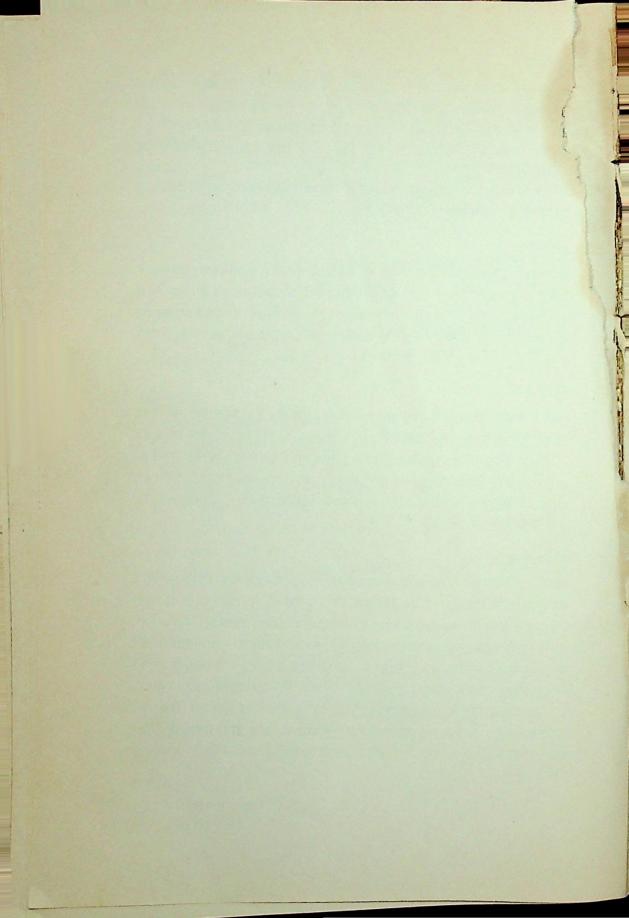
हिन्दी विभाग के शोध कार्य

शोध छात्र/छात्रा	विषय, निर्देशक, वर्ष
1. श्री योगेन्द्रनाथ शर्मा	स्वयंभू और तुलसी के नारीपात्र : तुलनात्मक अनुशीलन; निर्देशक—डा० एल० बी० राम 'अनन्त' 1972 ई० ।
2. श्री रामचन्द्र पुरी	भारतीय रस-चिन्तन पर वेदान्त दर्शन का प्रभाव; निर्देशक—श्री गयाप्रसाद शुक्ल, 1973 ई० ।
3. श्री सूर्यप्रकाश विद्यालंकार	सप्तक-त्रय : आधुनिकता एवं परम्परा; निर्देशक—डा० प्रभाकर माचवे, 1973 ई० ।
4. श्री दिनेशप्रकाश त्रिवेदी	तुलसी के नियतिवाद और आंग्ल साहित्यकारों के नियतिवाद का तुलनात्मक अध्ययन : निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, 1973 ई० ।
5. श्री हरिनन्दन प्रसाद	सूफी सन्त काव्य परम्परा में नूर मुहम्मद का स्थान और कृतियाँ; निर्देशक—डा० विष्णु दत्त राकेश, 1973 ई० ।
6. श्री प्रेमसिंह वर्मा	रीतिकालीन विविध काव्यांग-निरूपण की परम्परा के उपजीव्य ग्रन्थों के आलोक में आचार्य जनराज कृत 'कविता-रसविनोद' का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन; निर्देशक—डा० पंजाबीलाल शर्मा, 1973 ई० ।
7. श्री रामजीदत्त शैली	रामचरितमानस और वाल्मीकि-रामायणेतर रामचरितमूलक संस्कृत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन; निर्देशक—डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, 1974 ई० ।

8. श्री राजेन्द्र कुमार — प्रगतिवादी हिन्दी कविता और रूसी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन (1936 से 1950 ई०); निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश तथा डा० के० एस० ढींगरा, 1974 ई० ।

9. श्री विजयपालसिंह तोमर — आचार्य जगतसिंह : जीवनी और कृतित्व; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1975 ई० ।

10. श्री हरपालसिंह — मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में वैदिक परंपरा; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1975 ई० ।

11. श्री भोलाराम शर्मा — हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : उद्भव और विकास; निर्देशक—डा० जगदीश वाजपेयी, 1975 ई० ।

12. श्री केहरसिंह चौहान — हिन्दी व्याकरण का उद्भव और विकास; निर्देशक—डा० शिवप्रसाद शुक्ल, 1975 ई० ।

13. श्रीमती इलारानी कौशिक — स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में महानगरीय संवेदना; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1975 ई० ।

14. श्री पृथ्वीसिंह — रीतिकालीन हिन्दी कविता में लोकतत्व; निर्देशक—श्री गयाप्रसाद शुक्ल, 1975 ई० ।

15. कु० स्वराज सचदेव — जैमिनी अश्वमेध की साहित्यिक परम्परा और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1975 ई० ।

16. श्री कुँवर बहादुर — प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में व्यंग्य; निर्देशक—डा० जयचन्द राय, 1975 ई० ।

17. श्री केदारनाथ जगता — मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर ज्योतिषशास्त्र का प्रभाव; निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, 1976 ई० ।

18. श्री रामनरेश मिश्र — हिन्दी शब्द-समूह का विकास (1900 से

1925 ई०); निर्देशक—डा० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी, 1976 ई० ।

19. श्री मदनलाल — कामायनी एवं उर्वशी की प्रतीक-योजना का तुलनात्मक अध्ययन; निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, 1977 ई० ।

20. श्री सुरेन्द्रसिंह — प्रेमचन्द साहित्य पर आर्यसमाज का प्रभाव, निर्देशक—डा० प्रेमप्रकाश रस्तोगी, 1979 ई० ।

21. श्री रवीन्द्रकुमार अग्रवाल — ब्रजभाषा के रीतिकालीन ऐतिहासिक चरित-काव्य; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1979 ई० ।

22. श्रीमती बीना कुमारी — सन्त गरीबदास कृत ग्रन्थ साहिब का साहित्यिक तथा दार्शनिक आधार; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1979 ई० ।

23. श्रीमती शोभा तिवारी — तुलसी की रामचरितमानसेतर रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन; निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, 1979 ई० ।

24. सुश्री उषा शर्मा — मौर्य एवं शुंगकाल सम्बन्धी हिन्दी उपन्यासों का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1979 ई० ।

25. श्री भगवत शरण — इन्द्र विद्यावाचस्पति और उनकी साहित्य-साधना; निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, 1980 ई० ।

26. सुश्री कुसुमलता अग्रवाल — सेनापति और उनका काव्य; निर्देशक— डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, 1981 ई० ।

27. श्री महेशचन्द्र विद्यालंकार — महाकाव्य की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद और कालिदास का तुलनात्मक अध्ययन; 1981ई०

28. श्री दीनानाथ शर्मा — स्वामी सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व; निर्देशक—डा० विष्णु-दत्त राकेश, 1981 ई० ।

29. श्री इन्द्रजीत शर्मा	आचार्य पद्मसिंह शर्मा : जीवनी और कृतित्व, निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1981 ई०।
30. श्री श्यामलाल शर्मा	कापालिक नाथपन्थ : साधना और साहित्य; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1981 ई०।
31. श्रीमती उपमारानी माहेश्वरी	दिनकर का गद्य-साहित्य; निर्देशक—डा० प्रेम प्रकाश रस्तोगी, 1981 ई०।
32. श्री शिवचरण विद्यालंकार	जैनेन्द्र का जीवन दर्शन; निर्देशक—डा० प्रेम-प्रकाश रस्तोगी, 1982 ई०।
33. श्री सोहनलाल शर्मा	नयी कविता की प्रबन्धात्मक रचनाओं की संवेदना और शिल्प-विधान; निर्देशक—डा० प्रेमप्रकाश रस्तोगी, 1982 ई०।
34. श्री ज्ञानचन्द रावल	हरिऔध के महाकाव्यों का सामाजिक एवं शास्त्रीय अध्ययन; निर्देशक—डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, 1984 ई०।
35. श्रीमती आभा तिवारी	गोस्वामी तुलसीदास कृत गीतावली में काव्य, संस्कृतिऔर दर्शन; निर्देशक—डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, 1984 ई०।
36. श्री अरुणप्रकाश वाजपेयी	कवितावली में काव्य, समाज और संस्कृति; निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी तथा डा० राजपति दीक्षित, 1984 ई०।
37. श्री मुरारीलाल शर्मा	पश्चिमी पहाड़ी की मण्डियाली बोली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन; निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, 1985 ई०।
38. श्री गजराजसिंह त्यागी	महादेवी के काव्य में संस्कृति और दर्शन; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश।
39. श्रीमती प्रतिभा शर्मा	बच्चन के काव्य में जीवन-दर्शन और कला; निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश, 1985 ई०।

स्वयंभू एवं तुलसी के नारी-पात्र : तुलनात्मक अनुशीलन

शोधकर्ता—योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'
निर्देशक—डा० एल० बी० राम 'अनन्त'
वर्ष—1972

नारी सृष्टि के आदि से ही मानव की प्रेरक-शक्ति रही है। समाज, धर्म, संस्कृति—सभी के मूल में, कहीं-न-कहीं, नारी महत्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित रही ही है। कवि सदैव युगद्रष्टा के रूप में नारी की शक्तियों का समायोजन करके, समाज के निर्माण के महत् उत्तरदायित्व का निर्वाह करता रहा है। नारी, समाज की रीढ़ तथा शक्ति बनी रही और उसने सदैव समाज का नियमन किया है, कभी जननी बनकर, कभी प्रिया, पत्नी बनकर, कभी बहन, आत्मजा बनकर और कभी प्रेरणा प्रदायिनी नेत्री बनकर। नारी के इस गरिमामय चरित्र का अंकन विश्व-साहित्य में हुआ है और विश्व-साहित्य में उसे गौरव मण्डित किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय 'स्वयंभू एवं तुलसी के नारी-पात्र : तुलनात्मक अनुशीलन'—प्रमुखतः अपभ्रंश के आदि कवि स्वयंभू देव कृत महाकाव्य 'पउम चरिउ' तथा हिन्दी साहित्य के गौरव-स्तम्भ महाकवि तुलसीदास कृत महाकाव्य 'रामचरितमानस' में वर्णित नारी-पात्रों का तुलनात्मक अनुशीलन करने की अपेक्षा रखता है। प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्ता का सर्वप्रमुख लक्ष्य है—स्वयंभू देव तथा तुलसीदास के नारी-चित्रण विषयक दृष्टिकोण का गहन तथा सम्यक् विश्लेषण करके, दोनों के नारी पात्रों का पृथक्-पृथक् अनुशीलन करना तथा दोनों के पात्र-चित्रण की तुलना करना।

प्रस्तुत प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय सैद्धान्तिक विवेचना से सम्बन्धित है, जिसमें नारी पात्र के संघटक तत्त्वों का विश्लेषण है। नारी पात्र के प्रमुख संघटक तत्त्व हैं—मनोवैज्ञानिक तत्त्व, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्व, देशकालगत तत्व, 'मिथ' (पुराण विषयक) तत्त्व तथा कवि-दृष्टिकोण। इनमें सबसे

प्रमुख है—कवि-दृष्टिकोण, क्योंकि पौराणिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं देशकालगत तत्त्वों का समावेश भी बहुत अंशों तक कवि के निजी दृष्टिकोण के ही अनुसार होता है। कवि का दृष्टिकोण ही किसी पात्र को विशिष्ट व्यक्तित्व दे पाता है। कवि दृष्टि साहित्य को नूतनता एवं नित्यता प्रदान करती है।

द्वितीय अध्याय में स्वयंभू और तुलसीदास के काव्य की पृष्ठभूमि का तुलनात्मक विवेचन किया गया है, क्योंकि प्रत्येक कवि अपने साहित्य में, न्यूनाधिक रूप में, अपने युग का चित्रण अवश्य करता है। स्वयंभू देव का समय ई० सन् 750-760 मानने का सुझाव, स्वयंभू के आश्रयदाता सम्राट ध्रुव धारावर्ष के अमात्य रपडा धनंजय के समय (ई० 780 से ई० 794) को इतिहास के प्रमाणों से पुष्ट करते हुए, दिया गया है; जिसे विद्वान स्वीकार करेंगे, यह आशा हम करते हैं। महाकवि तुलसीदास का समय सम्वत् 1589-1680 माना गया है। दोनों कवियों के काव्य की पृष्ठभमि को— (1) सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक, (2) राजनैतिक-आर्थिक, (3) साहित्यिक, (4) नारीविषयक युगीन परिवेशिक मान्यता —शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया गया है।

तृतीय अध्याय में 'सुकुमार कन्याएँ' शीर्षक के अन्तर्गत स्वयंभू के 'पउम चरिउ' एवं तुलसी के रामचरितमानस में चित्रित नारी-पात्रों के 'कन्या रूप' का पृथक्-पृथक् अनुशीलन किया गया है। नारी-चित्रण का प्रथम रूप 'कन्या रूप' ही है, क्योंकि हर नारी 'कन्या' अवश्य होती है; तभी उसे वह नारीत्व प्राप्त होता है जो उसकी चिरकामना तथा गरिमा का परिचायक होता है। सुकुमार कन्याओं के विवेचन में दो तरह की दृष्टि सामने रक्खी गयी है। एक तो—परम्परित दृष्टि, दूसरी—कवि द्वारा उद्भावित दृष्टि। इन दोनों दृष्टियों के आधार पर स्वयंभू और तुलसी के कन्या पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'प्रेमिकाएँ' में दोनों महाकवियों द्वारा प्रेयसी रूप में चित्रित नारी पात्रों का पृथक्-पृथक् तथा तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। स्वाभाविकतया नारी के प्रेयसी रूप का विश्लेषण करते हुए शैली में काव्यात्मकता आ गयी है।

पंचम अध्याय 'पत्नियाँ' प्रबन्ध का सबसे बड़ा अध्याय है। दोनों ही महाकवियों के महाकाव्यों में 'पत्नी रूप' में चित्रित नारी-पात्रों की संख्या सर्वाधिक है। दोनों ही महाकाव्यों की नायिका 'सीता' का पत्नी रूप इन कवियों का प्राणतत्त्व है। नारी के पत्नी रूप का अनुशीलन करते समय आदर्श पत्नी, मध्यम पत्नी तथा अधम पत्नी शीर्षकों में नारी पात्रों को रक्खा गया है। इस विभाजन का आधार सामाजिक नैतिक तथा अन्य परम्पराओं, आदर्शों तथा मूल्यों को बनाया गया है जो शाश्वत् होते हैं। इस सन्दर्भ में नारी के पातिव्रत्य, त्याग, सेवा, समर्पण, निष्ठा, ममत्व, दृढ़ता तथा स्नेह जैसे गुणों को शाश्वत मानकर, इनसे विभूषित, नारी

पात्रों को 'आदर्श' तथा इनसे रहित पात्रों को 'अधम' माना गया है; मध्य की स्थितिवाले नारी-पात्र 'मध्यम' माने गये हैं।

षष्ठ अध्याय 'माताएँ' में दोनों महाकाव्यों में चित्रित नारी पात्रों के माता-रूप का परम्परित दृष्टि तथा कवि द्वारा उद्भावित दृष्टि से पृथक्-पृथक् एवं तुलनात्मक अनुशीलन हुआ है। नारी जीवन की चरम उपलब्धि तथा स्वर्णिम सफलता मातृत्व प्राप्त करना ही है। माँ बनते ही नारी, दार्शनिक दृष्टि से, 'एकोऽहं बहुस्याम' की स्थिति प्राप्त कर लेती है और उसमें ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है। माँ के इस आदर्श रूप को तुलसी ने भी लिया है और स्वयंभू ने भी। पर अलग-अलग दृष्टिकोण के कारण दोनों के चित्रण में पर्याप्त अन्तर आ गया है।

नारीत्व के विभिन्न सोपानों—कन्या, प्रेमिका, पत्नी तथा माता—का अनुशीलन विगत अध्यायों में किया गया। उपर्युक्त रूप वस्तुतः नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व को सूचित करते हैं और नारी के व्यक्तित्व का बोध भी कराते हैं। कुछ गौण किन्तु महत्वपूर्ण रूप ऐसे भी हैं, जो नारी परिवार की सदस्या के कारण प्राप्त करती है। इनमें भी स्थूलतः कुछ रूप विवाह से पूर्व आरम्भ हो जाते हैं और विवाह के पश्चात् भी चलते रहते हैं, किन्तु कुछ रूप विवाह के बाद ही मिल पाते हैं। प्रथम श्रेणी में आनेवाले नारीत्व के रूप हैं, बहन, सखी तथा दासी और द्वितीय श्रेणी में आनेवाले हैं, भाभी, सास आदि। सप्तम अध्याय में नारी के बहन, सखी, तथा दासी का तुलनात्मक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है।

अष्टम अध्याय में नारी के भाभी, सास आदि रूपों का तुलनात्मक अनुशीलन हुआ है।

नवम् अध्याय में 'दैवी एवं आसुरी नारी पात्र' में दोनों महाकाव्यों में चित्रित उन नारी-पात्रों का विवेचन हुआ है, जिनमें अलौकिकता का समावेश हो गया है—चाहे दैवी रूप में अथवा आसुरी रूप में। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय तत्त्व यह है कि स्वयंभू देव जैन-धर्मानुयायी होने के कारण जैन-आगम साहित्य से प्रभाव ग्रहण करते हैं तथा तुलसीदास वैदिक-पुराण साहित्य का आधार लेकर चले हैं। क्रमशः मरुदेवी, इन्द्राणी तथा सीता एवं पार्वती का पौराणिक चित्रण स्वयंभू तथा तुलसी की दृष्टि के अन्तर को स्पष्ट करता है।

उपसंहार में, समग्र रूप से, दोनों महाकवियों द्वारा चित्रित नारी-पात्रों का तुलनात्मक अनुशीलन करके प्राप्त निष्कर्षों को सँजोया गया है। नारी-चित्रण पर समग्रतः दृष्टिपात करने से यह निश्चित प्रतीत होता है कि महाकवि स्वयंभू देव ने प्रत्येक पात्र—प्रधान तथा गौण को—जैन दृष्टि से चित्रित करने का प्रयास किया है, जबकि तुलसीदास में प्रायः सभी नारी-पात्र, चाहे सद्वृत्ति वाले हों या असद्-वृत्तिवाले, 'राम भक्त' चित्रित हुए हैं। रावण के पक्षवाले नारी-पात्रों—मन्दोदरी, त्रिजटा आदि को भी तुलसी ने राम-भक्त दिखाया है।

महाकवि स्वयंभू तथा तुलसी दोनों ही नारी-चित्रण में सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव को चित्रित करते हैं। समाज में नारी की स्थिति का चित्रण दोनों ने कुशलता से किया है, परन्तु महाकवि तुलसी इस दृष्टि से श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। नारी चित्रण में मनोविज्ञान का आधार दोनों कवियों ने ग्रहण किया है। लेकिन पौराणिक तत्त्व जितना तुलसी में मुखर है उतना स्वयंभू में नहीं। जैन होने के कारण स्वयंभू का प्रयास जैन धर्म का प्रकाशन रहा है, तो हिन्दू—सगुण भक्त होने के कारण राम के 'ब्रह्मत्व' तथा अलौकिकता का चित्रण तुलसी का प्रयास रहा है। अत: कवि दृष्टिकोण के कारण दोनों महाकवियों में कुछ पार्थक्य आ गया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि परम्परा से प्राप्त रामकथा के पल्लवन में महाकवि स्वयंभू देव तथा महाकवि तुलसीदास ने देश-काल तथा दृष्टिकोण के अनुरूप अपनी-अपनी मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा नारी-चित्रण में सफलता एवं सिद्धि प्राप्त की है और प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने का प्रमाण दिया है।

विषय-सूची

तृतीय अध्याय—सुकुमार कन्याएँ (परम्परित, कवि द्वारा उद्भावित दृष्टि)

(क) स्वयंभू—'पउम चरिउ'

(ख) तुलसी—'रामचरितमानस'

तुलनात्मक अनुशीलन

चतुर्थ अध्याय—प्रेमिकाएँ (परम्परित, कवि द्वारा उद्भावित दृष्टि)

(क) स्वयंभू—'पउम चरिउ'

(ख) तुलसी—'रामचरितमानस'

तुलनात्मक अनुशीलन

पंचम अध्याय—पत्नियाँ (परम्परित, कवि द्वारा उद्भावित दृष्टि)

(क) स्वयंभू—'पउम चरिउ'

(ख) तुलसी—'रामचरितमानस'

तुलनात्मक अनुशीलन

षष्ठ अध्याय—माताएँ (परम्परित, कवि द्वारा उद्भावित दृष्टि)

(क) स्वयंभू—'पउम चरिउ'

(ख) तुलसी—'रामचरितमानस'

तुलनात्मक अनुशीलन

सप्तम अध्याय—बहनें, सखियाँ एवं दासियाँ

(क) स्वयंभू—'पउम चरिउ'

(ख) तुलसी—'रामचरितमानस'

तुलनात्मक अनुशीलन

अष्टम् अध्याय—भाभी, सास तथा अन्य नारी पात्र

(क) स्वयंभू—'पउम चरिउ'

(ख) तुलसी—'रामचरितमानस'

तुलनात्मक अनुशीलन

नवम् अध्याय—देवी एवं आसुरी नारी-पात्र

(क) स्वयंभू—'पउम चरिउ'

(ख) तुलसी—'रामचरितमानस'

तुलनात्मक अनुशीलन

उपसंहार

परिशिष्ट

(क) नारी पात्रों की सूची

(ख) सहायक पुस्तकों की सूची

भारतीय रस-चिन्तन पर वेदान्त-दर्शन का प्रभाव

शोधकर्ता—रामचन्द्र पुरी
निर्देशक—गयाप्रसाद शुक्ल
सन्—1973

काव्यात्म जिज्ञासा के सन्दर्भ में रस को काव्यात्मा मानने का जो आग्रह रस-सम्प्रदाय के आचार्यों में पाया जाता है उसका कारण बहुत कुछ आध्यात्मिकता से सम्पृक्त है। वैदिक काल से लेकर अब तक जीव, जगत और परमार्थसत्ता के विषय में जो विवेचन-विश्लेषण हुआ है, वह विविधांगी और विविधमार्गी होते हुए एवं ऐसी विचारधारा से भी समन्वित रहा है जो इस सम्पूर्ण सृष्टि में एक खण्ड रहित, अवितर्म्य तथा अनुभूत्यैकगम्य तत्व को पुष्पहार में पिरोये सूत्र की भाँति परिव्याप्त मानती है। सामान्यतः इसी विचारधारा को 'वेदान्त' के नाम से अभिहित किया जाता है।

वेदान्त-दर्शन आनन्दवादी दर्शन है। यह मानता है कि—आनन्द विषय में नहीं विषयी आत्मा में है—आत्मा स्वयं आनन्दरूप है। जब माया का आवरण, जो आत्मा के आनदांश को आवृत किए हुए है, भंग हो जाता है तो आनन्दरूप आत्मा स्वयं प्रकाशित होने लगती है। उस आवरण-भंग के लिए अनेक साधन बताए गये हैं।

काव्य रचना मानव-जीवन का नैसर्गिक पक्ष है। सभ्यता के उषाकाल से लेकर अद्यावधि मानव काव्य-रचना करता आ रहा है और अपनी इस निर्मिति का आनन्द स्वयं लेता रहा है और इसके माध्यम से दूसरों को भी आनन्दित करता रहा है। मानव अपनी सुख दुःखात्मक अनुभूतियों को काव्य के माध्यम से अभिव्यक्ति देने में जितना तर्कशून्य रहा है, उतना ही तर्क-पूर्ण उस अनुभूति के विश्लेषण के समय रहा है। रचना का क्षण भावात्मक अतएव तर्करहित होता है, जबकि उस रचना का विश्लेषण भावात्मकता से रहित होता है। तात्पर्य यह कि अनुभूति और

उसके विश्लेषण में पार्थक्य स्वाभाविक होता है। यही अन्तर हमें काव्य की आत्मा के अन्वेषण के लिए बाध्य करके विभिन्न मतवादों में उलझाता है। रस, रीति, अलंकार, औचित्य, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा रस को जो समय-समय पर काव्यात्मा के पद पर आसीन करने के प्रयास किए गये हैं, उसका कारण यही अन्तर है।

रस-सिद्धान्त इन सभी सिद्धान्तों में अधिक मान्य एवं चिरस्थायी रहा है। इसका कारण यह है कि यह सिद्धान्त एक ऐसी दार्शनिक चिन्तन की पद्धति से सम्बद्ध हो गया जो अपने आप में पूर्ण और अजेय है। वह चिन्तन पद्धति है वेदान्त।

काव्य-रस के चिन्तक आचार्यों ने काव्य-रस की आनन्दात्मकता को आत्मा की आनन्दमयता के साथ सम्पृक्त करके उसे एक सुसंहृत आधार प्रदान कर दिया। वेदान्ती विचारधारा से अनुप्राणित काव्य-रस चिन्तकों ने 'रसो वै सः' आदि वेदान्त की श्रुतियों को उद्धृत करके रस और ब्रह्म को एक कर दिया। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि रस या आनन्द काव्य में नहीं, सहृदय की आत्मा में है या सहृदय स्वयं आनन्दमय है। काव्य का कार्य तो केवल सहृदय के ममत्व-परत्वादि आवरण को दूर करना मात्र है। इन आचार्यों ने वेदान्त के आवरण भंग के सिद्धान्त को काव्य के सिद्धान्त के साथ जोड़कर काव्य और वेदान्त के लक्ष्य को एक कर दिया।

इस शोध-ग्रन्थ में लेखक का लक्ष्य रस-चिन्तक आचार्यों पर वेदान्त के प्रभाव को समझना रहा है। आचार्य भरत के सूत्र और उस पर व्याख्यावितान रचनेवाले आचार्यों के मत के विश्लेषण से हमें यह तथ्य मिला है कि रस-चिन्तन का वेदान्तीकरण आचार्य लोल्लट से ही प्रारम्भ हो चुका था। लोल्लट को भट्टमतोपजीवी मीमांसक या शैव, शंकुक को नैयायिक तथा आचार्य भट्टनायक को मीमांसक सांख्य या शैव दार्शनिक मानने की जो धारणाएँ अब तक प्रचलित रही हैं वे तथ्य से परे हैं, ऐसे प्रमाण हमें मिले हैं, जिनको यथास्थान उन प्रमाणों के आधार पर उन धारणाओं का निराकरण स्पष्टतः किया है।

अब तक संस्कृत भाषा के रस-चिन्तकों में से रस-चिन्तन के वेदान्तीकरण का श्रेय विश्वनाथ कविराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ को ही दिया जाता रहा है। किन्तु लेखक के अनुसार यह तथ्यों से परे है। वस्तुतः यह कार्य पण्डितराज तथा विश्वनाथ से बहुत पूर्व ही किया जा चुका था। आचार्य चण्डीदास, आचार्य श्री वत्सलांघन तथा आचार्य प्रभाकर भट्ट आदि उन आचार्यों की रस-विषयक वेदान्ती धारणा का विश्लेषण किया गया है।

वेदान्त-दर्शन के दृष्टिकोण से रस का विवेचन करनेवाले आचार्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचार्य श्री वत्सलांघन प्रतीत हुए। उन्होंने ही 'रसो वै सः'। 'रसंह्वेणाय लब्ध्वानन्दी भवति' इस तैत्तिरीय श्रुति को रस के प्रसंग में उद्धृत कर औपनिषदिक परिप्रेक्ष्य में रस को ब्रह्म ही सिद्ध किया गया है। लेखक की अपनी धारणा है कि

श्री वत्सलांघन की विचारधारा का अनुकरण पण्डितराज ने किया। पण्डितराज ने कुछ हेर-फेर के साथ श्री वत्सलांघन की पंक्तियाँ ही उद्धृत की हैं।

संस्कृत रस-चिंतक आचार्यों की रस-विवेचन परम्परा की समाप्ति से पूर्व ही हिंदी काव्यशास्त्र में रस-चिंतन आरम्भ हो गया था। पूर्व-रीतिकाल से लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तक हिंदी के प्रायः सभी रस-चिंतक आचार्य रस-निरूपण के प्रसंग में वेदांती-विचारधारावाले संस्कृत रस-निरूपक आचार्यों से प्रभावित रहे हैं। शोध में उस प्रभाव को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

आधुनिक युग में रस का विवेचन नये ज्ञान-विज्ञान के आलोक में करने के प्रयास किए गये और किये जा रहे हैं। इस परम्परा के पुरोधा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे। इस शोध-प्रबंध में इस परम्परा की व्यापक समीक्षा की गयी है और यह पाया गया है कि अब तक हिंदी के आचार्यों को कोई ऐसा सुदृढ़ आधार नहीं मिल पाया है जो रस-सिद्धांत को वेदांतिक आधार छोड़ देने के बाद कोई सैद्धांतिक विकल्प प्रस्तुत कर सके।

प्रबंध को छः अध्यायों में बाँटा गया है। प्रथम अध्याय के अंतर्गत वेदांत-दर्शन का स्वरूप विश्लेषण किया गया है जिसमें औपनिषदिक चिंतन, गीता का चिंतन, ब्रह्मसूत्र का दार्शनिक चिंतन, अद्वैत-वेदांत, भक्तिवादी वेदान्त तथा ख्याति-पंचक की व्याख्या है।

द्वितीय अध्याय भारतीय रस-चिंतन के ऐतिहासिक पर्यालोचन का है। इसमें आचार्य भरत, आचार्य लोल्लट, आचार्य शंकुक, भट्टनायक, अभिनव धनंजय और धनिक, मम्मट, चण्डीदास, श्री वत्सलांघन, विश्वनाथ कविराज, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों का रस-चिंतन तथा पण्डितराजोत्तर रस-निरूपण एवं आधुनिक युग में रस-चिंतन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

तृतीय अध्याय रस-चिंतन (संस्कृत) मम्मटपूर्ण पर वेदांत-दर्शन का प्रभाव शीर्षक से है। इसमें विविध आचार्यों यथा— आचार्य भरत, भट्टलोल्लट, शंकुक की दार्शनिक पृष्ठभूमि, भट्टनायक, नायकत्व व्यापार की दार्शनिक पृष्ठभूमि, भट्टनायक के भोग का स्वरूप, आचार्य अभिनव आदि पर वेदांत का प्रभाव प्रतिपादित किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में संस्कृत (मम्मट तथा पश्चादवर्ती) रस-चिंतन पर वेदान्त-दर्शन का प्रभाव दिखाया गया है। इसमें चण्डीदास, विश्वनाथ कविराज, श्री वत्स-लांघन, प्रभाकर भट्ट, पण्डितराज जगन्नाथ, भीमसेन आदि आचार्यों की वेदांत के साथ तुलना की गयी है। आगे भक्ति रस और वेदांत-दर्शन के अंतर्गत आचार्य रूपगोस्वामी का रस-निरूपण, मधुसूदन सरस्वती का भक्ति रस और वेदांत तथा सांख्य दृष्टि से रस-चिंतन और वेदांत की व्याख्या है।

हिन्दी रस-चिन्तन पर वेदान्त दर्शन का प्रभाव, पंचम अध्याय में दिखाया

गया है । इसमें—क, ख, ग, तीन खण्ड हैं। क के अंतर्गत रीतिकालीन और रीतिपूर्ण रस-चिन्तन और वेदान्त का वर्णन है, जिसमें रीतिपूर्ण रस-चिन्तन और वेदान्त, आचार्य चिन्तामणि (रीतिकालीन) और वेदान्त, आचार्य देव और वेदान्त तथा कुलपति मिश्र और वेदान्त पर दृष्टि डाली गयी है। 'घ' खण्ड में आधुनिक हिंदी काव्य-शास्त्र में रस-चिंतन और वेदांत नामक है। इसमें सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, हरिशंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', केशव प्रसाद मिश्र, डा० श्यामसुंदर दास, पं० रामदहिन मिश्र, बाबू गुलाबराय, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, डा० हरिद्वारी लाल शर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रभृत आचार्यों का वर्णन है । 'ग' खण्ड हिंदीएतर भारतीय आर्य भाषाओं का रस चिंतन और वेदांत का है, जिसमें मराठी रस-चिंतन और वेदांत, बंगाली तथा गुजराती रस-चिंतन और वेदांत का निरूपण है ।

षष्ठ अध्याय में रस-चिंतन को नये संदर्भों में अभिव्यक्त किया गया है । इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र के काव्य-सिद्धांतों की व्याख्या है। आगे रस-सामग्री के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अंतर्गत डा० गणपतिचन्द्र गुप्त तथा डा० नगेन्द्र के मतों की व्याख्या है । यथार्थवादी रस-चिंतन में डा० रमेश कुन्तल मेघ के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या है ।

वेदांत दर्शन आत्मा (विषयी) और अनात्मा (विषय) का पारस्परिक अभ्यास मानता है । वेदांत दर्शन की इस मान्यता को रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में अपनाया गया है । शोध-प्रबंध में कुछ उन सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है जो भारतीय रस-चिंतन को प्रभावित करनेवाले वेदांत के प्रमुख सिद्धांतों में से है । इसके अतिरिक्त आचार्य लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के रस-चिंतन का विश्लेषण करने पर उनके वेदांती विचारधारा से पूर्णतया प्रभावित होने के प्रमाण मिले हैं । रस-चिंतन के इतिहास में मम्मट के बाद जो मोड़ आया वह पूर्णतया वेदांत की धारणाओं से ही प्रभावित रहा है। आधुनिक युग में वेदांती प्रभाव को नकारने की कोशिश की जा रही है, लेकिन अभी ऐसा कोई ठोस आधार उपलब्ध नहीं हो सका है जो वेदांती पृष्ठभूमि छोड़ देने पर रस को एक ठोस सैद्धांतिक विकल्प प्रदान कर सके ।

सप्तक-त्रय : आधुनिकता एवं परम्परा

शोधकर्ता—सूर्यप्रकाश विद्यालंकार
निर्देशक—डा० प्रभाकर माचवे
वर्ष—1973

आधुनिक हिंदी कविता की विविध धाराओं में प्रयोगवादी काव्यधारा का विशिष्ट स्थान है। जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें प्रयोगों पर विशेष बल दिया गया। प्रयोगवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने में 'तारसप्तक' के कवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। तारसप्तक का प्रकाशन अज्ञेय ने सन् 1943 ई० में किया। इन्हीं के प्रकाशन में क्रमशः सन् 1951 ई० में 'दूसरा' तथा सन् 1959 ई० में 'तीसरा सप्तक' निकला। इन्हीं तीनों सप्तकों को इस अध्ययन में 'सप्तक-त्रय' नाम दिया गया है। यद्यपि 'सप्तक-त्रय' के सभी-कवि प्रयोगशील हैं; उनमें आधुनिकता है, फिर भी वे कहीं-कहीं रूढ़िवादी संस्कारों से ग्रसित हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं अज्ञेय का यह कथन दृष्टव्य है—"इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील है और बाकी सब घास छीलनेवाले, वैसा दावा यहाँ कदापि नहीं; दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं।" इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सप्तक के कवि राही नहीं, बल्कि राहों के अन्वेषी हैं। इनकी समस्त रचनाएँ प्रयोग नहीं हैं, अपितु कुछ में रूढ़ि तथा इसका जीवंत रूप परम्परा भी प्राप्त होती है। 'सप्तक-त्रय' में प्राप्त होनेवाली इसी आधुनिकता एवं परम्परा को इस प्रबन्ध में अध्ययन का विषय बनाया गया है।

इस प्रबंध के निर्देशक सप्तकीय काव्य-श्रृंखला के विशिष्ट कवि तथा लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान डॉ० प्रभाकर माचवे जी हैं, इसलिए इसका महत्व और भी अधिक हो जाता है।

सम्पूर्ण प्रबंध आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका स्वरूप है।

इसमें 'सप्तक-त्रय' की पृष्ठभूमि को दर्शाते हुए उसके उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डाला गया है। पृष्ठभूमि के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि 'सप्तक-त्रय', अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि पर किस प्रकार का काव्य सिद्ध होता है। इसके बाद सप्तकों की निर्माण योजना और इसके उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् यह स्पष्ट किया गया है कि 'सप्तक' का प्रयोगवाद और नयी कविता से क्या सम्बन्ध है ?

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है—कविता में आधुनिकता का तात्पर्य। यह मूलतः सैद्धांतिक विवेचन से सम्बन्धित है। इसके अंतर्गत पहले आधुनिकता का तात्पर्य बतलाया गया है, तत्पश्चात् आधुनिकता और यथार्थ, आधुनिकता और मूल्य, आधुनिकता और पुरातनबोध तथा आधुनिकता और समसामयिकता का विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय की विषयवस्तु भी सैद्धांतिक विवेचना से सम्बन्धित है जिसका शीर्षक है 'कविता में परम्परा का तात्पर्य'। इसमें पहले परम्परा के अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है और बताया गया है कि—'परम्परा एक व्यापक शब्द है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से इसका व्यापक सम्बन्ध है। साहित्य, धर्मशास्त्र, कला एवं समाज विज्ञान के क्षेत्र में परम्पराओं के विविध रूप दिखायी देते हैं। परम्परा में स्वीकृत विधियों, प्रथाओं तथा प्रणालियों का अनुसरण एवं पूर्वकाल से चली आती हुई विचारधाराओं की अभिव्यक्ति होती है। यदि किसी युग के मनुष्यों की कतिपय विचित्र एवं अद्भुत बातों को तथा किसी दूसरे समाज से आयी हुई अनुकरणमूलक प्रथाओं को छोड़ दें तो सामाजिक जीवन की समग्र बातें परम्परा के क्षेत्र में आती हैं; जिसको समाज वंशानुगत रूप में ग्रहण करता है।' परम्परा के अभिप्राय के स्पष्टीकरण के पश्चात् परम्परा की प्रक्रिया को विश्लेषित किया गया है। तत्पश्चात् परम्परा और रूढ़ि, परम्परा और प्रयोग, परम्परा और पुनरावृत्ति, परम्परा और इतिहास, परम्परा और स्वच्छन्दता तथा परम्परा और अपरम्परावाद का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि आपस में कहाँ तक एक-दूसरे से सम्बन्धित है।

चतुर्थ अध्याय में आधुनिकता एवं परम्परा के सम्बन्धों तथा उनके बीच के अंतर को स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः देखा जाय तो परम्परा और आधुनिकता एक-दूसरे की विरोधी नहीं हैं। आधुनिकता से तात्पर्य परम्परा को अस्वीकार करना नहीं, अपितु जीवंत परम्परा को स्वीकार करना है। आधुनिकता अपने आप में एक ऐसा युगबोध है, जो जीवन के साथ-साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर यथार्थ अभिव्यक्ति को स्पर्श करता है। यह आधुनिकता प्रत्येक काल में प्राप्य हो सकती है। रूढ़ियों का विरोध, परम्परा की जड़ प्रकृति को नकारना है, और यह अस्वीकृति ही परम्परा में विघटन, संशोधन तथा परिवर्द्धन एवं परिवर्तन का दावा करती है।

एक रूप से देश-काल की परिस्थितियों की परिधि में व्याप्त आधुनिकता जीवन्त परम्परा का पर्याय बन जाती है।

पंचम अध्ययन में 'सप्तक-त्रय' में से प्रथम अर्थात् 'तार सप्तक' में व्याप्त आधुनिकता एवं परम्परा का वैचारिक तथा शिल्प वैधानिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इसमें सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा व्यवहार पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। 'तार सप्तक' में जिन कवियों को स्थान मिला है, उनके नाम इस प्रकार हैं—गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गिरजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा तथा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। जहाँ तक मुक्तिबोध का सवाल है उनके काव्य में आधुनिकताबोध की स्थिति बहुत ही स्पष्ट एवं पूर्ण है। वे परम्परा से विच्छिन्न होकर जीना नहीं चाहते अपितु वे परम्परा को आधुनिकता रूपी ज्वाला में तपाकर कुन्दन बनाना चाहते हैं। इसी तरह नेमिचन्द्र जैन भी आधुनिकता का आग्रह नहीं करते, अपितु वे परम्परा के शुद्धीकृत रूप से आधुनिकता का वरण करते हैं। भारतभूषण का काव्य जहाँ साम्य-वाद से आसक्ति और विरक्ति का लेखा-जोखा है, वहाँ आधुनिकता तथा परम्परा पर सेतु बाँधकर नयी राह की अन्वेषणा है। गिरजा कुमार माथुर प्रयोग-धर्मी रचनाकार हैं जो सजग और आधुनिक हैं। इनकी आधुनिकता अपनी एक विशिष्ट राह पर चलती है, जिसमें यदा-कदा परम्परा का प्रतिबिम्ब भी दिखायी दे जाता है। प्रभाकर माचवे के काव्य में छायावादी लीक से परे या उसके समानान्तर अपनी एक विशिष्ट राह मौजूद है। रूमानियत से भरे वे यथार्थ की ओर झुकते हुए अपने अन्दाज की बौद्धिकता, वैज्ञानिकता के सन्दर्भ में आधुनिकता की ओर ले चलते हैं। रामविलास शर्मा का काव्य छायावादी भावना के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता है। कभी-कभी वह आधुनिक संवेदना की ओर उन्मुख होने का प्रयास करता है, परन्तु परम्परित भावना पुनः बलवती हो उठती है। अज्ञेय में चूँकि प्रयोग की बलवती भावना है, इसलिए उनका काव्य आधुनिकबोध तथा युगबोध के अनुरूप है। अज्ञेय परम्परा को रूढ़ि से अलग स्वीकार करते हुए उसे ऐतिहासिक सम्बन्ध से संयुक्त करते हैं। उनके काव्य में परम्परागत रूढ़ियाँ, तथा परम्परित काव्य-प्रवृत्तियाँ नष्ट कर दी गयी हैं और उनके प्रयोग के माध्यम से युगबोध के समानान्तर आधुनिकबोध मुखरित हुआ है।

तारसप्तक में अज्ञेय को छोड़कर लगभग सभी कवियों ने जनजीवन में व्यवहृत भाषा का प्रयोग किया है, यद्यपि अज्ञेय भी इस प्रयोग को 'आपद्धर्म' स्वीकार करते हैं। एक-दो अवयवों को छोड़कर तारसप्तक के कवियों की भाषा सरल, सीधी, दैनिक बोलचाल के निकट तथा कल्पना के छायावादी वायवी-रंगों से प्रायः मुक्त है। इस तरह हम कह सकते हैं कि तारसप्तक के कवि शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रयोगशील हैं। छन्द, भाषा, प्रतीक व बिम्ब सभी पक्षों में 'राहों के अन्वेषी' हैं

और परम्परा के नाम पर उन्हें संकोच ही दिखायी देता है।

षष्ठ अध्याय का विषय है—'दूसरा सप्तक : आधुनिकता एवं परम्परा'। दूसरे सप्तक में भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारती को स्थान मिला है। दूसरे सप्तक के कवि प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं करते, पर नयी समस्याओं और नये दायित्वों का तकाजा सबने अनुभव किया है और उससे प्रेरणा सभी को मिली है। भवानीप्रसाद मिश्र नये मार्ग की अन्वेषणा में हैं, पर पहुँचे नहीं हैं। शकुन्तला माथुर के काव्य में जहाँ जीवन के साथ चलने की प्रवृत्ति है, जहाँ वास्तविक वातावरण और परिस्थितियाँ हैं तथा जहाँ 'स्वान्तः सुखाय', 'बहुजनहिताय' की व्यापक भावना की ओर उन्मुख है, वहाँ युगबोध आधुनिकताबोध से युक्त है। हरिनारायण व्यास अपनी राह का स्वयं अपने ढग से निर्माण करते हैं, उनके काव्य में प्रयोग की ललक है। शमशेर के काव्य में एक तड़पन है और वह पग-पग पर अनिश्चय की हालत में अपनी ही तलाश करता है। नरेश मेहता एक प्रयोगवादी कवि हैं। उनका काव्य विशिष्ट व्यंजना पर आधृत है। उनके काव्य की परिसीमाएँ इतिहास और भूगोल का स्पर्श करती हैं। रघुवीर सहाय का काव्य सहज जीवन की अभिव्यक्ति है, उसमें चित्र नैसर्गिक रूप से सिनेमा की फिल्म की तरह तैरते रहते हैं। उनकी यह सहज अभिव्यक्ति यथार्थ अभिव्यक्ति है, जो आधुनिकता से संयुक्त है। धर्मवीर भारती एक प्रयोगधर्मा कवि हैं, जो प्रिय को परम्परित रूप से हटकर आधुनिकता के वातायन से देखते हैं। इस तरह 'दूसरा सप्तक' आधुनिक हिन्दी काव्य को निस्सन्देह एक कदम आगे ले गया है।

शिल्प-विधान की दृष्टि से 'दूसरा सप्तक' के अधिकांश कवि शिल्प के प्रति अधिक सजग एवं जागरूक हैं जो अपनी-अपनी दृष्टि से, छन्द, भाषा, प्रतिमान, उपमान, प्रतीक तथा विम्ब आदि में प्रयोग करते हैं।

सप्तम अध्याय के अन्तर्गत तीसरे सप्तक के कवियों के काव्य में प्राप्त होनेवाली आधुनिकता और परम्परा को अध्ययन का विषय बनाया गया है। तीसरे सप्तक के कवि हैं—प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही तथा सर्वेश्वरदयाल सक्सेना। 'तीसरे सप्तक' के कवि अपने-अपने विकास-क्रम में अधिक परिपक्व और मँजे हुए रूप में ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित हैं। वे सत्य के प्रयोग के प्रति अधिक उत्तरदायी हैं। प्रत्येक कवि 'राह का अन्वेषी' है, वह अपनी लीक का निर्माण स्वयं करता है, हो सकता है वह लीक अन्यों के समानान्तर भले ही हो, पर है उसकी अपनी ही।

प्रयाग नारायण की कविता जहाँ आत्मसत्य का प्रयोग होने के कारण आधुनिकता से अनुप्राणित है, वहाँ कीर्ति चौधरी नारी-सहज अतिरिक्त भाव-प्रवणता

से आबद्ध होते हुए परम्परा की देहरी से आधुनिकता की ओर झाँकने का प्रयास कर रही हैं। मदन वात्स्यायन वैज्ञानिकता में प्रयोग की भावना से युक्त हो आधुनिकता का अपना परिवेश स्वयमेव निर्मित करते हैं, वे एक रूप से प्रत्यक्ष अनुभवों के कवि हैं। वे अपनी आस्था व स्नेह को कल-पुर्जों की यांत्रिकता में प्रतिबिम्बित पाते हैं। केदारनाथसिंह परम्परा से छटपटाहट अनुभव करते हैं तथा वे उससे टूटने में सुख अनुभव करते हैं। कुँवर नारायण वैज्ञानिक दृष्टिकोण को काव्य का अभिन्न अंग मानते हैं। उनकी कविता में उनका अपना निजत्व है और वह निजत्व आधुनिकता की परिसीमा का स्पर्श करता है। विजयदेव नारायण साही प्रयोग के प्रति अधिक सजग हैं, उनका तीसरा सप्तक का वक्तव्य स्वयमेव एक नवीन प्रयोग है, वे अपनी वैयक्तिक भावना को आधुनिकता से संयुक्त करते हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना अपने से पूर्व परम्परित काव्य-शृंखला को झुठलाते हुए चुनौती के रूप में काव्य में प्रयोग करते हैं। उनकी प्रयोग की भावना संतुष्टि प्रदान नहीं करती है।

तीसरे सप्तक के अधिकांश कवियों ने प्रयोग की भावना से शिल्प के प्रति सजग होते हुए बिम्ब-विधान को विशेष महत्व दिया है।

अष्टम् अध्याय उपसंहार है, जिसमें 'सप्तक-त्रय' का विचारगत एवं शिल्पगत दोनों दृष्टियों से समन्वयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तारसप्तक के कवि प्रयोगशील आधुनिकता से युक्त हैं। चाहे वह विचार-तत्व हो या शिल्प की दृष्टि, वे दोनों में परपम्परा के शुद्धीकरण, विघटन व परिवर्द्धन को करते हुए एक नयी राह की अन्वेषणा करते हैं। 'दूसरा सप्तक' राहों के अन्वेषी की भावना के सन्दर्भ में तार सप्तकीय प्रयोगशील आधुनिकता को एक कदम आगे ले जाता है; तथा तीसरा सप्तक भी प्रयोगशील आधुनिकता की लीक पर अपने पथ को प्रशस्त करता है।

अनुक्रम

(आ) आधुनिकता और यथार्थ
(इ) आधुनिकता और मूल्य
(ई) आधुनिकता और पुरातन-बोध
(उ) आधुनिकता और समसामयिकता

तृतीय अध्याय—कविता में परम्परा का तात्पर्य

(अ) परम्परा का अभिप्राय
(आ) परम्परा की प्रक्रिया
(इ) परम्परा और रूढ़ि
(ई) परम्परा और प्रयोग
(उ) परम्परा और पुनरावृत्ति
(ऊ) परम्परा और इतिहास
(ओ) परम्परा और स्वच्छन्दता
(औ) परम्परा और अपरम्परावाद

चतुर्थ अध्याय—आधुनिकता एवं परम्परा का अन्तर तथा सम्बन्ध
पंचम अध्याय—तार-सप्तक : आधुनिकता एवं परम्परा

(अ) वैचारिक दृष्टि
गजानन माधव मुक्तिबोध
नेमिचन्द्र जैन
भारतभूषण अग्रवाल
गिरजाकुमार माथुर
प्रभाकर माचवे
रामविलास शर्मा
सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
(आ) शिल्प वैधानिक दृष्टि

षष्ठ अध्याय—दूसरा-सप्तक : आधुनिकता एवं परम्परा

(अ) वैचारिक दृष्टि
भवानी प्रसाद मिश्र
शकुन्तला माथुर
हरिनारायण व्यास
शमशेर बहादुर सिंह
नरेश कुमार मेहता

तुलसी के नियतिवाद और आंग्ल साहित्यकारों के नियतिवाद का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—दिनेशप्रकाश त्रिवेदी
निर्देशक—डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1973

विश्व जीवन के विधान में नियति का महत्त्वपूर्ण योग है। संयोग-वियोग, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, जय-पराजय आदि सभी नियति-निर्दिष्ट से प्रतीत होते हैं। मानव प्रज्ञा के समक्ष 'नियति' सबसे विराट रहस्य है। पुरातन काल से मानव दैव-विधान को जीवन में सक्रिय पाता आया है, अस्तु दैवी-विधान का ही रूप उसे देवी-देवताओं में दिखलायी पड़ा। तदनन्तर विश्व-संरचना में भी अदृष्ट दैवी शक्तियों को अपरिहार्य, अनिवार्य एवं अटल शक्ति के रूप में देखा गया। युग-युग से यही अनुभूति मानव-मन, बुद्धि एवं विचार-प्रवाह के साथ उन्मुक्त क्रीड़ा करती आ रही है, अस्तु नियति विश्वजनीन अनुभूति है और नियतिवाद मानव-मनोवृत्ति का एक अंग है। मानव-जीवन अपेक्षित-अनपेक्षित, प्रत्याशित-अप्रत्याशित, वांछित-अवांछित, इच्छित-अनिच्छित, सतत संघर्षों से पीड़ित और प्रताड़ित होकर नियति-नटी के अस्तित्व के प्रति स्वीकृति का परिसूचन करता रहा है और नियति ही मनुष्य के लिए सुदृढ़ सान्त्वना का वह आधार रही है जिसके प्रश्रय में उसका हृदय विचूर्णित होने से बच सका है। संक्षेप में नियतिवाद औषधि सदृश है जो निराशा और क्षोभ से उत्पन्न व्रणों का उपचार है। इसलिए कालान्तर में 'नियति' अनुभूति और चिन्तन के सशक्त आधारों पर प्रतिष्ठित की गयी है तथा धर्म और दर्शन के क्षेत्र में 'नियति' का विचार सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत होता आया है।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में ग्रन्थ-निर्माण एवं स्फुट लेखन-कार्य तीव्र गति से हो रहा है। पाश्चात्य ग्रन्थों के अनुवादों का बाहुल्य है परन्तु आंग्ल साहित्यकारों के

नियतिवादी दृष्टिकोण से सम्बद्ध कोई भी ग्रन्थ अभी तक लेखक के अनुसार दृष्टि-गोचर नहीं हुआ है। किसी भी साहित्यकार का वास्तविक प्रदेय हमारी समझ में तभी आ सकता है जबकि उसका सर्वांगीण एवं समग्र अध्ययन अथवा निरीक्षण-परीक्षण किया जाय। अत: उपलब्ध तथ्यों की अवगति हेतु आंग्ल साहित्यकारों के कृतित्व पर एक सम्यक् दृष्टि डालकर उनके नियतिवादी दृष्टिकोण को आँकने का प्रयास प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है जिससे नवीन आलोक प्राप्त हो सके तथा समीक्षा के लिए नया मापदण्ड निश्चित किया जा सके।

हिन्दी भाषा में भी नियतिवाद के शास्त्रीय विवेचन को प्रस्तुत करनेवाली केवल एक-दो पुस्तकें ही दृष्टि-पथ में आ सकी हैं जिनमें उल्लेख्य हैं—डा० राम-गोपाल शर्मा कृत 'हिन्दी काव्य में नियतिवाद' एवं पद्माकर शर्मा कृत—'प्रसाद के नाटकों में नियतिवाद'। डा० रामगोपाल शर्मा ने सम्पूर्ण हिन्दी काव्य में नियतिवाद-विषयक सामग्री का चयन किया है पर तुलसी के नियतिवाद पर कुछ विरल सामग्री उनके उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। पद्माकर शर्मा के प्रबन्ध में केवल प्रसाद के नियतिवाद पर ही दृष्टिपात किया गया है। उपरोक्त प्रबन्धों में नियति-विचारणा नगण्य है। अतः आंग्ल साहित्यकारों के नियतिवादी दृष्टिकोण का आकलन तथा तुलसी के नियतिवादी दृष्टिकोण से उसकी तुलना के लिए विस्तृत एवं उर्वर क्षेत्र खुला दिखलायी पड़ा। तुलसी साहित्य के अन्तर्गत नियतिवाद को पाश्चात्य भाव-धारा के धरातल पर परखने की दिशा सर्वथा अछूती ही थी और उसे प्रकाश में लाने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध लिखा गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध तुलसी एवं आंग्ल साहित्यकारों के नियतिवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। प्रबन्ध में निरूपित विषय के विस्तार एवं परिधि से अवगत कराने के लिए सम्पूर्ण प्रबन्ध को तीन अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय में 'नियति' शब्द की व्युत्पत्ति, व्याख्या और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसमें नियति के प्रत्येक तत्त्व और उसके विभिन्न रूपों का तात्विक विवेचन है। इसी के अन्तर्गत हिन्दी-साहित्य एवं आंग्ल साहित्य की नियतिवादी परम्परा का पृथक्-पृथक् विवेचन भी किया गया है। चूँकि नियतिवाद एक व्यापक जीवन-दर्शन भी है, अतः इसी अध्याय के अन्तर्गत भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के आधार पर नियतिवादी चिन्तन पर भी प्रकाश डाला गया है। यह अध्याय शोध की पृष्ठभूमि या प्रस्तावना स्वरूप है।

द्वितीय अध्याय में तुलसी के चिन्तन की नियतिवादी उपलब्धियों का विस्तृत विवेचन किया गया है तथा आंग्ल-साहित्यकारों की नियतिवादी विचारणाओं को पृथक् विधाओं के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यूनानी लेखकों की नियतिवादी विचारधारा को भी स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् तुलसी और

आंग्ल साहित्यकारों की नियतिवादी विचारधारा की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करने के साथ ही तुलसी और आंग्ल-साहित्यकारों के नियतिवादी चिन्तन में साम्य और वैषम्य का अन्वेषण भी किया गया है। यह अध्याय ग्रन्थ का समीक्षा भाग है।

तृतीय अध्याय में हिन्दी और आंग्ल भाषा के प्रमुख साहित्यकारों के नियतिवादी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन एवं अन्वेषण प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत तुलसी के नियतिवाद का तुलनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए आंग्ल-साहित्यकारों से श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता पर विचार किया गया है तथा अन्त में तुलसी की नियतिवादी चिन्तनधारा की भावी युग को देन पर प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में ग्रन्थ का उपसंहार भी है।

तुलसी के नियतिवाद में जागतिक जीवन के लिए सशक्त सन्देश सन्निहित है। उनकी नियतिवादी विचारधारा जीवन और जग के प्रति आस्थावान बनाती है और परलोक साधना के लिए प्रेरित करती है। ईश्वर को कर्मफल नियन्ता स्वीकार कर जीव के सुख-दुःख को प्रारब्ध घोषित कर तुलसी ने कर्मफल भोग के प्रति आत्मीयता जागृत की है। तुलसी ने कर्मफल भोग से मुक्ति प्राप्ति हेतु ईश्वर अनुग्रह का मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने ललाट लेख भवितव्यता, देवविधान, अदृष्ट गति आदि को ईश्वर के अधीन मानकर ईश्वर के महत्त्व को स्पष्ट किया है। उन्होंने नियति विधान की कठोरता को काल गति और माया के विषमचक्र के रूप में व्यक्त की है तथा उन्हें ईश्वरेच्छा से प्रादुर्भूत माना है। फलतः जीव के समक्ष ईश्वर अनुग्रह विकल्प के रूप में शेष रहता है जिसके आधार पर उसके हृदय में सन्तोष, धैर्य एवं आशा की प्रेरणा बलवती होती है।

तुलसी की नियतिवादी विचारणा कर्मप्रेरक है। तुलसी ने कर्म और भाग्य का अपूर्ण समन्वय प्रतिष्ठित किया है। उनके अनुसार कर्म और भाग्य एक-दूसरे में अनुस्यूत है। कर्मों का विपाक ही भाग्य है। तुलसी ने भाग्य को वासनाओं के अनुकूल कर्मों का प्रेरक माना है। ईश्वरेच्छा भवितव्यता है। भवितव्यता वस्तुतः प्रारब्ध है। प्रारब्ध ही कर्म का विपाक है। तुलसी की नियति कहीं भी निष्क्रियतावादी अथवा पलायनवादी दृष्टिकोण का पोषण नहीं करती है। जागतिक जीवन में प्राप्त होनेवाले दुर्भाग्य स्वकीय कर्मों तथा ईश्वरेच्छा का फल है। फलतः जीव को निराशा और असन्तोष के पाश में नहीं पड़ना चाहिए। कर्मफल भोग अपरिहार्य है जो कि भावी को भव्य, भव्यतर और भव्यतम बनाने के लिए प्रशस्त पथ है।

तुलसी के नियति में लोकमंगल की कामना है एवं जातीय सहिष्णुता की भावना का प्रसार है। तुलसी की नियति नैतिकता समन्वित होने के कारण मनुष्य को आस्तिक बनाकर उदार मनोवृत्तियों से सम्पृक्त करती है। फलतः मनुष्य भयंकर संघर्षों में भी विचलित न होने की अद्भुत शक्ति ग्रहण करने की प्रेरणा है।

तुलसी की नियति विफलताओं में भी धैर्य रखने एवं सन्तोषपूर्वक कर्मफल भोगने की अपूर्व प्रेरणा देती है तथा अहं को समाप्त कर उदात्त भावनाओं के पोषण हेतु मार्ग प्रशस्त करती है। पुनर्जन्म की विचारणा मनुष्य में आत्मानुभूति जगाकर न्यायपूर्ण भाग्यविधान के प्रति आश्वस्त करती है। वर्तमान समय में तुलसी की नियतिवादी विचारधारा धर्म और विज्ञान के संघर्ष में त्रस्त मानव के लिए विभिन्न परिस्थितियों में सन्तुलन स्थापित करने में समर्थ है।

तुलसी का नियतिवाद एक सनातन सत्य है जिसका चरम उद्देश्य मानव कल्याण है। लोकमंगल की पुण्यभावना से ओत-प्रोत तुलसी की नियति पूर्णतः असहाय, अशक्त एवं निरुपाय जनमानस के लिए सन्तोष, धैर्य एवं आशा का सम्बल रही है। वह वस्तुत मानव मन के लिए अपूर्व शक्ति है जिसका सदुपयोग मनुष्य नैराश्यजन्य परिस्थितियों में करता है। तुलसी की नियति आत्मबल प्रेरक है। भारतीय संस्कृति के मूल स्वर कर्मफल भोग एवं ईश्वरेच्छा तुलसी की नियति की धरोहर है जिसे उन्होंने दया, क्षमा, उदारता, परोपकार, निष्काम कर्म, श्रद्धा-सहानुभूति, विनम्रता, शील आदि दैवी गुणों से सम्पृक्त कर नैतिक दृष्टि से श्री-सम्पन्न बनाया है ताकि मनुष्य भावी जीवन के भाग्य को सुधारकर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त हो। तुलसी ने विषमताजन्य अधीरता, निराशा एवं असन्तोष से मुक्ति हेतु नियति रूपी सम्बल प्रदान किया है।

तुलसी का नियतिवाद धर्म भावना के प्रचार और प्रसार में योग देता है। उनकी रामभक्ति का समस्त भाव-सौन्दर्य नियति भावना पर आधारित है। इसके द्वारा लोक-जीवन की विभिन्न अनुभूतियाँ प्रतिफलित हो सकती हैं। फलासक्ति की गौणता और नैतिक दुर्बलता की समाप्ति का उद्घोष करके तुलसी की नियति आत्मबल प्रदान करती है। तुलसी की नियति में भावी मानव को नवीन आशाओं से अनुप्राणित करने की अद्वितीय क्षमता है। आज की संकुल परिस्थितियों में ग्रन्थिल-जटिल युग मन की अन्धकारमयी उपत्यकाओं में विलुण्ठित होने से बचाने के लिए तुलसी की नियति के निकट नैतिकता का सम्बल है।

सूफी संत परम्परा में नूर मुहम्मद का स्थान और कृतियाँ

शोधकर्ता—हरिनन्दन प्रसाद
निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1973 ई०

मुहम्मद साहब के निधनोपरान्त सूफीमत का आविर्भाव अरब प्रदेश में हुआ और धीरे-धीरे ईरान, स्पेन, मिस्र, भारतवर्ष आदि देशों में फैलता चला गया। फारस में सूफी काव्य के प्रवर्तक हजरत सुल्तान अबू सईद अबुल खैर (जन्म हि० 967 सन् 1049 और मृत्यु हि० 1049) माने जाते हैं। उनके पश्चात् ताहिर ख्वाजा अब्दुल्ला अंसारी, सनाई अत्तार, रूमी, शीराजी, किरमानी, मरागी इस्फहानी, हाफिज मगरिबी, वली, जामी तथा सरमद आदि प्रसिद्ध कवियों ने फारसी साहित्य को सूफी मतों से परिपूर्ण कर दिया। कालान्तर में भारत में सूफियों के आगमन से यहाँ भी फारसी साहित्य और सूफी सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार बढ़ा और यहाँ के साधारण जनमानस को सूफियों ने अपने सरल और माधुर्य साधना-पद्धति के कारण मुग्ध कर लिया। परिणामस्वरूप इस्लाम धर्म के प्रचार के साथ-साथ सूफी मत का प्रचार बढ़ा और हिन्दी साहित्य पर उन फारसी कवियों और सूफी सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव पड़ा और हिन्दी साहित्य में भी मसनवी शैली के प्रेमाख्यानों की रचना होने लगी, मौलाना दाउद, राजन, कुतुबन, जायसी, मंझन, उसमान, शेख नबी, सूरदास, कासिम शाह, नूर मुहम्मद, शेख निसार, शाह नजफ अली, ख्वाजा अहमद शेख रहीम, कवि नसीर आदि कवियों ने हिन्दी साहित्य को सूफी प्रेमाख्यानों से परिपूर्ण किया। कवि नूर मुहम्मद अपने समय से प्रचलित सूफी परम्परा में एक नवीन चिन्तन-पद्धति लेकर अवतरित हुए और हिन्दी में तीन प्रेमाख्यानों की रचना की, जिसमें इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी उपलब्ध है, और नलदमन अप्राप्य।

इस कवि के परिचय के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का

इतिहास', पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान काव्य' और 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह,' डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य,' डा० विमल कुमार जैन ने 'सूफीमत और हिन्दी साहित्य,' डॉ० शिव सहाय पाठक ने 'मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य', डा० सरला शुक्ल ने 'जायसी के परवर्ती सूफी कवि और उनका काव्य' तथा डा० श्रीनिवास वन्ना ने 'हिन्दी और फारसी सूफी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' में अपनी लेखनी चलायी, परन्तु कोई भी इस कवि के जीवन परिचय आदि पर यथेष्ट सामग्री नहीं प्रस्तुत कर सका। इस कमी को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में नूर मुहम्मद से सम्बन्धित अधिक-से-अधिक सामग्री प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में सूफीमत की भारतीय परम्परा, उत्तरी हिन्दी काव्य की सूफी पृष्ठभूमि, ईरानी साहित्य का प्रभाव, प्रेमाख्यानों की आधार भूमि और परम्परा तथा भारतीय सूफी प्रेमाख्यानों की साहित्यिक परम्परा को भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में श्रृंगारी काव्यधारा और सूफी प्रेमाख्यानों की श्रृंगारी परम्परा, आलम्बन विधान, नख शिख, सगुण माधुर्यवाद का प्रभाव, आलोच्यधारा के सूफी प्रेमाख्यानकर्त्ता कवि तथा संकेतित कवि परम्परा में नूर मुहम्मद का स्थान और महत्त्व आदि की विवेचना की गयी है और सूफी सिद्धान्तों के आधार पर प्रयत्न पक्ष और सिद्धि का कवि के द्वारा किस प्रकार निर्वाह किया गया है, इस पर भी सम्यक् रूप से एक विहंगम दृष्टि डाली गयी है।

तृतीय अध्याय में नूर मुहम्मद के जन्म, स्थान, समय, गुरुदीक्षा, काव्य रचना, प्रामाणिक ग्रन्थ और उपलब्धि, मृत्यु आदि के विषयों पर ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करके शोध प्रबन्ध के वास्तविक उद्देश्य को सफल बनाने का प्रयास किया गया है। अब तक से अछूते विषय सूफी काव्यालोचन की स्वीकृत कसौटी को निर्धारित करके कवि के काव्य-विषयक मानदण्ड को भी शोध करके प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में इनकी प्रसिद्ध रचना अनुराग बाँसुरी के कथ्य, नामकरण का आधार, उस पर दक्खिनी प्रेमाख्यानों जैसे सबरस आदि के प्रभावों को स्पष्ट करते हुए भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में अनुराग बाँसुरी पर विचार किया गया है। अनुराग बाँसुरी के रूपक, भाषा, दर्शन, धर्म, सामाजिक तत्त्व आदि पर विचार करके उसकी साहित्यिक आलोचना की गयी है। अनुराग बाँसुरी की सम्यक् आलोचना करके उसके महत्व और विशेषता पर विशद् रूप से व्याख्या करके रस, अलंकार, छन्द, काव्यरूप, प्रकृति-चित्रण आदि को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय में कवि द्वारा रचित प्रबन्ध काव्य इन्द्रावती के प्रबन्ध कौशल पर विहंगम दृष्टिपात करके भारतीय प्रबन्ध काव्य और मसनवी शैली की काव्य-

पद्धति, दोनों दृष्टिकोणों से इन्द्रावती की विवेचना की गयी है। काव्य में वर्णित मुख्य कथा और अन्तर्कथाओं के स्वरूपों की स्पष्ट विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इन्द्रावती अन्योक्ति अथवा समासोक्ति है? इस पर गम्भीर विचार करके सूफी काव्यगत परम्पराओं का कवि द्वारा निर्वाह और कवि की मौलिकता को स्पष्ट किया गया है। इन्द्रावती में वर्णित तत्कालीन संस्कृति और समाज के चित्रण का भी अनावरण करके इन्द्रावती के महत्व का आकलन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में कवि की काव्य विशेषताओं को चित्रित किया गया है, जिसमें काव्यरूप, भाषा, छन्द सम्पत्ति, रचना शैली, अलंकार, रस, प्रकृति-वर्णन, दर्शन आदि पर विशाल दृष्टिकोण रखकर काव्यालोचन की परम्परित सरणियों पर आलोच्य कृतियों का मूल्यांकन किया गया है।

अन्त में उपसंहार के रूप में सूफी सन्त-काव्य परम्परा में नूर मुहम्मद की विशेषताओं को दर्शाया गया है, जिसमें कवि के द्वारा अधीत ग्रन्थों तथा प्रभावों को स्पष्ट करके कवि के विशाल अध्ययन और विलक्षण प्रतिभा की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। कवि द्वारा निर्देशित नवीन पद्धति का परवर्ती हिन्दी-सूफी कवियों पर पड़नेवाले प्रभावों की भी व्याख्या इस प्रबन्ध में की गयी है।

नूर मुहम्मद का साहित्य-सृजन उस काल का है जब हिन्दी सूफी काव्योद्यान पूर्णरूपेण पल्लवित-पुष्पित और विकसित होकर पतझड़ की राह निरखने लगा था; ऐसे समय में इनका आगमन नव वसन्त के समान हुआ जिसने इस काव्योद्यान को पुनर्जीवन प्रदान किया। नूर मुहम्मद की रचनाओं के कथानक भारतीय हिन्दू परिवार से सम्बन्धित होने पर भी मौलिक हैं। इसलिए कवि ने अपनी इच्छानुसार अपने मत की कट्टरता को यथास्थान स्वच्छन्द रूप से व्यक्त किया है। इनकी दोनों रचनाओं में इस्लाम बोलता हुआ दिखलायी देता है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनके काव्यों में बहुज्ञता प्रदर्शन की प्रथा दिखलायी पड़ती है जिसके अन्तर्गत मूल कथा में लोकरीति, सामान्य ज्ञान, ज्योतिष ज्ञान, संगीत ज्ञान, कामशास्त्र ज्ञान, पुराण ज्ञान, औषधि ज्ञान आदि का प्रदर्शन मिलता है।

नूर मुहम्मद सूफी कवियों में बहुत बाद के कवि हैं, अतः अन्य सूफी कवियों की परम्परित सरणियों का इन्होंने भी अनुगमन किया है। अतः नूर मुहम्मद के काव्य में दान-महिमा, उपदेश, नम्रता का महत्व, उपकार, साहस, परदेश गमन आदि विषयों पर सुन्दरतम विचार तो मिलते ही हैं साथ-ही-साथ कुछ इनकी मौलिकताएँ इनके काव्य के प्राण हैं। अन्य सूफी कवियों की अपेक्षा नूर मुहम्मद ने संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन अधिकाधिक किया था, अतः इनके काव्य पर संस्कृत के शब्दों के साथ-ही-साथ संस्कृत ग्रन्थों का अधिक प्रभाव है। नूर मुहम्मद को पुराणों के ज्ञान के साथ-साथ मनुस्मृति, चाणक्य नीति, शीघ्रबोध, शारंगधर संहिता, पंचतन्त्र आदि प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों का भी बोध था। इन्होंने हिन्दी कवियों के मानस तथा सतसई

का भी अध्ययन किया था। सूफी संत होते हुए भी इनका सम्पर्क गोरखपंथी संतों और वेदान्तियों से विशेष रूप से रहा है, अतः इनके ऊपर संतों और महात्माओं का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। संतों की भाँति नूर मुहम्मद भी सच्चे प्रेम के समर्थक हैं। उनका कहना है कि कर्मकाण्ड तो मात्र दिखाना है, वैराग्य पन्थ पर गमन करनेवाले प्रेमियों को दिखावे की कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिए माला और रंगीन वस्त्रों को धारण करने मात्र से कोई सच्चा तपस्वी नहीं हो जाता। सच्चे तपस्वी तो दिखावे से दूर रहकर अपनी साधना में तन्मय रहते हैं।

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के अनुसार स्वप्न अचेतन मन में दमित वासनाओं के प्रतिफल हैं। अचेतन मन में छिपे हुए भाव चेतन मन के सो जाने पर साकार रूप में मन में आते हैं। इसी आधार पर वे प्रत्येक स्वप्न का विश्लेषण करके स्वप्न का अर्थ बतलाते हैं। फ्रायड के बहुत समय पूर्व कवि नूर मुहम्मद ने जनश्रुतियों और अनुभवों के आधार पर जहाँ स्वप्न का विश्लेषण किया है, वे वास्तव में उनकी विलक्षण प्रतिभा के प्रमाण हैं। इन्द्रावती और अनुराग-बाँसुरी में इस प्रकार के कई स्वप्नों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

बहुज्ञता प्रदर्शन करना तो सूफी कवियों का एक संस्कार बन गया था। प्रस्तुत कवि ने भी अपनी प्रतिभा के अनुकूल बहुज्ञता प्रदर्शित की है। औषधियों के ज्ञान के लिए इन्होंने 'औषदखण्ड' नाम से इन्द्रावती में एक खण्ड ही रख दिया है, जिसमें नाड़ी ज्ञान से लेकर कफ, पित्त, वायु तथा अन्य अनेक प्रकार के रोगों और औषधियों का वर्णन किया गया है। इसी भाँति अनुराग बाँसुरी में कवि ने अनेक रोगों और उन पर प्रयुक्त होनेवाली औषधियों के नाम गिनाये हैं। सामाजिक चित्रण करते समय कवि ने माता-पिता पुत्रादि सभी के कर्त्तव्यों की ओर संकेत किया है। साथ-ही-साथ अच्छे राज्य के गुणों और कर्त्तव्यों की विशद रूप में चर्चा की है। राजा के गुणों और कर्त्तव्यों के अध्ययन के लिए कवि ने मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र का भी अध्ययन किया है क्योंकि अच्छे राजा के गुणों और कर्त्तव्यों की जो चर्चा कवि ने की है, उन सभी का वर्णन उक्त दोनों ग्रन्थों में मिलता है।

नूर मुहम्मद एक सफल सूफी कवि थे, अतः उनकी सम्पूर्ण प्राप्त सूफी रचनाओं में प्रतीकों का बहुत ही सुव्यवस्थित ढंग से सफल प्रयोग हुआ है। प्रतीकों की भाँति नूर मुहम्मद ने वस्तु वर्णन की परम्परा का निर्वाह भी बड़ी सफलता के साथ किया है। इन्होंने, नगर, हाट, आगमपुर, यात्रा, युद्ध, जल क्रीड़ा, फाग, तीज आदि का विस्तृत एवं प्रभावशाली वर्णन किया है। फलस्वरूप इनकी कथा की इतिवृत्तात्मकता में प्रचुर रोचकता आ गयी है। अन्य सूफी कवियों की अपेक्षा नूर मुहम्मद का वस्तु-वर्णन अधिक सारगर्भित एवं मर्मस्पर्शी है। कहीं-कहीं वस्तु वर्णन के अन्तर्गत ही इन्होंने अलौकिक तत्त्वों का समावेश कर दिया है।

अपनी कृतियों में मौलिक कथावस्तु प्रदान करके नूर मुहम्मद ने परवर्ती सूफी कवियों के लिए नवीन मार्ग का निर्देश किया। इन्होंने इस बात की पुष्टि की कि प्रेमाख्यानों की कथावस्तु भारतीय न होकर मौलिक होनी चाहिए, अन्यथा कुरान की कथाओं पर आधारित होनी चाहिए। भारतीय पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक अथवा लोकप्रचलित कथाओं का सूफी काव्य साहित्य से बहिष्कार किया। इनका प्रभाव परवर्ती सूफी कवियों पर पड़ा। कवि शेख निसार ने 'यूसुफ जुलेखा' की रचना के लिए कथावस्तु को कुरान से ग्रहण किया। शाह नजफ अली सलोनी ने 'प्रेम चिनगारी' की रचना की जिसकी कथा उन्होंने मूल रूप से ईरानी परम्परा से ग्रहण की। उनके द्वारा वर्णित दोनों कथाओं बाँसुरी और पैगम्बर और गड़ेरिया पर मौलाना रूमी का प्रभाव है। ख्वाजा अहमद कृत नूरजहाँ भी ईरानी परम्परा पर ही आधारित काल्पनिक कथा है। शेख रहीम के भाषा प्रेमरस की कथा मौलिक है और उसमें 'यूसुफ जुलेखा' के प्रेम को विस्तार से समझाया गया है। कवि नसीर ने 'प्रेम दर्पण' की कथा को कुरान में वर्णित 'यूसुफ जुलेखा' की कथा से ग्रहण किया है। इस प्रकार नूर मुहम्मद ने सूफी साहित्य में जो नवीन मोड़ दिया उसका व्यापक प्रभाव परवर्ती सूफी कवियों पर पड़ा है।

रीतिकालीन विविध काव्यांग-निरूपण की परम्परा के
उपजीव्य ग्रन्थों के आलोक में

आचार्य जनराजकृत कविता-रस-विनोद का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन

शोधकर्ता—प्रेमसिंह वर्मा
निर्देशक—डा० पंजाबीलाल शर्मा
वर्ष—1973

रीतिकाल के सर्वांग निरूपक कवियों में आचार्य जनराज का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख इतिहास ग्रन्थों में आचार्य जनराज का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम डा० भगीरथ मिश्र के हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में तत्पश्चात डा० नगेन्द्र के सम्पादन में प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास', षष्ठ भाग (रीतिबद्ध काव्य) में इस कवि का कृतित्व सहित परिचय दिया गया है। इसके उपरान्त 1963 ई० में प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग-2 में इस कवि का परिचय प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ डा० धीरेन्द्रवर्मा के सम्पादन में ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। इस सम्बन्ध में सम्पादकीय टिप्पणी उल्लेखनीय है—'काव्य की दृष्टि से जनराज का महत्त्व अधिक है। वे इस दृष्टि से मतिराम की परम्परा में आते हैं। इनके काव्य में सरल भाव-चित्र विशेष रूप से मिलते हैं। भाषा अवश्य मतिराम जैसी निखरी हुई नहीं है। वरन् भूषण आदि के समान शब्दों की तोड़-मरोड़ इनके काव्य में मिलती है। अभिव्यंजना, रस निर्वाह तथा कल्पना के वैशिष्ट्य की दृष्टि से भी इनका काव्य शिथिल है पर अपनी निश्छल अभिव्यक्ति तथा छन्द-योजना में कवि को सफलता मिली है।'

ब्रज भाषा साहित्य के अनन्य विद्वान पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने रीतिशास्त्र ग्रन्थ-कोश में आचार्य जनराज के ग्रन्थ 'कविता-रस-विनोद' का वर्णन करते हुए कहा है कि इस पुस्तक में चिन्तामणि कृत 'कविकुल कलपतरु' की भाँति रीति-काव्य शास्त्र-विधियों का वर्णन है। रस, ध्वनि, अलंकार और व्यंजना आदि वर्णन के साथ नायिका-भेद-वर्णन की दृष्टि से इस कृति को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। याज्ञिक संग्रहालय अलीगढ़ और जवाहरलाल चतुर्वेदी संग्रहालय मथुरा में इसकी

दो प्राप्त प्रतियों का विवरण इस कोश में मिलता है। इसके अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी आचार्य जनराज के सम्बन्ध में नहीं मिलती।

रीतिकाल के प्रतिष्ठित विद्वान डा० भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' (प्रथम संस्करण) में इस कवि के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। इनका कहना है—'कविता-रस-विनोद' काव्य-शास्त्र के अनेक अंगों पर प्रकाश डालनेवाली पुस्तक है, इसका वर्णन-क्रम भी 'काव्य प्रकाश' सा है। अलंकारों का वर्णन 'कुवलयानन्द' के आधार पर है।' डा० मिश्र ने केवल इनके प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख मात्र किया है। कवि के काव्य की व्यापक प्रवृत्तियों और उपलब्धियों की मौलिकता का विवेचन उन्होंने नहीं किया। हाँ, उनकी यह धारणा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में 4500 छन्द हैं, उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि याज्ञिक संग्रहालय से प्राप्त प्रति में 2025 छन्द हैं।

डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित इतिहास में इनके आचार्यत्व और कवित्व के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत विशिष्ट जानकारी दी गयी है। साथ ही इनके उपजीव्य ग्रन्थों में काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण, रस-मंजरी रस-तरंगिणी आदि का भी उल्लेख किया गया है। इस विवेचन से जनराज की उपलब्धि, सामग्री-संचयन मात्र कही जा सकती है। नूतनता तथा मौलिकता का इसमें सर्वथा अभाव है। हाँ, एक महत्व-पूर्ण दिशा का संकेत इसमें यह किया गया है कि मतिराम का अनुकरण करनेवाले कवियों में जनराज को अग्रगण्य माना गया है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रस, ध्वनि, कल्पना-वैभव और व्युत्पन्नता की दृष्टि से यदि इनके काव्य का परीक्षण किया जाय तो इन्हें मतिराम जैसे रीतिसिद्ध कवियों की कोटि में सहज ही बैठाया जा सकता है। कवि कर्म और आचार्य-कर्म में इन्हें कितनी सफलता प्राप्त हुई है—यह स्वतंत्र शोध के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। इतिहास में इसके अध्ययन का विशेष अवकाश नहीं है। यहाँ रीतिकाव्य-शास्त्र की परम्परित प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में 'कविता-रस-विनोद' का मूल्यांकन ही अपेक्षित है। इस दिशा में प्रस्तुत शोध प्रबंध एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है, इससे कवि के कृतित्व के समग्र परीक्षण से कवि के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण मौलिक तथ्यान्वेषण हो सकता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका स्वरूप है जिसमें पूर्वपीठिका दर्शाते हुए रीतिकालीन काव्यांग-निरूपण की परम्परा, उद्देश्य तथा निरूपण शैली की भिन्नता; रीतिशास्त्र निरूपण की दृष्टि; प्रतिपाद्य की भिन्नता से रीतिशास्त्र के वर्ग; एकांग तथा विविधांग निरूपण की शैली; विविधांग निरूपक आचार्यों की काव्यशास्त्रीय चेतना, संकेतित परम्परा में आचार्य जनराज और उनके कृतित्व की चर्चा, उपलब्ध सामग्री का परीक्षण तथा नवीन शोध की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय कवि विषयक वृत्तविमर्श से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत आचार्य जनराज के गोत्र, जन्म स्थान, पूर्वज, परिवार-परिचय, शिक्षा, मित्र, जन्म-तिथि, कुलपरम्परा और धार्मिक बिश्वास, हिन्दी साहित्याचार्यों में स्थान, आश्रय-दाता, ग्रन्थ और उनकी प्रामाणिकता, हस्तलेख, ग्रन्थ प्रतिपाद्य, ग्रन्थों का रचना-काल तथा मृत्यु तिथि पर अनुसंधान परक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय तीन उपशीर्षकों में विभाजित है। प्रथम उपशीर्षक है—रीति-कालीन विविध काव्यांग-निरूपक ग्रन्थों के उपजीव्य। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि रीतिकालीन विविध काव्यांग निरूपक ग्रन्थकारों में ध्वनिवादी दृष्टि की प्रधानता रही है, फलतः उन्होंने संस्कृत के ध्वनि परवर्ती आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश,' विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण', सिद्धिचन्द्रगार्ण कृत 'काव्य प्रकाश खण्डन', जगन्नाथ कृत 'रस गंगाधर', भानुदत्त कृत 'रस तरंगिणी', विश्वनाथ कृत 'प्रताप रुद्र यशोभूषण', तथा सन्त अकबरशाह बड़े साहब कृत 'शृंगार-मंजरी' आदि के कथ्य और शैली का अनुगमन किया है।

द्वितीय उपशीर्षक 'प्रतिपाद्य के रूप में नवरसमूर्ति राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा' के अन्तर्गत फारसी काव्य-वर्ण्य की स्पर्द्धा, दरबारी वृत्ति का भारतीयकरण, शृंगारी काव्य का नैतिक मूल्यांकन, रूपगोस्वामी का एतद्विषयक योगदान, भक्तिकालीन रीतिग्रन्थ कृपाराम की 'हित तरंगिणी' तथा केशव कृत 'रसिक प्रिया' और 'काव्य-प्रिया' की कवि-शिक्षार्थ अध्ययन सम्बन्धी आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय उपशीर्षक शृंगारकालीन रीतिग्रन्थों के प्रतिपाद्य तथा जनराज कृत 'कविता-रस-विनोद' पर उक्त ग्रन्थों के प्रभाव के विवेचन से सम्बन्धित है।

चतुर्थ अध्यय में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, शब्द-शक्ति, रस, ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य, नायक-नायिका भेद, दोष, गुण, रीति-भेद, अलंकार-निरूपण तथा रस-निरूपण आदि काव्यशास्त्रीय गुणों के आधार पर आचार्य जनराज के आचार्यत्व की परीक्षा की गयी है और उनकी उपलब्धियों और सीमाओं पर विचार किया गया है।

पंचम अध्याय में रीतिकालीन पिंगल-निरूपक आचार्यों और उनके पिंगल-शास्त्रीय ग्रन्थों के आलोक में जनराज के पिंगल-निरूपण का विवेचन किया गया है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस सन्दर्भ में आचार्य जनराज की उप-लब्धी क्या है और उनकी सीमाएँ क्या हैं?

षष्ठ अध्याय में आचार्य जनराज की कवित्व शक्ति का विवेचन है। इसमें उनके शृंगार-रस-निरूपण, नख-शिख-परम्परा, संभोग-प्रेरक चित्र, उद्दीपन विभावान्तर्गत प्रकृति-वर्णन, शृंगारेतर रस-निरूपण, प्रशस्ति-काव्य, नीतिकाव्य तथा भक्ति काव्य-परक दृष्टि, भाषा-शैली, कल्पना वैभव तथा व्युत्पन्नता के विवेचन के साथ-साथ सामाजिक रीति कवियों में उनके स्थान का निर्धारण भी है।

अन्त में उपसंहार है, जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि आचार्य जनराज कृत 'कविता-रस-विनोद रीति-काल का एक ऐसा काव्य ग्रन्थ है जो काव्यशास्त्र का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। उसमें जिन-जिन काव्यांगों का निरूपण हुआ है, वह सब उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की तपस्या और परिश्रम की देन है। अनुसंधान के क्षेत्र में जिस प्रकार आज हम बढ़ते चले जा रहे हैं, उस प्रकार इस क्षेत्र में आगे बढ़ना पहले सम्भव न था। पहले तो इतना ही किया जा सकता था कि उस चिर-संचित पूँजी को एक ही स्थान पर सँजोकर रख दिया जाय।

भारतीय काव्य-शास्त्र के अध्ययन में चिन्तन की धारा जो चिरकाल से प्रवाहित हो रही थी, हिन्दी के मध्यकाल में उसका सर्वांगीण विकास रुका तो नहीं, पर उसकी गति मन्द अवश्य पड़ गयी थी। उस समय काव्यांगों को लेकर जो लिखा गया, उसमें कोई नया अनुसंधान नहीं हुआ और न होने की गुंजाइश ही थी। अतः जनराज जी के इस काव्य-शास्त्रीय विवेचन को पढ़कर यदि कोई नवीनता देखना चाहे, जो इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों में नहीं थी, तो उसे निराश होना पड़ेगा। केवल जनराज ही नहीं, उनके समकालीन सभी आचार्यों के काव्यशास्त्रीय विवेचन के अध्ययन में यही निराशा मिलेगी।

हिन्दी के मध्यकालीन आचार्यों ने तो भारतीय काव्य-शास्त्रों की चर्चा को किसी न किसी रूप में बनाए रखा और उस स्वस्थ परम्परा को नष्ट नहीं होने दिया—यही उनका उसके प्रति बहुत बड़ा उपकार समझना चाहिए। हिन्दी के मध्यकालीन आचार्यों की रचनाओं को पढ़कर हमें तो यह देखाना है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से कितना ग्रहण किया। यदि वह उनसे अधिक-से-अधिक ग्रहण कर सके, तो उनका परिश्रम सफल समझना चाहिए। जनराजजी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से जितना ग्रहण कर सकते थे, उसे उन्होंने अपने समकालीन साहित्याचार्यों के समान ही ग्रहण किया। जितना और जैसा उनके समकालीन आचार्यों ने काव्यांगों का विवेचन किया, उन्होंने भी उसी रूप में अपने कार्य को सम्पन्न किया। उनके 'कविता-रस-विनोद' के सांगोपांग निरूपण के सम्बन्ध में कोई ऐसी बात नहीं पायी जाती जो उनके समकालीन आचार्यों में न हो। उनके समकालीन आचार्यों ने काव्यांगों का जिस रूप में और जितना विवेचन किया वह भी उतना ही कर पाए। गद्य के पूर्ण रूप से विकसित न होने के कारण जो कभी उस समय के आचार्यों में रह गयी थी, उसे हिन्दी के आद्याचार्यों ने पूरा किया। इस सत्य को बिना किसी संकोच के स्वीकार किया जा सकता है।

जनराजजी के 'कविता-रस-विनोद' को हम काव्य-शास्त्र का सांगोपांग विवेचन मानते हैं। परन्तु इसमें नये अनुसंधान की प्रवृत्ति नहीं पाते और यही बात उनके समकालीन आचार्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

चिन्तन के क्षेत्र में आज भले ही गड़े मुर्दे न उखाड़े जा रहे हों, पर अनुसंधान

की प्रवृत्ति आज अधिक बलवती है। काव्य-शास्त्र पर हिन्दी के वर्तमान आचार्यों ने जो नई उपलब्धियाँ प्रस्तुत की हैं, यदि उनकी तुलना हिन्दी के पिछले तीन सौ वर्षों से की जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम पिछले सौ वर्षों में बहुत आगे बढ़ गये हैं। पूर्व और पश्चिम की चिन्तनधारा का जो संगम आज हो सका है, उसकी सम्भावना पहले नहीं की जा सकती थी। अतः नयी उपलब्धियों और अनुसंधानों की प्रवृत्ति न हम जनराजजी में पाते हैं और न उनके समकालीन आचार्यों में। इस दृष्टि से आज हम बहुत आगे बढ़ चुके हैं और बढ़ते जा रहे हैं।

रामचरितमानस और वाल्मीकि-रामायणेतर रामचरितमूलक संस्कृत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—रामजीदत्त शैली
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1974

रामचरितमानस और रामचरितमूलक संस्कृत काव्यों के तुलनात्मक अध्ययन पर अब तक पर्याप्त अनुसंधान हो चुके हैं। लेकिन इन अनुसंधानों का मुख्य उद्देश्य रामचरितमानस और संस्कृत काव्यों में प्राप्त मौलिक अन्तर की विवेचना मात्र है, इनमें विषय की गहराई और स्पष्टता नहीं है। प्रस्तुत प्रबन्ध के माध्यम से पहली बार रामचरितमानस और वाल्मीकि रामायणेतर रामचरितमूलक संस्कृत काव्यों की विस्तृत एवं वैज्ञानिक तुलनात्मक विवेचना की गयी है; साथ ही उन विषयों को भी स्पर्श करने का प्रयास किया गया है जो या तो अविवेचित थे या जिनका अस्पष्ट विवेचन हुआ था। इस प्रबन्ध में अध्यात्म रामायण, रघुवंश आदि सोलह ग्रन्थों के साथ रामचरितमानस की तुलना की गयी है। यह तुलनात्मक अध्ययन तुलनीय ग्रन्थों के प्रत्येक पक्ष को लेकर गहनता और गूढ़ता का आश्रय लेकर किया गया है। साथ ही प्रत्येक पक्ष पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से उदाहरण देकर अध्ययन किया गया है।

प्रथम अध्याय भूमिका भाग है जिसमें सर्वप्रथम काव्य के विभिन्न लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। तत्पश्चात् काव्य की आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न मतों की विशद तथा विस्तृत विवेचना की गयी है। इसके बाद 'कला, कला के लिए' अथवा 'कला, जीवन के लिए' विवादास्पद विषय पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। कला के वर्गीकरण को एक वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित किया गया है। कबीर, सूर आदि भक्त कवियों की कविताओं के उद्धरण देकर उन्हें भी 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त के गुप्त समर्थक सिद्ध किया गया है। संस्कृत कवि तो 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक हैं, इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए कालिदास, कुमारदास तथा दामोदर मिश्र आदि कवियों के श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

तत्पश्चात् महाकाव्य के मूल तत्त्वों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। साहित्य के कलापक्ष तथा भावपक्ष पर विस्तृत विवेचना की गयी है।

द्वितीय अध्याय अध्ययन सामग्री के अन्तर्गत, रामचरितमानस आदि ग्रन्थों के रचयिता तुलसीदास तथा रामचरितमूलक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता वेदव्यास, कालिदास, भास, भवभूति, भट्टि, अभिनन्द, कुमारदास भोजराज, मुरारि, दामोदर मिश्र, जयदेव, क्षेमेन्द्र तथा राजशेखर की जीवनियों एवं कृतियों पर परिचयात्मक प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् मौलिक गवेषणा की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रामचरितमानस की वाल्मीकि रामायणेतर रामचरितमूलक संस्कृत काव्यों की तुलना की आवश्यकता का मुख्य कारण युक्तिपूर्वक निर्दिष्ट है। इस शोध-प्रबन्ध में यह दिखाया गया है कि तुलसी ने अपने रामचरितमानस में रामकथा को किस प्रकार प्रस्तुत किया है और पूर्ववर्ती संस्कृत कवियों ने राम के चरित्र को किस प्रकार अंकित एवं चित्रित किया है। संस्कृत कवियों ने रामकथा को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है, किसी कवि ने तो भगवान राम को एक साधारण नायक दिखाया है, किसी ने विलासी राजकुमार। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से क्या ग्रहण किया है और क्या परित्याग किया है तथा उनकी मौलिक विवेचना कहाँ तक हो पायी है, यही इस शोध-प्रबन्ध की मौलिक गवेषणा की पृष्ठभूमि है।

तृतीय अध्याय रामचरितमानस के वस्तु-व्यापार से सम्बन्धित है। इस अध्याय में कथानक की उदस्तता, विषय-प्रधानता तथा आकृति पर प्रकाश डाला गया है। महाकाव्य में वर्ण्यमान नगर शोभा, जलक्रीड़ा तथा मधुपान आदि विषयों का उल्लेख किया गया है। आधिकारिक तथा अवान्तर कथाओं की उपयोगिता, आवश्यकता तथा महत्ता पर विचार प्रगट किये गये हैं।

मानस का वस्तु-व्यापार बड़ा ही सुयोजित एवं शृंखला-बद्ध है, उसमें शिथिलता का अभाव है। उसमें मर्मस्थलों पर कवि ने रुककर तत्सम्बद्ध रस का समाजीकरण तथा साधारणीकरण किया है। रामचरित का कथानक उदात्त तथा विषय प्रधान है। कथानक का आकार महाकाव्य के पूर्णतया अनुरूप है। इसमें महापुरुष राम के जीवन तथा चरित्र की प्रतिष्ठा है। रामचरितमानस के इतिवृत्त के स्रोत हैं—वाल्मीकि रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव, अध्यात्म रामायण, रघुवंश आदि। किन्तु तुलसी ने अपने इतिवृत्त को बहुत ही रोचक तथा वैज्ञानिक रूप दिया है। मानस का इतिवृत्त पूर्णतया सद्वृत्तता को प्राप्त हो गया है।

महाकाव्य की प्रणाली के अनुसार इसमें मन्त्रणा, दूतप्रयाण तथा युद्ध आदि के सभी आवश्यक तत्त्व हैं। राज्य, नगर, पर्वत, ऋतु, चन्द्रमा, सूर्य, रात्रि आदि का विशद तथा विस्तृत वर्णन है। प्रकृति वर्णन के सौन्दर्य से तो मानस का कलेवर पूर्णतया अलंकृत तथा चमत्कृत है। इसके वर्षा वर्णन और शरद वर्णन तो हिन्दी

साहित्य की एक अक्षुण्ण निधि हैं।

चतुर्थ अध्याय में उद्देश्य, मानव जीवन की समग्रता का अंकन, मानव-मन की शाश्वत वृत्तियों का चित्रण, संस्कृति की नवोन्मेषता-विषयक प्रेरणा, जगत् के प्रतिनिधि और लोकप्रिय नायक के ऊपर जातीय भावनाओं, आदर्शों एवं आकांक्षाओं का उद्घाटन तथा मानवता की प्रतिष्ठा की विवेचना की गयी है।

पंचम अध्याय में चरित्र-चित्रण, चरित्र-चित्रण विषयक सामान्य विशेषताएँ तथा मौलिकताएँ विवेचित हैं। नायक तथा प्रतिनायक के चरित्र चित्रित हैं। अन्य पात्रों के चरित्रों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है। अन्त में चरित्रों का मूल्यांकन किया गया है। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व को भी सूक्ष्म दृष्टि से पर्यालोचित किया गया है। मूल्यांकन में रामचरितमानस में चित्रित पात्रों का अन्य रामचरितमूलक संस्कृत काव्यों तथा नाटकों में चित्रित पात्रों की सोदाहरण तुलना की गयी है।

षष्ठ अध्याय 'रस-योजना' के विवेचन से संबंधित है। इसमें रामचरितमानस में वर्णित श्रृंगार, करुण आदि रसों की अन्य ग्रन्थों में वर्णित रसों से सोदाहरण तुलना की गयी है। इसमें यह भी सिद्ध किया गया है कि रामचरितमानस का मुख्य रस शान्त रस अर्थात् भक्ति-रस है, इस सिद्धान्त के समर्थन में कविकृत रचनाएँ उद्धृत की गयी हैं। साधारण समाज रस का आस्वादन क्यों और कैसे करता है, इस सिद्धान्त की विशद विवेचना की गयी है। रस-योजना सम्बन्धी मौलिक विशेषता में सिद्ध किया गया है कि तुलसीदासजी ही मर्यादित, शिष्ट तथा श्लील श्रृंगार रस के वर्णन में सफल हैं, जबकि कुमारदास, कालिदास तथा दामोदर मिश्र आदि संस्कृत कवि तो राम-सीता आदि पात्रों के सम्भोगवर्णन में कामशास्त्र की व्याख्या तथा विवेचना में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह भी सिद्ध किया गया है कि केवल तुलसी ही रससिद्ध कवि हैं, इसी से मानस में सभी रसों का सुन्दर समावेश है।

भाव-निरूपण में संचारी भावों का सोदाहरण तथा तुलनात्मक वर्णन किया गया है। मूल्यांकन में रामचरितमानस में वर्णित श्रृंगार रस की अन्य ग्रन्थों में वर्णित श्रृंगार रस के साथ सोदाहरण तुलना की गयी है।

सप्तम अध्याय में शैली, सर्ग, आदि और अन्त, छन्दोविधान, भाषा तथा अलंकार योजना पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम अध्याय में उपसंहार के रूप में पूर्व परिच्छेदों पर समष्टिरूप से विचार किया गया है। प्राप्त निष्कर्षों का मूल्यांकन किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने पूर्ववर्ती रामचरित लेखकों के ग्रन्थों की तुलना में रामचरितमानस में क्या-क्या मौलिकताएँ दिखायी हैं—इस विषय पर तुलनात्मक विचार किया गया है। अन्त में रामचरितमानस का मूल्य, महत्त्व तथा सन्देश प्रतिपादित है।

गोस्वामी तुलसीदासजी के सम्मुख रामचरितमानस की रचना करते समय अध्यात्म रामायण, रघुवंश, रामायण मंजरी आदि अनेक रामचरितमूलक संस्कृत काव्य तथा नाटक थे किन्तु उन्होंने इन उपजीव्य ग्रन्थों से केवल राम-कथा का ही ग्रहण किया। उनसे कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का संग्रह किया, उनकी सभी बातों को नहीं पकड़ा। किसी भी बात का अन्धानुकरण नहीं किया। जिस प्रकार शेक्सपियर ने किंग लियर नाटक की रचना में अपनी मौलिकता का प्रदर्शन किया, उसी प्रकार गोस्वामीजी ने भी रामचरितमानस की रचना में अपनी मौलिक विशेषताओं का परिचय दिया।

पुष्प वाटिका में राम-सीता का मिलन एक नयी उद्भावना को लिये हुए है, रामायण मंजरी, अध्यात्म रामायण तथा अनर्घ राघव आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख भी नहीं है, यदि प्रसन्न राघव में इस प्रसंग का वर्णन है, तो भी गोस्वामी-जी ने इसमें अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

राम-वनवास के समय अध्यात्म रामायण, चम्पू रामायण तथा प्रतिमानाटक आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में लक्ष्मण तथा दशरथ को क्रुद्ध तथा मानप्रतिज्ञ प्रदर्शित किया गया है, किन्तु गोस्वामीजी ने लक्ष्मण को राम की भाँति मर्यादा में स्थित पुत्र तथा भ्राता सिद्ध किया है, और दशरथ को 'रघुकुल रीति सदा चलि आयी। प्राण जायँ पर वचन न जायी' के अनुसार सत्यव्रत तथा दृढ़प्रतिज्ञ चित्रित किया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने परशुराम-प्रसंग को स्वयंवर सभा में ही राम की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए नियोजित किया है जबकि रघुवंश तथा जानकी हरण आदि काव्यों में यह प्रसंग मिथिला से अयोध्या को लौटते हुए मार्ग में प्रदर्शित किया गया है।

कुमारदास ने जानकी हरण में तथा दामोदर मिश्र ने हनुमन्नाटक में विवाहा-नन्तर राम-सीता का सम्भोग-वर्णन कामुकता, वासना तथा अश्लीलता से पूर्ण किया है, किन्तु गोस्वामीजी ने इस प्रसंग को बड़ी मर्यादा से निबाहा है। संयोग शृंगार की मर्यादा के साथ शिष्ट झाँकी दिखाना गोस्वामीजी की प्रशंसनीय मौलि-कता है।

जयन्त प्रसंग में गोस्वामीजी की मौलिकता है कि जयन्त ने सीता के चरण पर चोंच मारी, जबकि पूर्ववर्ती कवि कालिदास ने लिखा है कि इन्द्र के पुत्र जयन्त ने सीता के स्तनों का विदारण किया।

प्रतिभा नाटक में बालि ने राम के सम्मुख यह उद्घोष किया है कि हम दोनों भाई एक-दूसरे की पत्नी का रमण करते हैं, जबकि गोस्वामजी ने इसे मुक्तभोग का स्पष्ट प्रचार समझते हुए इस तथ्य पर मूकता का आश्रय लेकर अपनी मौलि-कता का परिचय देने के लिए बालि को ही वध्य अपराधी सिद्ध किया है।

रामचरित में लिखा गया है कि राम ने हनुमान को सीता के अभिज्ञान के

लिए मुद्रिका के अतिरिक्त मणिनूपुर तथा स्तनोत्तरीय भी दिये किन्तु गोस्वामीजी ने मानस में केवल मुद्रिकादान का ही उल्लेख किया है।

रामचरित में सीता के विरह में रावण का प्रलाप तथा उन्माद प्रदर्शित किया है किन्तु गोस्वामीजी ने इसे जगन्माता के प्रति ऐसे विषय का वर्णन करना मर्यादा से बाहर समझकर इस स्वाभाविक वस्तुस्थिति को छोड़ दिया है।

रामचरित आदि कुछ ग्रन्थों में राम का रावण-वध के पश्चात् लंका में प्रवेश प्रदर्शित किया है, किन्तु गोस्वामीजी ने आदर्श-चरित्र राम को सत्य प्रतिज्ञा पालन के हेतु वनवास काल में किसी भी नगर में प्रविष्ट प्रदर्शित नहीं किया है।

रामायण मंजरी तथा महिकाव्य में अग्नि-परीक्षा के बाद भी राम ने सीता से कहा कि तुम अब स्वतन्त्र हो, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, विभीषण तथा सुग्रीव में से किसी को भी चुनकर उसके साथ पत्नीवत् रह सकती हो जबकि गोस्वामीजी ने इसे राम-सीता के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा से बाहर समझकर इस विषय पर मौन ही साधा।

उत्तर रामचरित, रघुवंश आदि ग्रन्थों में गर्भवती सीता का जनापवाद के कारण वन निर्वासन एक करुणाजनक विस्तृत तथा विशद वर्णन है जबकि गोस्वामी जी ने इस विषय पर कुछ भी नहीं कहा क्योंकि राज्याभिषेक के द्वारा रामराज्य स्थापित कर लेने के बाद अग्नियुद्धा, देवस्तुता-गर्भिणी तथा निरपराध सीता को वन में भेजना राम के प्रति साधारण जनता की मनोभावना को ठेस पहुँचाना है। तुलसी का उद्देश्य रामराज्य की स्थापना है। उनका रामराज्य की प्रतिष्ठा के बाद काव्य का उद्देश्य समाप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य बहुत-सी मौलिकताएँ हैं, जिसके लिए राम-भक्त, गोस्वामीजी के सदा ऋणी रहेंगे।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रामचरितमानस एक अमूल्य महाकाव्य है। इसका भावपक्ष हमारे हृदयों में भक्ति-भावना उत्पन्न करता है और कलापक्ष, हमारे हृदय-सागर में आनन्द तरंगें उद्वेलित करता है। इसका कथानक सत्य है, इसकी रस-योजना तथा अलंकार योजना सुन्दर है, इससे हमारा शिव (कल्याण) भी होता है क्योंकि यह ग्रन्थ हमारे जीवन में हमें सच्ची शिक्षा देकर हमारी संस्कृति का पुनर्जागरण करता है।

प्रगतिवादी हिन्दी कविता और रूसी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—राजेन्द्र कुमार
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश तथा डॉ० के० एस० ढींगरा
वर्ष—1974

इस अध्ययन के मूल में मानव-मन की प्रत्येक वस्तु को तुलनात्मक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति ने ही कार्य किया है। आज के युग में साहित्य मनीषी और आलोचक किसी विषय के बाह्य ज्ञान मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वरन् वह उस विषय के अन्तस् तक पहुँचकर उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी चाहता है। इसके लिए वह तद्विषयक आलोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन भी करना चाहता है। हिन्दी और रूसी के तुलनात्मक अध्ययन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

रूसी भाषा का अध्ययन करते समय अनेक शब्द ऐसे आये हैं जो दोनों भाषाओं में समान हैं अथवा जिनका मूल समान है। प्रायः उपसर्ग, प्रत्यय और शब्दों के अन्त तथा अन्य अनेक व्याकरणीय तत्त्वों में पूर्ण सादृश्य है। यहाँ तक कि आधुनिक रूसी भाषा में भी संस्कृत के अनेक शब्द एवं विशिष्ट प्रयोग मौजूद हैं। जब भाषा में इतना साम्य है तो साहित्य में वैचारिक साम्य अवश्य होगा और फिर हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य के मूल में जो वैचारिकता है, वह मार्क्सवाद प्रेरित ही मानी जाती है तथा मार्क्सवाद को प्रयोगात्मकता मिली है सोवियत संघ में। हिन्दी में तुलनात्मक अध्ययन भारतीय भाषाओं अथवा आंग्ल भाषा तक ही सीमित रहा है। लेखक के अनुसार रूसी साहित्य का मूल भाषा में अध्ययन करने का प्रयत्न हिन्दी जगत् में नगण्य ही है और रूसी भाषा और साहित्य का अध्ययन करते समय लेखक की सदैव इस बात की इच्छा रही है कि रूसी भाषा और साहित्य की समृद्धि, प्रवृत्तियों एवं विचारों से हिन्दी जगत के व्यक्ति भी अवगत हों। प्रस्तुत अध्ययन इसी दिशा में प्रथम प्रयास है।

इस प्रबन्ध में कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में हिन्दी और रूसी साहित्यों में 'प्रगति' सम्बन्धी धारणा का अवलोकन किया गया है। यहाँ यह बात स्मरणीय

है कि रूसी काव्य में जिस काव्य को समाजवादी-यथार्थवादी काव्य की संज्ञा दी जाती है उसके लिए 'प्रगतिवादी' शब्द का ही व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है। प्रथम अध्याय के ही तीन खण्ड हैं। (अ) में 'प्रगति' की प्रगतिवादी धारणा—प्रगति के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य परम्परागत दृष्टिकोण—प्रगति के प्रति मार्क्सीय धारणा, (आ) में रूसी साहित्य में 'प्रगति' की धारणा—समाजवादी यथार्थवाद—अखिल सोवियत लेखक संघ का गठन—सोवियत लेखकों की प्रथम अखिल संघीय कांग्रेस—गोर्की का साहित्य के प्रति दृष्टिकोण—रूसी साहित्य में प्रगतिवाद का आरम्भ और विकास तथा (इ) में हिन्दी साहित्य में 'प्रगति' की धारणा—'प्रगतिवाद' या प्रगतिशील-प्रगतिवादी काव्य की आरम्भ तिथि—प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था की साहित्यिक लक्ष्य पूर्ति की घोषणा—प्रगतिवादी कविता का विकास—दिखाया गया है।

द्वितीय अध्याय रूसी कविता में प्रगतिवादी आन्दोलन की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का है। इसमें भी दो खण्ड हैं। (क) सोवियत संघ की समाजवादी क्रान्ति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : क्रान्तिपूर्व रूसी समाज की अवस्था—पूंजीवाद और मानव शोषण की चरमावस्था का विकास, 1905 की क्रान्ति, साम्यवादी दल की स्थापना, मार्क्सवादी समाज दर्शन—समाजवादी विचारधारा के उद्‌गम स्रोत—जर्मन क्लासिकीय विचारधारा—इंग्लैण्ड का क्लासिकीय अर्थशास्त्र—उन्नीसवीं शताब्दी का काल्पनिक समाजवाद—दार्शनिक चेम्पानेला, साइमन, फूरियर और ओवेन के विचार—जीववैज्ञानिक उपलब्धियाँ—डार्विन का विकासवाद—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—मार्क्स और एंगेल्स की विचारधारा। लेनिन की मार्क्सवाद विषयक प्रतिपत्तियाँ। रूस में दूसरी पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति—समाजवादी क्रान्ति की ओर संक्रमण—समाजवादी रूपान्तरण तथा (ब) रूसी काव्य में प्रगतिवादी आन्दोलन का विकास, रूस में यथार्थवादी साहित्य का श्रीगणेश, 'सव्रिमेंन्निक' पत्रिका का प्रकाशन, 'अचिचेस्तविन्नियें जापिस्की' पत्रिका का प्रकाशन—प्रजातन्त्रात्मक प्रवृत्ति के साहित्य का विकास—रूसी में प्रगतिवादी आन्दोलन—समाजवादी यथार्थवाद और रूसी काव्य—को व्याख्यायित किया गया है।

हिन्दी में प्रगतिवादी काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को तृतीय अध्याय में दिखाया गया है। इसके दो खण्ड हैं। (क) भारतीय समाज रचना—नृतत्वशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय अध्ययन। भारतीय दर्शनों में भौतिकवादी दर्शन का विकास—राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—राष्ट्रीय नवजागरण—यान्त्रिक सभ्यता का विकास—राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास—साम्राज्यवाद और नयी सामाजिक चेतना, राष्ट्रीय आन्दोलन—सामाजिक और सांस्कृतिक मुक्ति का आन्दोलन, समाजवादी विचारधारा का विकास

—कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना, रूस के साम्यवादी जन-आन्दोलन का भारतीय समाज पर प्रभाव तथा (ख)हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन की साहित्यिक भूमिका —हिन्दी कविता की सोद्देश्यवादी परम्परा—साहित्य में यथार्थवाद का विकास—प्रगतिवादी काव्य का आरम्भ—प्रगतिवादी आन्दोलन और हिन्दी काव्य—का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय हिन्दी और रूसी प्रगतिवादी काव्य के स्रष्टाओं के सम्बन्ध में है जिसमें (अ) हिन्दी कवि—रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, रामेश्वर करुण, शिवमंगलसिंह 'सुमन', नरेन्द्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा (आ) रूसी कवि—इसाकोव्स्की, त्वरदोव्स्की, सोमोनोव, वेराईन्वर, तीखोनोव, स्वेतलोव—आदि कवियों की रचनाओं एवं विशेषताओं का विशद् वर्णन है।

पंचम अध्याय, हिन्दी और रूसी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन का है। इसमें हिन्दी और रूसी काव्य में सामाजिक यथार्थ का तुलनात्मक चित्रण, श्रमिक जीवन, ग्राम्य जीवन और किसानों की अवस्था, नारी चित्रण—शोषण और गरिमा का अंकन, भूख और वर्ग संघर्ष, शोषक वर्ग—विद्रोही जीवन और क्रान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय यथार्थ, द्वितीय महायुद्ध का चित्रण, मानवतावाद, ऐतिहासिक आशावाद —का वर्णन किया गया है।

षष्ठ अध्याय तीन खण्डों में है, जिसमें प्रगतिवादी कविता में भाव-बोध और शिल्प की व्याख्या है। (अ) में भावबोध—मूल प्रवृत्तियाँ और मानवीय मन का संवेदनात्मक आधार—मन के संबंध में पावलोव की निष्पत्तियाँ—हिन्दी और रूसी कविता में भावबोध चित्रण—तुलनात्मक दृष्टि, मानसिक यथार्थ—आशा और आस्था—निराशा—संत्रास, आतंक, भय, घृणा, प्रेम, अनिश्चित भविष्य, कुण्ठा, बन्दियों की मानसिक स्थितियाँ, कवि का हृदय सामूहिक मन और काव्य में उसकी अभिव्यक्ति—उद्बोधन आदि दिया गया है। (आ) में, व्यंग्य—हास्य और व्यंग्य—व्यंग्य का स्वरूप, हिन्दी कविता में व्यंग्य—विद्रूप की प्रखरता—रूसी कविता में व्यंग्य है। (इ) शिल्प संबंधी चित्रण है, जिसमें प्रगतिवादी कविता का शिल्प—तुलनात्मक दृष्टि—भाषा, भाषा के प्रति हिन्दी और रूसी दृष्टिकोण। काव्यरूप-विधाएँ और शैलियाँ—प्रबन्ध और निर्बन्ध काव्य—गीतात्मकता, रूसी काव्य की अन्य विधा—लम्बी कविता। बिम्ब योजना—काव्य में बिम्ब—बिम्बों का वर्गीकरण, हिन्दी और रूसी काव्य में बिम्ब—रूप बिम्ब, भाव बिम्ब, क्रिया बिम्ब, हिन्दी और रूसी बिम्बविधान में तुलना। प्रतीक—काव्य में प्रतीक योजना, —प्रतीकों का वर्गीकरण—हिन्दी काव्य के प्रतीक, रूसी काव्य में प्रतीक चित्रण की विरलता, वैज्ञानिक प्रतीक, प्रतीक चित्रण की विशेषताएँ। अप्रस्तुत पक्ष—अप्रस्तुत पक्ष की विविधता—अलंकार, हिन्दी काव्य में नवीन अलंकार योजना—

उपमा, रूपक, अन्योक्ति, मानवीकरण, रूसी कविता में अलंकार—मानवीकरण— पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। अध्ययन के अन्त में उपसंहार के रूप में जहाँ सम्पूर्ण अध्ययन से निकले निष्कर्षों को बहुत संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहीं प्रगतिशील साहित्य के मूल्यांकन की समस्याओं को एक नया दिशा-संकेत देने का प्रयत्न भी किया गया है।

प्रगतिवादी हिन्दी कविता में शिल्प पक्ष पर कुछ ध्यान गया है, रूसी काव्य में यह अत्यन्त गौण है, रूसी कवियों ने साधारण जनता के लिए रचनाएँ की हैं, अतः उनमें उद्‌बोधन, आशावादिता या साधारण स्तर की वैचारिकता को सीधे-साधारण ढंग से ही अभिव्यक्त कर दिया है, लपेटकर नहीं। इसके साथ एक तथ्य यह भी है कि हमारे यहाँ हिन्दी में मौखिक गायक हो रहे हैं जबकि रूसी कवि अपने हर क्षेत्र में जनता के बीच रहे हैं—मेहनतकश जनता के प्रतिनिधि ही नहीं, स्वयं मेहनतकश इन्सान रहे हैं। इस कारण उनके काव्य में सबकुछ होते हुए भी हृदय को पकड़ने की एक शक्ति है, जो जनता से दूर रहकर क्रान्ति का उद्‌बोधन करने-वाले हिन्दी कवियों में अप्राप्य है।

आचार्य जगत सिंह : जीवनी और कृतित्व

शोधकर्ता—विजयपाल सिंह तोमर
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1975

रीतिकाल में सर्वांग निरूपक आचार्यों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र तथा डा० भागीरथ मिश्र जैसे रीतिशास्त्र मर्मज्ञ विद्वानों ने आचार्य जगतसिंह के कृतित्व का उल्लेख अपनी कृतियों में किया है किन्तु शोध के स्तर पर इनके जीवन और साहित्य का सांगोपांग अध्ययन पहली बार इस शोध प्रबन्ध के रूप में प्रस्तावित है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में 1862 ई० से लेकर अद्यतन गोकुलप्रसाद व्रज, शिवसिंह सेंगर, सर जार्ज ग्रियर्सन, डा० मोतीसिंह, डा० नगेन्द्र, डा० भागीरथ मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० सत्यदेव चौधरी, डा० ओमप्रकाश तथा डा० कुन्दनलाल जैन के साक्ष्य से जगतसिंह सम्बन्धी आलोचनात्मक सामग्री का परीक्षण कर शोध की आवश्यकता और उपयोगिता को स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय में जीवनवृत्त और कृतित्व पर हस्तलेखों तथा राज्य परिवार से सम्बन्धित सामग्री का उपयोग करते हुए सविस्तार विचार किया गया है। इनका जन्म समय 1767-68ई० तथा मृत्यु समय 1843 ई० अनुमानित किया गया है। वत्सगोत्र में उत्पन्न महाराज जगतसिंह विसेन क्षत्रिय ने विसेनवंशागम-विश्वेनवंश-वाटिका, भिनगाराज्य फैमिली जैसी कृतियों की परीक्षा करके भविष्य पुराण के आधार पर मैंने इन्हें विष्वकसेनानुयाई सिद्ध किया है। जगतसिंह दिग्विजयसिंह के पुत्र थे। शिवदीन कवि कृत भिनगा रायसो तथा सदानन्द प्रणीत भगवन्तसिंह रायसो के आधार पर इनकी वंश परम्परा की पुष्टि हुई है। इस प्रसंग में इनकी आज तक की वंश तालिका भी लगा दी गयी है। जन्मभूमि, निवास स्थान, वेश-भूषा, व्यसन, आमोद, प्रमोद, शस्त्र संचालन, विद्याध्ययन, धार्मिक विचारधारा,

देवालय निर्माण, गुरु और सम्प्रदाय तथा सामयिक परिचित कवियों का ब्यौरा देकर इस राजपरिवार की साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख किया गया है । इनके आश्रित शिव कवि, शम्भुनाथ मिश्र के शिष्य तथा सुखदेव मिश्र के प्रशिष्य थे । जगतसिंह के चचेरे भाई शिवसिंह के भक्तिप्रकाश, काव्यदूषण प्रकाश जैसी कृतियों का परिचय इस प्रबन्ध में दिया गया है । जगतसिंह वैदिक परम्परा के जानकार थे, उन्होंने अग्निस्तोत्र यज्ञ भी किया था । भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र, जयदेवकृत चन्द्रलोक, भोजकृत शृंगारप्रकाश, मम्मट कृत काव्यप्रकाश, अप्पय दीक्षित कृत कुवलयानन्द तथा भानुदत्त की रसतरंगिनी और मंजरी का इन्होंने विधिवत अध्ययन किया था ।

तृतीय अध्याय में जगतसिंह के ग्रन्थों के रचनाकाल तथा प्रतिपाद्य पर विचार किया गया है । अलंकारसाठि दर्पण, उत्तम मंजरी, चित्रमीमांसा, जगतप्रकाश, नायिकादर्श, नारी का अंग वर्णन, रसमृगांक, रत्नमंजरी कोश, साहित्यसुधानिधि, भारतीकंठाभरण जैसी छोटी-बड़ी दस कृतियों का परिचय तथा रचनाकाल देकर इन कृतियों की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है । शृंगारिकता, लक्षण-लक्ष्यनिरूपण तथा अनेकार्थक कोश रचना इनके काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं । भक्ति-शृंगार का समन्वय इनकी रचनाओं में प्राय: मिलता है । नखशिख निरूपण परक रचनाओं की बहुलता है तथा काव्य के सभी प्रमुख अंगों पर लक्षण-काव्य की रचना की है । नायिकाभेद की व्यवस्थित रचना नहीं मिलती । छन्द पर भारती-कंठाभरण नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हुई है । साहित्यसुधानिधि में ध्वनि का स्वतन्त्र विवेचन नहीं है ।

चतुर्थ अध्याय में जगतसिंह के काव्य में शृंगारिकता का निरूपण है । शृंगारी काव्य-रचना के मूलस्रोत का उल्लेख किया गया है । शृंगारिकता के साथ शास्त्रीयता के पुट पर पड़े प्रभाव का विवेचन किया गया है । अंगसमष्टि या नख-शिख निरूपण की परम्परा का सर्वेक्षण करते हुए जगतसिंह के नख-शिख निरूपण की विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया गया है । बलभद्र मिश्र आदि कवियों की परिपाटी में विवेच्य आचार्य नख-शिख निरूपण के आधार पर अग्रिम पंक्ति के अधिकारी सिद्ध होते हैं । संस्कृत साहित्य तथा सामयिक रीतिकवियों के समानान्तर उदाहरण देकर इनकी विशेषताओं का निरूपण हुआ है । सौन्दर्यचित्रण में सम्भोग प्रेरक, सम्भोगपरक तथा सम्भोगपरवर्ती चित्रों का विश्लेषण करते हुए शृंगार के अंगों की पुष्टि की गयी है । संयोग, वियोग, प्रकृति चित्रण आदि का विवेचन भी इसी अध्याय में हुआ है । प्रकृति वर्णन की सभी विधाओं का चित्रण यहाँ नहीं मिलता केवल वसन्त और वर्षागम के चित्रों की ही प्रधानता है, इसी तरह रीतिसिद्ध बिहारी जैसे कवियों की तरह अनुभावादि की सूक्ष्म योजना का भी यहाँ सर्वथा अभाव है ।

पंचम अध्याय में जगतसिंह के काव्य में शृंगारेतर तत्व शीर्षक से भक्ति और कोशनिर्माण पर विचार हुआ है। पौराणिक भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए राधा-कृष्ण की कुंज-भाव सेवा और माधुर्य भक्ति पर सोदाहरण विचार किया गया है, फिर शिव और गणेश सम्बन्धी स्मार्त्त भाव की उपासना का विवरण देते हुए कवि के मुक्त छन्दों की इस दृष्टि से विवेचना की गयी हैं, तदुपरान्त 1643 से 1899 वि० तक प्राप्त मध्यकालीन हिन्दी कोश रचनाओं का परिचय दिया गया है। रत्नमंजरी कोश की विशेषताएँ इसी सन्दर्भ में प्रमाणित की गयी हैं।

षष्ठ अध्याय में जगतसिंह के आचार्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। काव्य-स्वरूप, काव्यलक्षण, काव्यभेद, प्रयोजक, काव्यहेतु, शब्दशक्ति, दोष, गुण, रीति, अलंकार, रस तथा छन्द पर साहित्य सुधानिधि, अलंकार साहित्य दर्पण तथा भारतीकंठाभरण के आधार पर लक्षणों का उल्लेख किया गया है तथा लक्षण-लक्ष्य भाग पर पड़े हुए संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रभावों का उल्लेख किया गया है। अलंकारों पर इनका असाधारण अधिकार है तथा चन्द्रालोक, कुवलयानन्द तथा काव्यप्रकाश की समन्वित प्रणाली अपनाकर चलनेवाले ये प्रौढ़ साहित्यशास्त्री हैं। सप्तम अध्याय में पिंगल निरूपण हिन्दी आचार्यों की कृतियों का सूक्ष्म परिचय देते हुए इनके छन्दशास्त्रीय योगदान का मूल्यांकन किया गया है तथा किस-किस छन्द के निरूपण में इन्होंने प्राकृत पैंगलम, वृत्त रत्नाकर, छन्दोमंजरी तथा छन्दोर्णव का सहारा लिया है, संख्यानिर्देश के साथ उसका उल्लेख कर दिया गया है। सुबोध और समन्वित आधार ग्रहण की दृष्टि से वह मतिराम, सोमनाथ, भिखारीदास से किसी मात्रा में कम नहीं। आठवें अध्याय में जगतसिंह की कला शीर्षक से सामन्तीय वातावरण की रचना तथा साहित्यिक सौन्दर्य की अवतारणा में प्राप्त उनके काव्यात्मक योगदान की चर्चा हुई है। अलंकृति, शृंगार तथा उक्तिवैचित्र्य की दृष्टि से वह रीतिबद्ध कवियों की प्रथम पंक्ति में बैठने के अधिकारी सिद्ध होते हैं।

परिशिष्ट में मुद्रित तथा हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची के अतिरिक्त चित्रालंकार निरूपण तथा साहित्यसुधानिधि की अप्रकाशित कृति दो शीर्षकों से रचनाएँ लगायी गयी हैं। चित्रालंकार इसलिए कि वह युगीन कौतुक काव्य की रुचि की परिचायक है और 'सुधानिधि' इसलिए कि वह रीतिशास्त्र परम्परा की दुर्लभ कृति है।

इस प्रकार तथ्य सम्बन्धी जगतसिंह विषयक सभी पक्षों धारणाओं का मूल्यांकन इस प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है। आशा है, इससे एक अभाव की पूर्ति हो सकेगी।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में वैदिक परम्परा

शोधकर्ता—हरपालसिंह
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1975

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बाह्य सम्पर्क तथा प्रभाव की चर्चा प्रायः इतिहासकारों ने की है, किन्तु भारतीय जन-जीवन की अविच्छिन्न परम्परा के रूप में उसके अनुशीलन की चर्चा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचकों ने ही प्रस्तुत की। भारतीय साहित्य श्रुति और स्मृति परम्परा से सम्पुष्ट हुआ है और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य तो अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि में श्रौत संस्कारों पर ही टिका हुआ है, किन्तु शोध के स्तर पर इस तथ्य का अनुशीलन प्रायः अभी तक नहीं किया गया था। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी दिशा में एक विनम्र प्रयत्न है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वित आधार मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को वेद, उपनिषद् और पुराण साहित्य के आधार पर प्राप्त हुआ तथा एकेश्वरवाद, बहुदेववाद और सर्वेश्वरवादी धारणाओं का समन्वित रूप स्मार्त्त-उपासना पद्धति के रूप में विकसित हुआ। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य, वेद को प्रमाण माननेवाली इसी स्मार्त्त-धर्म का पोषक और समर्थक है।

प्रथम अध्याय में मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की परम्परा पर ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विचार किया गया है तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बाह्य सम्पर्क और प्रभाव का विवेचन करते हुए हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से जोड़ा गया है और यह सिद्ध किया गया है कि संस्कृत साहित्य में स्मृति और धर्मशास्त्रों के आधार पक्ष तथा धार्मिक क्रिया पक्ष को आस्तिक दर्शनों के साथ वैदिक प्रभाव के रूप में स्वीकार किया गया है। वैदिक-धर्म और दर्शन मध्यकाल की पृष्ठभूमि में छिपे हुए हैं। नाथ परम्परा ने भी इस प्रभाव को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में स्मार्त्त-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म तथा

पौराणिक-धर्म और मान्यताओं का हिन्दी साहित्य के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है।

द्वितीय अध्याय में वैदिक-धर्म, भेदोपासना, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वर-वाद, देवों का सामर्थ्य जैसे विषयों पर निरुक्त की दृष्टि से विचार करते हुए वैदिक देवतावाद का आधार बताया गया है और तदुपरान्त निर्गुण काव्यधारा और सगुण काव्यधारा में इनका प्रतिफलन दिखाया गया है। तृतीय अध्याय में देवताओं की संख्या तथा स्थान का मानवीय और प्रतीकात्मक दृष्टि से विचार किया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में देवताओं का परि-कल्पन पुराण और उपनिषदों की समन्वित शैली पर हुआ, तदुपरान्त अवतारवाद पर विचार किया गया है और निर्गुण सगुण साहित्य में देवमण्डल की अभिव्यक्ति के आधार स्पष्ट किये गये हैं। चौथे और पाँचवें अध्याय में विस्तृत उदाहरणों के साथ इन्हीं तथ्यों पर विचार हुआ है। षष्ठ अध्याय में पूजा, स्तोत्र, यज्ञ, अग्न्या-धान की वैदिक प्रक्रिया पर विचार करते हुए हिन्दी में राजसूय और अश्वमेध सम्बन्धी सामग्री का विवरण दिया गया है। सातवें अध्याय में वैदिक-नीति, वैदिक-समाज, चातुर्वर्ण्य का संगठन, आश्रम व्यवस्था तथा संस्कारों के उद्भव और विकास को स्पष्ट करते हुए मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में इन तत्वों की परिणति दिखायी गयी है। आठवें अध्याय में उपनिषद् की परम्पराओं पर विचार करते हुए भारतीय आस्तिक दर्शनों का परिचय दिया गया है। उनकी मान्यताएँ स्पष्ट की गयी हैं तथा उपनिषद् और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों से सम्बन्धित हिन्दी में उपलब्ध दर्शन साहित्य की उपलब्धियों पर विचार किया गया है।

नवम अध्याय में वैदिक साहित्य की अभिव्यंजना पद्धति और शैलियों पर विचार करते हुए उसी परम्परा में मध्यकालीन कवियों की वर्णन शैलियों का निरूपण किया गया है। समासोक्ति, गूढ़ार्थ, अतिशयता, वैषम्य और अलंकृति के आधार पर मध्यकालीन हिन्दी कवियों की काव्य शैली का सोधारण विश्लेषण किया गया है। इस समग्र अध्ययन से कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हुए, वे इस प्रकार हैं।

मध्ययुगीन धर्म साधना में परमतत्व का स्वरूप, अवतारत्व, साध्य प्राप्ति के साधन, रसेश्वर दर्शन, सगुण-निर्गुण मतवाद, साधक-साध्य सम्बन्ध, नामरूप, धाम, लीला, परिकर, कुंजसाधना, मुक्ति आदि सभी मान्यताओं पर वेदान्त दर्शन के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, सांख्य, योग तथा तन्त्रमत का प्रभाव पूर्णरूपेण दिखायी देता है। इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का समग्र ढाँचा भारतीय आस्तिक दर्शनों की समन्वित विचार-सरणी पर प्रतिष्ठित है तथा वेद स्मृत्यनुरूप आचार-परम्परा का पोषक है।

डा० मोतीसिंह ने यद्यपि अपने ग्रन्थ निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

पर कूर्म जैसे अवतारों की चर्चा की है, किन्तु उक्त वेदार्थ मूलक प्रसंगों का पल्लवन सगुण काव्य में ही उपलब्ध होता है। हाँ, सन्त गरीबदास ने अपने ग्रन्थ साहिब में कच्छ, मच्छ आदि को ब्रह्म के अधीनस्थ स्वीकार कर परम्परा का संकेत मात्र किया है।

कच्छ मच्छ कूरम चलाऊ, चन्द्र सूर है पंथ बटाऊ।
इन्द्र कुबेर वरुन धर्मराया, निश्चल ब्रह्म सचंचल माया।।

इसके अतिरिक्त वैदिक देवताओं का उल्लेख निर्गुण हिन्दी साहित्य में नहीं मिलता। इन्द्र, वरुण, अग्नि, विष्णु, सूर्य आदि पृथ्वी, द्यु तथा अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए अवतारत्व की चर्चा की गयी है।

इस सगुण भक्ति साहित्य में देवमण्डल की अपनी विशिष्ट साधना पद्धति है जहाँ एक ओर वह श्रौत संस्कारों को लेकर चली है, वहीं उसमें स्मार्त्त-प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं। इन दो के अतिरिक्त इनमें आगमिक तथा तान्त्रिक प्रवृत्तियों का भी अद्‌भुत सम्मिश्रण दिखायी देता है। इस प्रकार की साधना पद्धति से हमारी सांस्कृतिक साधना अपने प्रकाशमय रूप में अनुपम है।

निर्गुण साहित्य में देवमण्डल की कल्पना और उसका बोध केवल यौगिक साधना द्वारा ही अनुभूतिगम्य है। सन्तों ने बाह्याचारों से बचकर और मूर्ति आदि की कृत्रिम सीमाओं से ऊपर उठकर केवल ध्यान योग्य प्राप्य देवमण्डल की संस्तृति की है, जिसमें बुद्ध निर्विकल्प बुद्धि योग का ही प्राधान्य है, बाह्याडम्बर का प्राधान्य नहीं। सन्त काव्य ने बाह्याचारों को निरस्त किया और समाज के सामने एक आडम्बरहीन उपास्य मार्ग को प्रस्तुत किया जिसमें सन्त तुलसीदास जैसे सगुणोपासक भी प्रभावित हुए और उन्होंने कहा—

तुलसी प्रतिमा पूजिवौ, जिमि गुड़यन कर खेल,
भेंट भई जब पीव से, धरी पिटारी मेल।।

हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य में वैदिक परम्परा की पद्धति स्मार्त्त पूजा, स्तोत्रपाठ तथा यज्ञ रूप से प्राप्त होती है। वैदिक-काल से प्रचलित यज्ञ परम्परा अग्नि-स्थापन और सूक्त-पाठ तथा स्वर-पाठ, पद-पाठ की परम्परा हिन्दी निर्गुण काव्य तक पहुँचते-पहुँचते अन्तर्हित हो गयी थी। निर्गुण भक्ति-काव्य जटिल वैदिक विधान का विरोध कर ज्ञान को प्रधानता देता था।

हाँ स्मार्त्त परम्परा के कारण व्रत, उपवास तथा मास महात्म्य के रूप में स्नान-दानादि क्रियाओं के प्रति लोक रुचि बनी हुई थी और तत्सम्बन्धी साहित्य भी लिखा जा रहा था। इसीलिए कुछ कवियों ने एकादशी महात्म्य सम्बन्धी रचनाएँ लिखीं। रसिकदास, कृष्णदास; प्रवीनराय तथा मननदास ने भी एकादशी महात्म्य लिखे। इनके हस्तलेख 1850, 1881 तथा 1885 वि० के हैं। रंगनाथ-कृत व्रतमुष्टि तथा महेशदत्त त्रिपाठी कृत व्रतार्क भाषा इसी परम्परा के अन्य ग्रन्थ

हैं। भगवानदास निरंजनी का कार्त्तिक महात्म्य 1742 वि० में तथा रामदास का तीर्थ महात्म्य (1836) में लिखा गया। पौराणिक अर्थ में प्रयुक्त व्रत का रूप वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' जैसे प्रयोग इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। स्तोत्रों की परम्परा सूक्तों की भावभूमि पर आधृत है। यज्ञ पद्धति वैदिक प्रभाव के रूप में स्वीकृत है। अश्वमेध, रामाश्वमेध तथा जैमिनी अश्वमेध की परम्परा का हिन्दी साहित्य इसी आशय से लिखा गया। सगुण काव्य में वर्णाश्रम तथा 16 संस्कारों का विस्तृत उल्लेख वैदिक प्रभाव को स्थापित करता है। इसके अतिरिक्त वैदिक दर्शन को लेकर भी हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य गीता, उपनिषद्, योगवाशिष्ठ और प्रबोध चन्द्रोदय की परम्परा में विकसित हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि वेदान्तसम्मत है। हरिदास तथा राधाबल्लभ सम्प्रदाय की दार्शनिक निष्पत्तियों अन्य शोध-प्रबन्धों में प्रस्तुत की जा चुकी हैं, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण उनका सम्बन्ध वैदिक साहित्य में नहीं जोड़ा जा सकता।

वैदिक साहित्य की प्रतीक, समासोक्ति तथा गूढ़ार्थमूलक शैली का पर्याप्त प्रभाद हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। निर्गुण साहित्य की गोपन, प्रश्नमूलक तथा संकेतार्थ व्यंजक शैलियाँ वैदिक साहित्य के प्रभावान्तर्गत मानी जायेंगी। तात्पर्य यह है कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का विपुल भाग श्रौत संस्कारों को लेकर रचा गया है। वैदिक साहित्य के प्रति ऐसी प्रगाढ़ भावना परवर्ती साहित्य में नहीं है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : उद्भव और विकास

शोधकर्ता—भोलाराम शर्मा
निर्देशक—डॉ० जगदीश वाजपेयी
वर्ष—1975

एक पश्चिमी विचारक के मतानुसार ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती है त्यों-त्यों कविता या पद्य की अवनति होती जाती है। तर्क तथा विज्ञान को प्रधानता देनेवाले आधुनिक युग में गद्य की महत्ता एक असंदिग्ध सत्य है। गद्य साहित्य हमारे वर्तमान जीवन की भाँति परम वैविध्यपूर्ण है। उसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हैं जैसे निबन्ध, आलोचना, कहानी, उपन्यास, गद्य-काव्य, संस्मरण, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, पत्र, डायरी इत्यादि। इन विविध विधाओं में से व्यापकता और लोकप्रियता की दृष्टि से उपन्यास का स्थान सर्वोपरि है। उपन्यास के बहुविध आयामों में से एक विशिष्ट आयाम 'आंचलिक उपन्यास' है।

आंचलिक उपन्यासों का इतिहास लगभग तीन दशक पुराना ही है। यद्यपि कुछ विद्वानों के मतानुसार इस विधा के परोक्ष लक्षण द्विवेदीयुगीन उपन्यासों तक में मिल जाते हैं किन्तु समयावधि का यह संकोच आंचलिक उपन्यासों की लोकप्रियता में बाधक नहीं रहा है। वे प्रचुर मात्रा में लिखे गये हैं और विपुल मात्रा में पाठकों द्वारा पढ़े तथा सराहे गये हैं। आज कथा साहित्य की यह विशिष्ट विधा इतनी समृद्ध स्थिति में है कि उस पर अनुसन्धानपरक दृष्टि से विचार किया जा सके। प्रस्तुत अनुसन्धान इस दिशा में किये गये प्रयत्नों की महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

शोध प्रबन्ध को नौ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय पूर्व-पीठिका है जिसके अन्तर्गत साहित्य के भेद, साहित्यिक विधाओं में उपन्यास तथा उपन्यासों के तत्त्वों का विवेचन है। साहित्यिक विधाओं के प्रमुख तीन रूप पाये जाते हैं—पद्य साहित्य, गद्य साहित्य तथा चम्पू। पद्य साहित्य को सामान्यतः प्रबन्ध एवं मुक्तक इन दो वर्गों में बाँटा गया है और आगे चलकर इनके भी क्रमशः तीन-तीन भेद होते हैं। प्रबन्ध के—खण्ड काव्य, एकार्थ काव्य और महाकाव्य तथा

मुक्तक के—सामान्य मुक्तक, गेय मुक्तक तथा प्रगीति मुक्तक।

प्रारम्भ में पद्य साहित्य का ही प्राधान्य था और गद्य का कोई व्यवस्थित रूप नहीं था। लेकिन आधुनिक युग में आकर गद्य साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। गद्य के भी तीन भेद हैं—प्रबन्ध, निबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध गद्य को भी विभिन्न भेदों में विभक्त किया गया है जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान उपन्यास का है। इसमें सभी साहित्यिक विधाओं की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं तथा सभी विधाओं को अपने में समाहित करने की क्षमता होती है।

उपन्यास पाठकों के हृदय में काव्य की भाँति संवेदना, भावुकता तथा प्रकृति के भिन्न रूपों के सौंदर्य को जाग्रत करता है। उपन्यास में निबंध के समान चिंतन की भावना भी होती है। नाटक के समान संवाद योजना भी पायी जाती है, रंग-मंच के समान देश-काल का विधान पाया जाता है।

उपन्यास, साहित्य की अन्य विधाओं के समान सीमाबद्ध न होकर स्वतंत्र क्षेत्र का द्योतक है और केवल मनोरंजन का साधन ही न होकर जीवन की समग्रता एवं वैविध्य का प्रतीक है। पिछले तीन दशकों से उपन्यास क्षेत्र में आंचलिक उपन्यास नाम की एक विशिष्ट विधा ने पाठकों के मन पर अपना व्यापक प्रभाव छोड़ा है। उपन्यास की इस नयी विधा के अंतर्गत अंचल विशेष के रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, गाली-गलौज, लोकगीत, मुहावरों, लोकोक्तियों एवं भाषा-शैली तथा सांस्कृतिक चित्रण पाया जाता है। उपन्यासों के छः तत्त्व होते हैं—कथा-वस्तु, पात्र या चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, वातावरण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य। आंचलिक उपन्यासों में भी अन्य उपन्यासों के समान ही उपरिलिखित तत्त्व पाये जाते हैं परन्तु इन तत्त्वों का विश्लेषण आंचलिक उपन्यासों में अंचल के आधार पर ही किया जाता है। समस्त तत्त्वों में भाषा-शैली एवं देशकाल, वातावरण तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

द्वितीय अध्याय में आंचलिक उपन्यास का स्वरूपगत विवेचन है। इसमें सर्व-प्रथम देशी-विदेशी विद्वानों की उपन्यास की परिभाषाएँ दी गयी हैं, तत्पश्चात् उपन्यासों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। चूंकि प्रस्तुत उपन्यास का विषय आंचलिक उपन्यास से सम्बन्धित है अतः अंचल और आंचलिक उपन्यास को भी पारिभाषित किया गया है। वस्तुतः आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें किसी जनपद, अंचल (क्षेत्र) के जन-जीवन का समग्र चित्रण होता है।

आंचलिक उपन्यास की वर्ण्य वस्तु विशुद्ध रूप से ग्रामीण हो यह अनिवार्य नहीं है। किसी छोटे शहर की विशेषता को उभारनेवाला साहित्य भी आंचलिकता की सीमा में आ जाता है। हिंदी में कितने ही उपन्यास इस प्रकार के लिखे गये हैं जिनमें छोटे शहरों की सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का चित्रण हुआ है और उनमें आंचलिकता के अन्य सब तत्त्व भी पाये जाते हैं।

तृतीय अध्याय उपन्यासों के वर्गीकरण से सम्बन्धित है। आंचलिक उपन्यास दो प्रकार के होते हैं—1. आंचलिक उपन्यास 2. आंचलिक प्रधान उपन्यास। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष की समसामयिक परिस्थितियों का समग्र एवं यथार्थ चित्रण पाया जाता है। अंचल का कोई भी वर्ग आंचलिक उपन्यासकार की पैनी दृष्टि से नहीं बच पाता है, क्योंकि उपन्यासकार का ध्यान अंचल की सूक्ष्माति-सूक्ष्म बातों पर केंद्रित रहता है। आंचलिकता प्रधान उपन्यासों में भी तत्त्व तो सभी पाये जाते हैं लेकिन सभी तत्त्वों का दृष्टिकोण अंचल ही नहीं होता है। इन उपन्यासों में आंचलिक उपन्यासों के मूलतत्त्वों में से किसी एक तत्त्व का अभाव पाया जाता है क्योंकि आंचलिक प्रवृत्ति का मूल्यांकन उपन्यासों के छः तत्त्वों के साथ-साथ आंचलिकता के मूल तत्त्वों पर ही आधारित होता है। जिन उपन्यासों में किसी भी एक मूल तत्त्व का अभाव दृष्टिगत होता है वे आंचलिक उपन्यास न होकर आंचलिकता प्रधान उपन्यासों की कोटि में परिगणित किये जाते हैं।

आंचलिक उपन्यास के वर्गीकरण का केंद्र बिंदु अंचल ही होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर इस अध्याय में उपन्यास के छः तत्त्वों—कथावस्तु, पात्र एवं चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, वातावरण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य—के आधार पर हिंदी के महत्त्वपूर्ण आंचलिक उपन्यासों का वर्गीकरण किया गया है। उपन्यासों के वर्गीकरण के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। बहुत से ऐसे उपन्यास हैं जिनका कोटि निर्धारण अब तक नहीं हो सकता है। इन्हें किसी ने अनांचलिक उपन्यास माना है तो किसी ने अर्द्ध आंचलिक या आंचलिकता प्रधान। अनुसंधाता ने यहाँ ऐसे उपन्यासों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है—'हिंदी के उपन्यासों में आंचलिकता और उसके मूलतत्त्व'। हिंदी उपन्यास की विकास यात्रा को प्रायः तीन युगों में बाँटा जाता है—प्रेमचंद पूर्व युग, प्रेमचंद युग और प्रेमचंदोत्तर युग। प्रेमचंद पूर्व युग में आंचलिकता का प्रारम्भिक रूप दृष्टिगोचर होता है। आंचलिक उपन्यास का वास्तविक विकास प्रेमचंदोत्तर युग में हुआ। सन् 1954 में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' प्रकाशित हुआ जिसे उन्होंने आंचलिक उपन्यास कहा। इसके बाद तो आंचलिक उपन्यासों की बाढ़-सी आ गयी।

आंचलिक उपन्यास के तत्त्व निम्नलिखित हैं—भौगोलिक स्थिति का अंकन, कथा का आंचलिक आधार, अंचल विशेष की लोक संस्कृति का विस्तारपूर्वक वर्णन, विभिन्न परिस्थितियों का सर्वांगीण चित्रण या देशकाल वातावरण, अंचल विशेष की जन-जागृति का समग्र चित्रण तथा अंचल विशेष की बोली का समुचित एवं प्राकृतिक प्रयोग। आंचलिक उपन्यास के उपर्युक्त मूल तत्त्वों में वैसे तो सभी तत्त्व प्रमुख एवं अनिवार्य हैं परंतु इनमें सबसे प्रमुख तत्त्व लोकसंस्कृति तथा देशकाल वातावरण है।

पंचम अध्याय आंचलिक उपन्यासों की भाषा-शैली से संबंधित है। आंचलिक उपन्यासों के अन्य तत्त्वों की अपेक्षा आंचलिक उपन्यासों में भाषा-शैली तत्व अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी तत्त्व के माध्यम से आंचलिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आंचलिक उपन्यासों तथा सामान्य उपन्यासों की भाषा-शैली में व्यापक तथा मौलिक अंतर दृष्टिगोचर होता है तथा यही तत्त्व आंचलिक उपन्यासों को अन्य उपन्यासों से अलग करता है। आंचलिक उपन्यासों में अंचल की भाषा के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग पाया जाता है। आंचलिक उपन्यासकार यह अनुभव करता है कि जब तक भाषा में स्थानीय रंग नहीं आयेगा तब तक उपन्यास में आंचलिकता नहीं आ सकती। आंचलिक उपन्यासों में भाषा का हल्का-गहरा रूप तथा हल्की-गहरी भावोक्तियों का वर्णन ही प्रमुख रूप से होता है। यही दोनों रूप भाषा के आंचलिक रूप को उभारने में समर्थ होते हैं।

यहां विभिन्न उपन्यासों की भाषा-शैली के परिवेश में उनकी आंचलिकता पर विचार किया गया है।

षष्ठ अध्याय का शीर्षक है— 'आंचलिक उपन्यासों में प्रगतिशीलता और उसके तत्त्व'। युगीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण तथा किसी भी प्रकार के शोषण के विरोध में आवाज उठाना ही प्रगतिशीलता का लक्ष्य है। आंचलिक उपन्यासों में यही प्रगतिशीलता की भावना ही प्रमुखता से पायी जाती है। इन उपन्यासों में अंचल के यथार्थ चित्रण के साथ ही आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक शोषण के विरुद्ध उठती फड़कती-भड़कती तथा तड़पती भावनाओं का चित्रण भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार प्रगतिशील लेखकों के जन-सामान्य की ओर झुकाव ने ही आंचलिक उपन्यासों को जन्म दिया। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि आंचलिक उपन्यासों का प्रमुख तत्त्व (गुण) प्रगतिशीलता ही है, प्रगतिशीलता विहीन उपन्यास इस कोटि में नहीं रखा जा सकता। प्रगतिशीलता के सभी तत्त्व आंचलिक उपन्यासों में पाये जाते हैं।

सप्तम अध्याय आंचलिक उपन्यासों के गुण-दोष विवेचन से संबंधित है। साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति आंचलिक उपन्यासों में भी कुछ विशिष्ट गुण एवं दोष पाये जाते हैं जिनका इस अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है। अंत में यह सिद्ध किया गया है कि आंचलिक उपन्यासों पर लगाये गये दोष वास्तव में दोष न होकर बल्कि उसके गुण हैं।

अष्टम अध्याय में हिंदी के प्रमुख आंचलिक उपन्यासों का परिचय दिया गया है। इसमें नागार्जुन के रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नयी पौध, बाबा बटेसरनाथ, दुखमोचन और वरुण के बेटे; फणीश्वरनाथ रेणु के मैला आंचल और परती परिकथा; उदयशंकर भट्ट के सागर लहरें और मनुष्य तथा लोक-परलोक; शैलेश मटियानी के हौलदार तथा चिट्ठी-रसैन; राजेन्द्र अवस्थी के सूरज किरण की छाँह

तथा जंगल के फूल; डा० रांगेय राघव के कब तक पुकारूँ तथा काका बलभद्र ठाकुर के आदित्यनाथ, तथा मुक्तावती; देवेन्द्र सत्यार्थी के ब्रह्मपुत्र, रामदरश मिश्र के पानी के प्राचीर, हिमांशु श्रीवास्तव के नदी फिर बह चली, डॉ० श्याम परमार के मोर-झाल, भैरव प्रसाद गुप्त के गंगा मैया तथा बलभद्र ठाकुर के नेपाल की वो बेटी तथा 'देवताओं के देश' में को अध्ययन का आधार बनाया गया है।

उपर्युक्त सभी उपन्यासों में किसी-न-किसी अंचल विशेष का समग्र एवं यथार्थ चित्रण भाषा-शैली, वातावरण एवं उद्देश्य आदि के माध्यम से चित्रित किया गया है। इन सभी में आंचलिकता के मूल तत्त्वों का समावेश यथोचित पाया जाता है। अंचल की युगीन समस्याओं के वर्णनादि के कारण ही ये सभी उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की कोटि में रक्खे गये हैं।

नवम अध्याय आंचलिक उपन्यासों के सामर्थ्य और उसके भविष्य से संबंधित है।

हिन्दी व्याकरण का उद्भव और विकास

शोधकर्ता—केहरसिंह चौहान
निर्देशक—डॉ० शिवप्रसाद शुक्ल
वर्ष—1975

हिंदी भाषा के व्याकरणिक अध्ययन का आरम्भ कई शताब्दियों के अंतराल में विस्तीर्ण है। अनेक व्याकरण ग्रंथों की रचना विभिन्न उद्देश्य को लेकर देश के भीतर तथा देश के बाहर यूरोप और अमेरिका महाद्वीप में भी की जाती रही है। व्याकरण ग्रंथ बनानेवाले विद्वानों के भी कई प्रकार के वर्ग रहे हैं। दुर्भाग्य से हिंदी-व्याकरण पर किये गये अध्ययन की ज्ञानराशि का संकलन अभी तक उपेक्षितप्राय रहा है।

हिंदी-व्याकरण में रुचि रखनेवाले अनेक देशी और विदेशी विद्वान अपने ग्रंथों के प्रणयन में पूर्वनिर्मित जिन ग्रंथों का सहारा लेते रहे हैं, उसका जिनको आधार और आदर्श मानकर अपने व्याकरण ग्रंथों की रचना की है, उनका आदर एवं प्रशंसापूर्ण उल्लेख भी करते रहे हैं। 19वीं शती के तीसरे चरण के अन्त तक तो भूमिका भाग में अपने व्याकरण की तुलनात्मक श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए पूर्व ग्रंथों का उल्लेख कर दिया जाता था। 19वीं शती के अंत में केलाग ने अपने ग्रंथ की रचना के प्रारम्भ में ही पूर्व मुख्य ग्रंथों की नामावली और ग्रंथ के बीच में किसी विषय पर यथास्थान चर्चा की है। आरम्भ में उन्होंने लगभग एक दर्जन हिंदी व्याकरण ग्रंथों का और लगभग इतनी ही संख्या में हिंदी से इतर भाषाओं के व्याकरण ग्रंथों का उल्लेख किया है।

केलाग के उपरांत केलाग की ही कोटि में केशवराम भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी पुस्तक रचना से पूर्व लगभग 50 वर्षों के भीतर बने हुए सभी अच्छे व्याकरण ग्रंथों का उल्लेख किया था और रचनाकारों को अपना हार्दिक धन्यवाद भी दिया था। इसके पश्चात् बाबू गंगाप्रसादजी ने भी ऐसा ही प्रयास किया था। इसी समय के आसपास जार्ज ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य भाषाओं के सर्वेक्षण

का कार्य आरम्भ किया था। इसमें लिखे गये आरम्भिक छुट-पुट प्रयासों और ग्रंथों के साथ-साथ व्याकरण की कुछ पुस्तकों का उल्लेख उपलब्ध है 1919 ई० में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने भी लगभग 12-13 ग्रंथों के नाम तथा प्रकाशन वर्षों का उल्लेख कर कुछ समीक्षात्मक टिप्पणियाँ दी हैं। यथा—इन व्याकरणों में योग्यता और विषय की दृष्टि से पादरी केलाग के हिंदी ग्रामर का नम्बर पहला और पं० केशवराम के हिंदी-व्याकरण का दूसरा है।

1921 में कामता प्रसाद गुरु द्वारा प्रकाशित हिंदी-व्याकरण नामक ग्रंथ की भूमिका में लगभग हिंदी-व्याकरण ग्रंथों तथा वैयाकरणों की चर्चा की गयी है। उन्होंने पाठकों में अनुसंधान की जिज्ञासा जागृत करते हुए कुछ मार्मिक एवं प्रेरणापूर्ण वाक्यों का भी उल्लेख किया है। हिंदी-व्याकरण का प्रारम्भिक इतिहास अंधकार में पड़ा हुआ है ...जो हो, हिंदी के आदि व्याकरण का पता लगाना स्वतंत्र खोज का विषय है।

गुरु के पश्चात् कुछ वैयाकरण अपने पूर्ववर्ती कुछ व्याकरण-ग्रंथों की सूचियाँ देते रहे हैं किंतु उनमें से किसी में कुछ भी समीक्षात्मक या वर्णनात्मक ढंग का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। 1943 में पं० रामदेव त्रिवेदी ने अपने ग्रंथ—व्याकरण का इतिहास—ग्रंथ में संस्कृत व्याकरण के साथ हिंदी-व्याकरण की भी कुछ चर्चा की थी। 1958 में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी प्रणीत – हिंदी-शब्दानुशासन—के प्रथम संस्करण में श्रीकृष्णलाल के प्रकाशकीय वक्तव्य में एक छोटा-सा निबंध हिंदी-व्याकरण लेखन के इतिहास की लघुभूमिका जैसा सिद्ध हुआ। श्री कृष्णलाल के इस लेख के उपरांत इस ओर विद्वानों का ध्यान विशेषत: आकृष्ट हुआ। उक्त प्रयासों के अतिरिक्त—डा० राजाराम रस्तोगी का 1964 में प्रकाशित लेख—हिंदी-व्याकरण का इतिहास, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ में डा० महेन्द्र का लेख—हिंदी भाषा-अध्ययन की परम्परा, भाषा-विज्ञान की भूमिका में (डा० भोलानाथ तिवारी) एतद्विषयक लेख, डा० जाधव के ग्रन्थ 'ईसाईयों, मिशनरियों द्वारा हिंदी सेवा' में 35 व्याकरण ग्रंथों का विस्तृत वर्णन-मूलक उल्लेख मिलता है। कृष्णाचार्य के ग्रंथ—हिंदी के आदि मुद्रित ग्रन्थ में भी अनेक व्याकरणों का अल्लेख है। डा० शिवप्रसाद शुक्ल के ग्रंथ—हिंदी का निखार एवं परिष्कार तथा भारतेन्दु ग्रंथावली में ग्रंथों की सूची छपी थी जो मात्र विवरण मूलक सूची थी। भाषा पत्रिका में प्रकाशित कुछ लेखों तथा भाषाविदों के संबंध में परिचयात्मक लेखों में भी कुछ प्रकीर्ण उल्लेख प्राप्त होते रहे हैं। 1972 में डा० अनन्त चौधरी का—हिंदी व्याकरण का इतिहास—आया। इसके पश्चात् लेखक का—हिंदी-व्याकरण उद्‌भव और विकास—नामक शोध प्रबंध प्रस्तुत करने का दावा है। उक्त प्रबंध में लेखक ने शोध प्रबंध को दो खण्डों में बाँटा है। प्रथम भाग में चार अध्याय हैं तथा द्वितीय में सात। इसके पश्चात् उपसंहार और अनुक्रम-

णिका दी गयी है।

शोध-प्रबंध का प्रथम भाग आधार-पीठिका है। इसमें प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश, वाग्विभूति, द्वितीय अध्याय—व्याकरण दर्शन, तीसरा अध्याय, 'निज भाषा उन्नति अहै' हिंदी का उद्भव और विकास, चौथा अध्याय, पूर्व स्रोतस्विनी व्याकरण परम्पराएं—का है। द्वितीय भाग—हिंदी-व्याकरण विज्ञान का है। इसमें सात अध्याय हैं। पहला अध्याय—उद्भव काल—संक्रमण युग, प्रथमोन्मेष—सन्—1000-1500 ई० (प्राङ्कुरण), दूसरा अध्याय—द्वितीयोन्मेष सन् 1500-1680 ई० तक, तीसरा अध्याय—आकृति ग्रहण तृतीयोन्मेष सन् 1680 से 1785 ई० तक—समुदय, चौथा अध्याय—उन्नयन, प्रसार एवं विस्तार—हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी का संघर्ष, चतुर्थोन्मेष—सन् 1785 से 1845 ई० तक, पाँचवाँ अध्याय—विकास काल—हिंदी प्रचार युग—प्रथम चरण, असंयत भाषा-प्रयोग, हिंदी, उर्दू प्रकरण सन् 1845 से 1895 ई० तक व्यापकता ग्रहण तथा प्रसार, छठा अध्याय—विकास काल—भाषा संस्कार तथा समन्वय का युग सन् 1895 से 1933 ई० तथा सातवाँ अध्याय—विकास काल—तृतीय चरण सन् 1933 से 1974 ई० तक का है जिसमें मौलिक विवेचन, नवशोध तथा परिशोध का युग दिया गया है। और अन्त में उपसंहार एवं परिवेश दिया गया है।

'हिंदी व्याकरण परम्परा के उद्भव और विकास' में पूर्व स्रोतों के रूप में योगदान करनेवाली तीनं प्रकार की परम्पराएँ न्यूनाधिक रूप में प्रभाव डालनेवाली सिद्ध हुई हैं—(अ)—संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, (ब)—ग्रीक, लैटिन, अंग्रेजी तथा (स) अरबी, फारसी। संस्कृत व्याकरण की परम्परा में—वैदिक पद पाठों की रचना के संबंध में—मंत्र पाठ, पद पाठ, क्रम पाठ, जटा पाठ, घन पाठ—5 प्रकार के पाठों का उल्लेख है। पद पाठ भाषा के विश्लेषण का प्रथम प्रयास था। और यहीं से व्याकरण निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। शिक्षा और प्रातिशाख्य में वैदिक मंत्रों की उच्चारण संबंधी व्याख्या दी गयी। आगे चलकर निघंटु और निरुक्ति वैदिककोष के रूप में आये। इसमें शब्दार्थ न होकर केवल शब्द-संग्रह इस प्रकार पर्याय क्रम में रखा गया है कि उनके अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं।

इसके बाद भारतीय साहित्य के इतिहास में एक ऐसे व्याकरण-शास्त्री का उदय होता है जिसके सम्मुख विश्व का समस्त शास्त्रीय अध्येता अपना मस्तक झुका देता है। भारतीय मनीषा में इसे ज्वलंत अवशिष्ट पाणिनि कहा जाता है। पाणिनि की अमर रचना 'अष्टाध्यायी' का उल्लेख विद्वानों द्वारा अष्टक, अष्टिका, शब्दानुशासन, वृत्तिसूत्र, पाणिनीयतंत्र, अकालक व्याकरण आदि नामों से किया जाता रहा है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें आठ अध्याय हैं जो सूत्र शैली में निबद्ध हैं। आगे चलकर तो अष्टाध्यायी पर विविध प्रकार की समीक्षा लिखकर अनेक
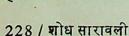
लेखक अमर हो गये। इस प्रकार से पाणिनीय सम्प्रदाय ही चालू हो गया। पाणिनीय पर आधारित वार्तिका, भाष्य और टीकाएँ लिखी जाने लगीं। व्याकरणिक व्याख्या के लिए मुनित्रय के नाम से—पाणिनि, कात्यायन और पंतजलि— के ग्रंथों की विशेष धूम रही। इसके बाद कई टीकाकार, कौमुदीकार तथा प्रक्रियाकारों ने अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

संस्कृत के बाद पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरणों की परम्परा चली। पालि-व्याकरण के रचनाकारों में—कच्चायन मोग्गलान, अग्ववंस या अग्निवंश, मिश्र जगदीश कश्यप, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्य व्याकरणिकों में—बूलर-वापा, विधुशेखर तथा शहीदुल्ला की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृत व्याकरणिकों के अंतर्गत—पिशेल को प्राकृत व्याकरण के पाणिनि के नाम से जाना जाता है। इनके अतिरिक्त—वररुचि, चण्ड, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, त्रिविक्रमदेव, सिंहराज, लक्ष्मीधर, अप्पय दीक्षित, कविन्द्र मार्कण्डेय, रामतर्कवागीश, शेषकृष्ण, भामह जगन्नाथ, दण्डी, अभिनव गुप्त, धनपाल, नेमचन्द्र सरकार, पीटर्सन, धम्मपाल आदि प्रमुख प्राकृत व्याकरणकार प्रमुख हैं। प्राकृत-व्याकरण की दो धाराएँ मिलती हैं—1. पूर्वी जिसमें—वररुचि, लंकेश्वर, क्रमदीश्वर, वसंतराज, पुरुषोत्तम राम शर्मा तथा मार्कण्डेय आदि प्रमुख हैं। तथा 2. पश्चिमी धारा के अन्तर्गत—हेमचन्द, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज तथा अप्पय दीक्षित आदि हैं। अपभ्रंश संस्कृत से सर्वथा मुक्त एक दूसरी भाषा है। उसका अपना व्याकरण है जिसका संस्कृत से कोई सरोकार नहीं है। इस पर भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों विद्वानों ने अपनी-अपनी रचनाएँ लिखी हैं।

हिंदी व्याकरण पर लिखी गयी पुस्तकों के समय, आधार तथा शैली आदि को दृष्टि में रखकर उनका अनेकविध वर्गीकरण किया गया है। लेखक ने हिंदी व्याकरण के अध्ययन को निम्न प्रकार से विभाजन किया है—

1. सन् 1000 ई० से 1500 ई० तक—उद्भव काल—प्रथम चरण, संक्रांति अथवा संक्रमण अथवा संधिकाल।

2. सन् 1500 से 1680 ई० तक—द्वितीयोन्मेष—संक्रांति अथवा संक्रमण अथवा संधिकाल।

3. सन् 1680 से 1785 ई० तक—तृतीयोन्मेष—आकृतिग्रहण, समुदय युग।

4. 1785 से 1845 ई० तक—चतुर्थोन्मेष—उन्नयन, प्रसार एवं विस्तार युग।

5. 1845 से 1895 ई० तक—विकास काल—प्रथम चरण—प्रचार काल, असंयत भाषा प्रयोग युग।

6. 1895 से 1935 ई० तक—द्वितीय चरण—विचार काल—भाषा

संस्कार और समन्वय युग।

7. 1935 से 1974 ई० तक—तृतीय चरण—निखार एवं निकष काल—मौलिक विवेचन, शोध तथा परिशोधन युग।

हिंदी भाषा के व्याकरण की जिन समस्याओं को अभी तक अनसुलझा बताया जाता है, लेखक के अनुसार वे इस प्रकार हैं—1. वर्तनी, 2. शब्दावली का चयन तथा निर्माण 3. लिंग आदि। किंतु इस पर मौलिक ढंग का पर्याप्त कार्य किया जा चुका है। संस्कृत व्याकरण जैसी जटिलता हिंदी में नहीं है। केवल दो लिंग, दो वचन और दो कारकीय रूप (साधारण और तिर्यक) रह गये हैं। भाषा समास-युक्त न रहकर व्यास प्रधान हो गयी। तत्सम धातुएँ थोड़ी रह गयी हैं। काल रूपावली कम रहने से कृदन्त रूपों और सहायक क्रियाओं से काम लिया गया है। संयुक्त क्रियाओं का ही विकास हुआ। विभक्तियों के अभाव में पद-क्रम भी नियत हुआ। पहले कर्त्ता, कर्म और अन्त में क्रिया, विशेष्य से पहले विशेष और क्रिया से पूर्व क्रिया-विशेषण रखा जाने लगा है।

हिंदी व्याकरण विकास के शेष चरण पूरे होने अभी शेष हैं। क्यों?

1. विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा के पाठ्यक्रमों में चन्दबरदाई, सूर, तुलसी और प्रसाद आदि का साहित्य समाविष्ट है। अतः राजस्थानी, व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली हिंदी के पदों और प्रत्ययों का तुलनात्मक अभिज्ञान भी व्याकरण ग्रंथों का विषय होना चाहिए। यह कार्य अभी तक नहीं हो पाया है। परिणामतः विद्यार्थियों के लिए पठित सामग्री का रसास्वादन भी अधूरा रह जाता है तथा एम० ए० और डाक्टरेट कर लेने पर भी उक्त भाषाओं का तुलनात्मक साधारण ज्ञान तक भी नहीं हो पाता।

2. गुरुजी ने लिखा था "वह सौभाग्य का दिन होगा जब हिंदी का व्याकरण सूत्रात्मक शैली पर निबद्ध होगा" यह कार्य होना शेष है।

3. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी लिखा था—'हिंदी अपने पाणिनि की प्रतीक्षा कर रही है।' अभी इस अभाव की पूर्ति पूर्णतः नहीं हो पायी है।

4. अभी तक हिंदी व्याकरण ग्रंथों की नामिकी और पारिभाषिकी संतोषजनक नहीं है। शब्द भेदों की संख्या पर भी मतैक्य नहीं है।

5. उर्दू, हिंदी भाषा की एक विशिष्ट शैली है। किंतु व्याकरण ग्रंथों में उसके संबंध में उस प्रकार की आवश्यक परिचर्चा का अभाव है।

6. हिंदी व्याकरण में संधि तथा समास आदि के प्रकरण अभी हिंदी की स्वतंत्र पद्धति पर विवेचित नहीं हैं। संस्कृत परम्परा ही उन पर हावी है।

7. जिस प्रकार संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में पाणिनि और नेस्फील्ड के व्याकरण ग्रंथ मानक ग्रंथों के रूप में स्वीकार्य हैं, हिंदी में अभी वैसा नहीं हो पाया है।

8. खड़ी बोली हिंदी को विश्व भाषा के रूप में अभिषिक्त करने के लिए अन्य विश्व भाषाओं के साथ तुलनात्मक व्याकरणिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। आदि।

शोधप्रबंध में हिन्दी व्याकरणशास्त्र के उद्भव और विकास को जिन चरणों में बाँटा गया है, उनकी एक झाँकी यहाँ प्रस्तुत है—

The grammar is philosophical when it expleins the fact of grammar of different languages; comparative when it considers the grammar of different languages; historical when it examines the origin and the growth of whole speech; and practical when it arranges and systematizes the special piculiarities of the languages of any particular country—Anon.

काल विभाजन (सन् ई०)	विकासोन्मुखी प्रवृत्ति	उपयोगिता तथा उद्देश्य	मौलिक अथवा अनुकरण	आदर्श एवं -परम्परा	प्रतिष्ठित मानक भाषा	विषय तथा श्रेणी व्यापकता	प्रमुख वैयाकरण	ऐतिहासिक व्यक्तित्व एवं प्रेरक	राष्ट्रीयता	मुख्य ग्रंथ	संबंधित रचनाएँ
1. 1000-1500	उद्भव—प्रथमोन्मेष संक्रमण	छात्रोपयोगी	अनुकरण	संस्कृत	राज० हि०, अवधी	अंगभूत, व्यावहारिक	संग्रामसिह, दामोदर	विदेशी भाषा से सम्पर्क और मुस्लिम सत्ता का आरम्भ	देशज	4	12
2. 1500-1680	उद्भव—द्वितीयोन्मेष प्रांकुरण	"	"	संस्कृत एवं पाश्चात्य परम्परा	व्रजभाषा	" "	मिर्जा खाँ	मुगल सम्राट् अकबर से औरंगजेब तक	"	4	12
3. 1680-1785	उद्भव—तृतीयोन्मेष समुदय	प्रशासकीय और व्यापारिक	मौलिक	पाश्चात्य	हिन्दुस्तानी	सम्पूर्ण, "	कैटेलेअर और फर्गुसन	ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारीगण	विदेशज	7	10
4. 1785-1845	उद्भव—चतुर्थोन्मेष आकृति ग्रहण	छात्रोपयोगी, धर्मप्रचार, प्रशासनिक	अनुकरण	पाश्चात्य-परशियन अरबियन	हिन्दुस्तानी, उर्दू, अंग्रेजी	" "	गिलक्राइस्ट, लल्लूजी लाल	राजाराम मोहन राय	विदेशज, देशज	16	30
5. 1845-1895	विकास—प्रथम चरण व्यापकता ग्रहण	छात्रोपयोगी, सैद्धान्तिक	मौलिक	संस्कृत, परशियन, पाश्चात्य	उर्दू, अंग्रेजी हिन्दी	" तुलनात्मक व्यावहारिक	केलाग, पं० लाल, अम्बिकादत्त व्यास	शिवप्रसाद, दयानन्द, भारतेन्दु	विदेशज, देशज	73	45
6. 1895-1935	विकास—द्वितीयचरण अनेकविध उन्नति समन्वय	सैद्धान्तिक छात्रोपयोगी	मौलिक	समन्वित, संस्कृत, एवं पाश्चात्य	हिन्दी, अंग्रेजी	" तुलनात्मक, व्यावहारिक	व्याकरणाचार्य पं० कामताप्रसाद गुरु	आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी	देशज	101	25
7. 1935-1974	विकास—तृतीय चरण संस्कार अथवा परिशोधन	सैद्धान्तिक, छात्रोपयोगी	मौलिक विवेचन	संस्कृत एवं पाश्चात्य	हिन्दी, अंग्रेजी	" ऐतिहासिक, तुलनात्मक, व्यावहारिक	व्याकरणाचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी	राजर्षि टंडन महात्मा गाँधी केन्द्रीय सरकार	देशज	157	सौ से भी ऊपर लेख आदि
8. 1974-											

'Just as languages differ as to what is assigned to surface grammar and what is handled at deeper levels, so, not expectedly, equally competent grammarians often disagree, in the analysis of a single language. The disagreements stem from differences of training and previous experience. They should be regarded not as conflicts demanding resolution but as enrichments in our understanding of the language in question, both sides can be right in a dispute, in that the apparantly conflicting opinions may reflect facts at different gramatical depths.'

—A Course in Modern Linguistics, p.252.

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में महानगरीय संवेदना

शोधकर्ता—इलारानी कौशिक
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'
वर्ष—1975

सामाजिक परिस्थितयों का परिवर्तन साहित्य की मूलभूत संवेदना एवं आन्तरिक संरचना को बड़े गहरे स्तर तक प्रभावित करता है। साहित्यिक मूल्य जीवन संबंधी मान्यताओं एवं आदर्शों के परिवर्तन के साथ सहगामी विचरण की प्रक्रिया के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस परिवर्तन का अध्ययन साहित्य की आन्तरिक स्थितियों के अध्ययन का एक सूक्ष्म आयाम प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अध्ययन की इसी दिशा में किया जानेवाला एक सफल प्रयास है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत का सामाजिक परिवेश बदला और उसी के अनुसार यहाँ के व्यक्ति का मानसिक परिवेश भी। औद्योगीकरण तथा वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के विकास एवं पाश्चात्य जीवन सम्पर्क के कारण यहाँ के महानगरीय जीवन में वैचारिक उथल-पुथल हुई और उसने महानगरों में रहनेवाले विविध सामाजिक स्तरों के व्यक्तियों के मानस को बुरी तरह आक्रान्त किया। महानगरीय संवेदना ने मात्र महानगरों तक ही सीमित न रहकर नगरों, उपनगरों एवं ग्राम-क्षेत्रों तक को निश्चित रूप से प्रभावित किया है। इस प्रभाव ने यहाँ के व्यक्ति को मानसिक स्तर पर पारस्परिक मूल्यों एवं नवीन दृष्टि की टकराहट के अनुभव के लिए विवश किया।

जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यह मानसिक द्वन्द्व बहुत ही स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आया है। इस द्वन्द्व ने आधुनिक उपन्यास-साहित्य के वस्तु एवं शिल्प-पक्ष पर एक गहरा परिवर्तन उपस्थित किया है। महानगरीय संवेदना की प्रकृति एवं उसकी अभिव्यक्ति का विश्लेषण ही वह एकमात्र दिशा है जो सम्पूर्ण रूप में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य के वदलते हुए अन्तर्बाह्य रूप एवं उसकी प्रकृतिमूलक विकास दिशा को

उद्घाटित कर सकता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास वह महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जिसकी अनेक अन्तर्धाराओं में समसामयिक यथार्थ, जातीय यथार्थ और नगर जीवन संस्कृति के अनेक गुणधर्मी प्रारूप संचरित होते हुए परिलक्षित होते हैं। मूलतः इन उपन्यासों की आन्तरिकता एवं संवेदनात्मक प्रक्रिया जिन विकल्पों का स्थापत्य प्रस्तुत करती है उसकी भूमिका आधुनिकता से सम्बद्ध है। आधुनिकता प्रक्रिया के रूप में उभरते हुए बोध का नाम है। डॉ० मदान इस आधुनिकता बोध को नगर-बोध एवं नगरीकरण की प्रक्रिया से जुड़ा मानते हैं। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, आधुनिकता अपने समय की उपयुक्त एवं गम्भीर पकड़ है। आज इस सत्य से कोई भयभीत नहीं कि अधिकतर उपन्यासकार नगरीय या महानगरीय जीवन की विभिन्न स्थितियों और संवेदनाओं को एक साथ बहुत से स्तरों पर अभिव्यक्ति देने का प्रयास कर रहे हैं। विज्ञान और यन्त्र गति से परिचालित परिस्थितियाँ, नगर समस्याएँ और उनसे जूझते व्यक्ति के दुहरे-तिहरे अस्तित्व की विभाजित यन्त्रणा से इसकी रचनाएँ प्रभावित हैं। उसका एक कारण यह भी है कि अनेक उपन्यासकार भारतीय नगरों के दबाव और नगर सभ्यता के आधुनिक सन्त्रास की नियति को जीने के लिए विवश हैं। वे रचनात्मकता के स्तर पर अपने निजी अनुभव और उसके अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या और विश्लेषण करते हुए अपनी रचनाओं को प्रामाणिकता की गरिमा से विशिष्ट बनाने की इच्छा रखते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रेमचन्द-पूर्व, प्रेमचन्दयुगीन, प्रेमचन्दोत्तर (1947) तक उन उपन्यासों का अध्ययन किया गया है जिनमें महानगरीय संवेदना, किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। इनमें श्रद्धाराम फिल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि की प्रतिनिधि रचनाएँ सम्मिलित हैं। स्वातन्त्र्योत्तर उन प्रतिनिधि उपन्यासों का अध्ययन विशेष रूप से हुआ है जो शोध विषय की परिधि में आते हैं। इसके अन्तर्गत यशपाल, अमृतलाल नागर, उयदशंकर भट्ट, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, अनन्तगोपाल शेवड़े आदि के उपन्यासों का अध्ययन किया गया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में महानगरीय संवेदना का सन्धान अपने आपमें नवीनतम विषय है। इन उपन्यासों में उठायी गयी महानगर से सम्बद्ध अनेक समस्याओं का इस सम्बन्ध में सविस्तार अध्ययन किया गया है।

शोध-प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संवेदना के सामान्य एवं मनोवैज्ञानिक अर्थ को समझाते हुए व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तर पर स्वीकृत संवेदनाओं के स्थूल वर्गीकरण के आधार पर अभिजात (उच्च) वर्ग, मध्यवर्ग (उच्च तथा निम्न मध्यवर्ग) एवं निम्नवर्ग में इस संवेदना के स्वरूपगत अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। तदन्तर महानगरीय संवेदना का ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया गया है। भारतीय परिवेश में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक,

सांस्कृतिक-धार्मिक एवं वैज्ञानिक स्तरों पर महानगरीय संवेदना के स्वरूप एवं प्रभाव का आकलन करते हुए ग्राम, उपनगर एवं महानगरों में उसकी त्रासदी का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में महानगरीय संवेदना के आविर्भाव के ऐतिहासिक अध्ययन हेतु स्वतन्त्रता-पूर्व के साहित्य में प्राप्त महानगरीय संवेदना के सामान्य अस्तित्वगत संकेतों का शोध द्वितीय अध्याय में किया गया है। इस अध्याय को तीन उपशीर्षकों में विभक्त कर दिया गया है—प्रेमचन्द-पूर्व युग, प्रेमचन्द युग और प्रेमचन्दोत्तर युग। वस्तुत: स्वाधीनता-पूर्व के उपन्यासों में महानगरीय बोध के बहुत कम दर्शन होते हैं। प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास तो आदर्शवाद और उपदेशवाद का हामी है। यहाँ तक कि पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी और लाला श्रीनिवासदास के उपन्यास भी इसी स्थिति में ग्रस्त हैं। प्रेमचन्दयुग में महानगरीय प्रक्रिया कुछ तीव्रता से आगे बढ़ती है। 'गोदान' में महानगर बोध गहराने लगता है। यहाँ नगर के बड़े उद्योग-पति, मिल-मजदूर, प्रोफेसर, शिक्षित नारी, वकील और सम्पादकों—सबका चेहरा सामने आने लगता है। नगरीय या महानगरीय द्वन्द्व इस उपन्यास में एक सीमा तक उभरा है। प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासकारों—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी आदि के उपन्यासों में व्यक्तिबोध गहराता दिखायी देता है। समाज इनमें गौण स्थान रखता है।

तृतीय अध्याय का विषय है—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में अर्थ-उद्भूत महानगरीय संवेदनाएँ। स्वाधीनता के बाद महानगरों, नगरों तथा ग्रामों में आर्थिक विषमता बढ़ती हुई। महँगाई के इस युग में धनी व्यक्तियों ने विलासिता का जीवन व्यतीत किया तथा निर्धन व्यक्ति का शोषण होता गया। बेकारी की समस्या ने ग्रामीण जनता को महानगरों में जीविका हेतु जाने के लिए विवश किया। निम्नवर्ग का शोषण जारी रहा। महँगाई, बेकारी की समस्या, आर्थिक शोषण आदि अनेक समस्याओं ने महानगरों तथा ग्रामों की आर्थिक चेतना को प्रभावित किया। वस्तुत: आर्थिक धरातल पर ही मनुष्य की वैचारिक इमारत का निर्माण होता है। आर्थिक सम्बन्धों पर व्यक्ति-सम्बन्ध निर्भर होते हैं। अर्थ इस युग का सत्य है। उसकी छाया समाज के प्रत्येक वर्ग के ऊपर रहती है। उच्च, मध्य और निम्नवर्गों का विभाजन भी वस्तुतः अर्थाश्रित है। इन सभी वर्गों से सम्बद्ध अर्थ-उद्भूत महा-नगरीय संवेदनाओं का चित्रण स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में उपलब्ध है। महानगरों में पूँजीपतियों तथा उद्योगपतियों की मानसिकता पूर्णत: अर्थ-केन्द्रित बन जाती है। इसमें मध्य तथा निम्नवर्ग भी बराबर ग्रसित रहते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में उच्च या आभिजात्य वर्ग का चित्रण अपेक्षाकृत कम है जबकि मध्यवर्ग और निम्नवर्ग का चित्रण अधिक। बेकारी, भ्रष्टाचार आदि का विवेचन इसी अध्याय में हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में महानगर की राजनीति और काइयाँपन अध्ययन के विषय बने हैं। महानगरों में स्वार्थ का बोलबाला है अतः राजनीति उनके लिए कामधेनु है। 'एक और मुख्यमन्त्री', 'रागदरबारी', और 'सबहिं नचावत राम गोसाइँ', आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। अब तो राजनीति का गाँवों में भी बोलबाला है। राजनीति ने मनुष्य के नैतिक मूल्यों को विघटित कर डाला है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सातवें दशक में राजनीतिक संवेदनावाले बहुत कम उपन्यास लिखे गये। स्वातन्त्र्योत्तर युग में भारतीयों के सामाजिक जीवन को महानगरों ने झकझोर डाला है। स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य में, महानगरों और महानगरीय संवेदनाग्रस्त गाँवों के पारिवारिक विघटन, स्वार्थपरता और असम्बन्धों की स्थिति का चित्रण मिलता है।

महानगर का व्यक्ति अस्त-व्यस्तता, छिन्न-भिन्नता, अकेलापन, तनाव, अजनबीपन, कुण्ठाग्रस्तता और व्यर्थताबोध का शिकार दिखायी देता है। उसके जीवन में वैयक्तिकता ने घर कर लिया है अतः ठहराव का अभाव है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में भी अब गिरावट आयी है। महानगरों की एक और विशेष बात स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में चित्रित है, जिसका इस प्रबन्ध में विधिवत् उल्लेख है, वह है जाति-पाँति के पुरातनतावादी स्वरूप को नकारना।

पंचम अध्याय स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास-साहित्य में महानगरीय संवेदनाओं के विवेचन से सम्बन्धित है। इसी अध्याय में ही उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त शिक्षा जगत् में व्याप्त भ्रष्टाचार का भी चित्रण किया गया है। विश्वविद्यालयों का जीवन भी सेक्स-आकर्षण का शिकार है। महानगरीय समाज में बेईमानी, रिश्वतखोरी का बोलबाला है। दूसरी ओर पुराने तथा नये समाज में संघर्ष जारी है। गुरु-शिष्या के रिश्ते बदल रहे हैं। 'बूँद और समुद्र', 'अँधेरे बन्द कमरे', 'कटा हुआ आसमान' तथा 'कोरा कागज' आदि उपन्यासों में सामाजिक सम्बन्धों में महानगरीय बोध को सच्चाई से उतारा गया है।

भारतीय तपोवनी संस्कृति अध्यात्म प्रधान रही है। प्रेम, दया, सहानुभूति, परोपकार आदि भावनाएँ इसके महत्त्व को प्रदर्शित करती हैं। नगर-तत्त्व के प्रवेश से भारतीय महानगरों के जीवन को बौद्धिकता ने घेर लिया है। महानगर का व्यक्ति आदर्शों का विरोधी हो चला है। ईश्वर और धर्म उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखते। स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य में महानगर के व्यक्ति की अनास्थावादी चेतना का चित्रण विस्तार से हुआ है। प्रस्तुत प्रबन्ध के छठे अध्याय में इस स्थिति का सविस्तार विश्लेषण हुआ है। इसमें संस्कृति के ठेकेदार—महात्माओं की कलई खोली गयी है और भारतीय संस्कृति के वेदान्त अध्यात्मवाद और पुरुषार्थ सम्बन्धी नये दृष्टिकोण की चर्चा भी की गयी है।

जीवन-मूल्यों से सम्बद्ध प्रबन्ध का सातवाँ अध्याय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसमें स्वाधीनता के बाद उपन्यासों के बदले हुए सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, और आर्थिक राजनीतिक मूल्यों पर प्रकाश डाला गया है। परिवार, विवाह, प्रेम, यौन, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, धर्म और ईश्वर, अर्थ-व्यवस्था आदि सबकुछ इस अध्याय की परिधि में विश्लेषित हुआ है। परम्परागत मूल्यों की स्थिति, उनका विघटन और संक्रमण हमारे नगर और ग्राम्य जीवन में उपन्यास के माध्यम से दिखायी देता है। परम्परागत मूल्य दम तोड़ रहे हैं। तपोवनी संस्कृति अब अन्तिम साँस ले रही है और महानगरों में सम्भोगीय संस्कृति जन्म ले रही है।

अन्तिम अध्याय में महानगरीय संवेदना के आविर्भाव से हिन्दी उपन्यास-शिल्प के तात्त्विक परिवर्तनगत वैशिष्ट्य का अध्ययन किया गया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के शिल्प में भी बदलाव आया है। आज के उपन्यासकार की नयी अनुभूतियाँ, पुराने औपन्यासिक शिल्प की दास नहीं है। वे नवीन शैल्पिक आयामों की तलाश करती है। इसका कारण यह है कि उपन्यास की नयी भाव-भूमियों को परम्परागत भाषा नहीं पकड़ सकती। महानगरीय जीवन का चित्रण करनेवाले उपन्यासों के कथानक में बिखराव दिखायी देता है। पात्र और भाषा शैली के सम्बन्ध में भी नवीनता के दर्शन होते हैं। वातावरण के निर्माण में भी पात्रानुसारी भाषा बहुत सहायक होती है। नये प्रतीकों, अलंकारों, लोकोक्ति और मुहावरों आदि का प्रवेश इन उपन्यासों की भाषा में हो चुका है। भाषा की अश्लीलता भी अब स्वीकार्य है। जहाँ तक उद्देश्य तत्त्व का सम्बन्ध है, महानगरीय उपन्यासों में उसे स्पष्ट नहीं किया जाता बल्कि समझने के लिए पाठकों पर छोड़ दिया जाता है।

इस तरह स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य महानगर बोध से निश्चित रूप से प्रभावित हुआ है। उसका कथानक; पात्र, भाषा-शैली और उद्देश्य आदि सभी तत्त्व महानगर बोध से आक्रान्त हैं। अतः स्पष्ट है कि महानगरीय संवेदना अनेक कोणों और आयामों से स्वातंत्र्योत्तर कृतियों को पूर्ववर्ती रचनाओं से अलग करती है। इन रचनाओं में महानगरीय मानसिक तनाव के आस्थाहीन जाल विस्तार से फैले हुए हैं जिनमें से आज के ग्राम; उपनगर, नगर एवं महानगर का व्यक्ति न्यूनाधिक परिणाम वैभिन्न्य से गुजरने के लिए विवश है।

शोध छात्रा ने अपने इस अध्ययन में लगभग सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासों को ले लिया है जिससे प्रबन्ध स्तरीय और प्रामाणिक बन गया है। अन्त में उपसंहार है, जिसमें शोध प्रबन्ध का सारतत्त्व प्रस्तुत है।

महानगरीय संवेदना का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर इतना व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है कि साहित्य के अध्येता उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, किंतु अभी तक इस विषय पर कोई ठोस कार्य प्रस्तुत नहीं किया जा सका था। यह शोध प्रबन्ध उस अभाव की पूर्ति करता है और आधुनिक उपन्यास साहित्य के प्रामाणिक अध्ययन की दिशा में एक मौलिक प्रतिमान के रूप में स्थापित होता है।

रीतिकालीन हिंदी कविता में लोकतत्त्व

शोधकर्ता—पृथ्वीसिंह 'विकसित'
निर्देशक—गयाप्रसाद शुक्ल
वर्ष—1975

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग साहित्यिक वैभव की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न रहा है। इस युग के कलाकारों ने कवि कर्म के साथ-साथ आचार्य-कर्म की भी महती साधना की थी। अब तक के इतिहासकारों एवं आलोचकों की धारणा रही है कि रीतिकालीन साहित्य घोर श्रृंगारिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इस धारणा का पूर्णतः खण्डन किया गया है। क्योंकि लोकजीवन के साथ जितना इस काल की कविता सम्बन्धित है उतना किसी अन्य काल की नहीं। लोक-तत्त्वों की दृष्टि से रीतिकालीन कविता का जो महत्व है, हिन्दी साहित्य के अन्य किसी काल की कविता का उतना महत्व नहीं है। शोध-प्रबन्ध में इस मत का प्रति-पादन किया गया है।

शोध-प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय लोकतत्व का सामान्य विवेचन के अन्तर्गत लोकतत्व का शब्दार्थ, आशय, जनभावना के साथ इसका सम्बन्ध तथा जीवन के साथ इनके विकास को दर्शाया गया है। तत्पश्चात् लोक-तत्वों की परम्परा के अन्तर्गत लोकविश्वासों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, अमानवीय शक्तियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, देवी-देवताओं से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, पशु-पक्षियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, अभिशाप-वरदान और तन्त्र-मंत्र से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, लौकिक कथाओं की अन्य रूढ़ियाँ तथा कवि-कल्पित रूढ़ियों आदि का विवेचन किया गया है। लोकतत्व और उसकी प्रक्रिया, कवि-मानस पर लोकतत्वों का प्रभाव तथा कविता में लोकतत्वों का महत्व आदि की विवेचना की गयी है।

द्वितीय अध्याय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमियों के विवेचनोपरान्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में लोकतत्वों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय षोडश संस्कारों से सम्बन्धित है। सर्वप्रथम संस्कार का शब्दार्थ

एवं परिभाषा दी गयी है। तत्पश्चात् इनकी संख्या तथा प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए लोकप्रिय प्रयोजन, आत्माभिव्यक्ति, नैतिक प्रयोजन, व्यक्तित्व निर्माण एवं विकास तथा आध्यात्मिक प्रयोजनादि की व्याख्या करने के बाद रीतिकालीन हिन्दी कविता में प्रयुक्त प्रमुख संस्कारों तथा नामकरण, विवाह एवं अन्त्येष्टि आदि की विशद विवेचना की गयी है।

चतुर्थ अध्याय में लोक-प्रचलित रीति-रिवाज के अन्तर्गत संस्कारगत रीति-रिवाज, पर्व, व्रत एवं उत्सवगत रीति-रिवाज, त्यौहारगत रीति-रिवाज एवं अन्य विशिष्ट रीति-रिवाजों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

पंचम अध्याय को वस्त्राभरण, रहन-सहन एवं जीवन-चर्या नामक तीन उप-शीर्षकों में विभक्त करके रीतिकालीन कविता में इनके प्रयोग का विशद विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में लोकतत्व सम्बन्धी विश्वास, मान्यताएं एवं रूढ़ियों के अन्तर्गत कथा, अन्धविश्वास, चित्रदर्शन तथा स्वप्न दर्शन, अभिशाप एवं वरदान, शकुन-अपशकुन, देवी-देवताओं का आगमन एवं अन्तर्धान होना और आकाशवाणी एवं आकाशी पुष्पवर्षा आदि का सविस्तार उल्लेख किया गया है।

सप्तम अध्याय में लोकतत्व को प्रश्रय देनेवाले लोक-जीवन के साथ रीति-कालीन हिन्दी कविता का लगाव दिखलाने के लिए वस्त्राभरण एवं साज-सज्जा, फाग या होली, मनोरंजन के विभिन्न उपादान, सौंह करना तथा विभिन्न नेगी जातियों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है क्योंकि तत्कालीन कविता में इनका विशद विवेचन मिलता है।

अष्टम अध्याय-उपसंहार के अन्तर्गत सर्वप्रथम यह दिखलाया गया है कि रीति कालीन हिन्दी कविता पर लोकतत्व की दृष्टि से पूर्ववर्ती कवियों का कितना प्रभाव पड़ा है। तत्पश्चात् इसी दृष्टि से परवर्ती कवियों पर रीतिकालीन कवियों के लोक तत्वों के प्रभाव को आँका गया है। अन्त में उपलब्धियाँ शीर्षक के अन्तर्गत मौलि-कता, विशिष्ट मान्यता एवं लोकतात्विक उपलब्धियों की विवेचना की गयी है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय स्वतन्त्र रूप से पहले किसी ने अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया था, जबकि रीतिकालीन साहित्य को लोक से सम्बद्ध जानने हेतु लोक-तत्वों की दृष्टि में रीतिकालीन कविता का अध्ययन अत्यन्त महत्व का विषय है। रीतिकाल के पुनर्मूल्यांकन हेतु, भविष्य में इसका महत्व और भी बढ़ जायेगा, इस दृष्टि से यह सम्पूर्ण विवेचन मौलिक है जिसे शोधकर्ता के अध्ययन की उपलब्धि कहा जा सकता है। इस अध्ययन से पूर्व शोधकर्ता की यह धारणा थी कि रीति-कालीन कविता लोक जीवन से बिल्कुल अलग-थलग है, इसमें कुछ इने-गिने दर-बारियों या राजाओं की विलासिता एवं ऐश्वर्य का ही वर्णन होता है; क्योंकि अधिकांशतः रीतिकालीन कवि दरबारी एवं राजाश्रित थे किन्तु इस अध्ययन में इस

धारणा का खंडन हो जाता है। इस प्रबन्ध की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि रीतिकालीन साहित्य लोकतत्व एवं जनजीवन के साथ अत्यधिक लगाव रखता है।

किसी साहित्यकार को जब भी जनता के निकट आने की आवश्यकता पड़ी है जब उसने लोक-जीवन को किसी प्रकार का धार्मिक सामाजिक अथवा कोई अन्य उपदेश देना चाहा है तो उसने अपने साहित्य को लोकवार्ता के तत्वों से अभिमण्डित करके उसे जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है। बिहारी ने यदि लोकतात्विक भावना का आश्रय लेकर उपदेश न दिया होता तो किंचित् जयसिंह का हृदय परिवर्तन न होता। इसी प्रकार सौतियाडाह, जादू-टोना आदि का अपूर्व महत्व रीतिकालीन कविता हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। यद्यपि आज की आधुनिक सभ्यता एवं वैज्ञानिकता जादू-टोने में विश्वास नहीं होने देती किन्तु इसका अपना अपूर्व महत्व है। रीतिकालीन कविता में मन्त्र, तन्त्र तथा जादू-टोने आदि का वर्णन कर महत्ता को प्रतिपादित किया है। बिहारी के कई दोहे इसके प्रमाण हैं।

लोकतत्वों के योग से अभिजात साहित्य की रचना लोक संस्कृति का दिग्दर्शन कराने में पूर्ण सक्षम हो जाती है। इतिहास केवल राजा-महाराजाओं के ऐश्वर्य एवं उनकी जय-पराजय की कहानी कहता है। रीतिकालीन अधिकांश कवि राज्याश्रित ये फिर भी उन्होंने अपनी कविता को राजाओं की जय-पराजय का विषय नहीं बनाया। यद्यपि उन्होंने उनके ऐश्वर्य एवं विलासिता का वर्णन किया है किंतु यह ऐश्वर्य वर्णन भी बाजारू या हुश्नपरस्ती का नहीं है। लोकतत्वों के संयमन द्वारा इसे सर्वदा साहित्यिक रूप प्रदान किया है। यह रीतिकालीन श्रृंगार के पंक में लोकतात्विक पंकज दिखाया है। इस अध्ययन की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है अन्यथा 'काजल की कोठरी में कैसोहू सयानो जाय एक लीक काजरि की लागि पै रहै' के अनुसार रीतिकालीन श्रृंगारिकता के गह्वरगर्त में जाकर भी इन कवियों ने लोक संस्कृति एवं लोक जीवन को नहीं छोड़ा है। यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

रीतिकालीन कवियों को लोकजीवन से सम्बन्धित ये लोकतत्व विरासत रूप में मिले हैं जिसे उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव स्वरूप ग्रहण किया है। रीतिकालीन कविता की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें तत्कालीन समाज के रहन-सहन, वस्त्राभरण, जीवनचर्या आदि की झलक तो मिलती ही है, साथ ही तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति की स्पष्ट झाँकी भी दिखायी देती है। जो कवि अपने युगीन वातावरण, सामाजिक परिवेशों आदि का चित्रण अपने काव्य में नहीं करता उसे तत्कालीन समाज के प्रति ईमानदार नहीं कहा जा सकता। साहित्य पर युगीन वातावरण की छाप का पड़ना अवश्यम्भावी है जिसका प्रतिपादन रीति-कालीन कविता करती है। यदि हम रीतिकालीन लोकजीवन की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन, दिनचर्या, वस्त्राभरण तथा व्रतों, पर्वों, उत्सवों एवं त्यौहारों आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें रीतिकालीन कविता का अध्ययन करना होगा। यही इस प्रबन्ध का निष्कर्ष है और मौलिकता भी।

जैमिनी अश्वमेध की साहित्यिक परम्परा और मध्ययुगीन हिंदी साहित्य

शोधकर्ता—स्वराज सचदेव
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1975

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का प्राय: सम्पूर्ण आख्यानपरक काव्य वैदिक साहित्य की श्रृंखला का ही परिणत रूप है। वेदों में कर्म, ज्ञान, उपासना को मानव जीवन को पूर्णता तक पहुँचानेवाले साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। हमारा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भी इन्हीं त्रिकाण्डों में से कहीं एक को और कहीं सबको समन्वित रूप से स्वीकार करते हुए आगे चलता गया है। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल तक आते-आते स्मार्त शाखा ने प्रमुखता प्राप्त कर ली है। हमारा जन-जीवन भी स्मार्त विचारधारा के ही साँचे में ढला हुआ है। हमारे मनीषी कवियों ने श्रौत और स्मार्त दोनों ही धाराओं में लोकोपयोगी सामंजस्य लाने का प्रयास किया है। नाना प्रकार के श्रौत यज्ञों का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है जिसकी धारा हिन्दी के मध्यकाल तक आते-आते शुष्क हो गयी है। यदि उसको स्वीकृति मिली है तो साधन के रूप में, साध्य के रूप में नहीं।

शोध प्रबन्ध का विषय शोध के क्षेत्र में सर्वथा अभिनव है। इस ओर किसी हिंदी साहित्य के इतिहासकार का भी ध्यान नहीं गया है। अश्वमेधिक काव्य-रचना का उद्देश्य यज्ञों का पुनरुद्धार नहीं है। उसके मूल में जो धारणा काम करती है, वह वीर पूजा की है। अश्वमेधिक रचनाएँ मूलतः वीरगाथाएँ हैं। जिस प्रकार वीरगाथा काल की रचनाओं में प्रमुख रूप से दो ही रस व्यंजित हुए हैं; प्रथम स्थानीय वीर रस है और उसके बाद श्रृंगार रस। अश्वमेधिक रचनाओं में भी हम ऐसा ही पाते हैं।

हिंदी साहित्य के मध्ययुग में मुख्यतः दो ही अश्वमेधाख्यान वर्णनीय विषय बताये गये हैं—रामाश्वमेध और युधिष्ठिर अश्वमेध। उत्तरोत्तर कवियों ने अपने

ढंग से मूल आख्यान का पल्लवन किया है। इस अध्ययन का विषय जैमिनी अश्वमेध है। जैमिनीयाश्वमेध, अनुश्रुति के अनुसार वेदव्यास के एक प्रमुख शिष्य जैमिनी द्वारा विरचित कहा जाता है। अतः इसके मूल स्रोत के रूप में हम दो ही ग्रंथों को ले सकते हैं—प्रथम, महाभारत का अश्वमेधिक पर्व और द्वितीय, हरिवंश पुराण, जो महाभारत का ही परिशिष्ट कहा जाता है। जैमिनी से पूर्व उपर्युक्त दोनों कृतियों के अतिरिक्त और कोई कृति देखने को नहीं मिलती। हिन्दी के एतत्परक काव्य-रचयिताओं में अधिक संख्या उनकी है जिन्होंने अपनी कृतियों के जैमिनि पुराण नाम दे रक्खा है। इससे दो अर्थ ध्वनित होते हैं—पहला यह कि ये कृतियाँ काव्य न होकर पुराण हैं, और दूसरा यह कि इनकी कथावस्तु जैमिनीयाश्वमेध से ग्रहण की गयी है। अतः प्रबन्ध में सर्वप्रथम यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि पुराण वाङ्मय की निरूपण शैली क्या है, वे कौन से मुख्य तत्त्व हैं जिनके कारण हम किसी रचना को पुराण कहते हैं और उन तत्त्वों की चरितार्थता हमारे आलोच्य काव्यों में कहाँ तक हुई है?

शोध प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है। इसमें प्रथम अध्याय मध्ययुगीन भारतीय साधना का है। इसके पूर्व ही विषय प्रवेश है जिसमें पुराण वाङ्मय की निरूपण शैली तथा जैमिनी अश्वमेध के साहित्यिक स्रोतों का अनुसन्धानपरक विवेचन है। तत्पश्चात् जैमिनीय अश्वमेध का आख्यान और उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। इसी क्रम में महाभारत के आश्वमेधिक पर्व तथा हरिवंश के अश्वमेध प्रकरण का विवेचन कर दिया गया है। तदनन्तर प्रथम अध्याय के अन्तर्गत श्रुतिमूलक और स्मृतिमूलक साधनाओं और कर्मानुष्ठानों का अनुसन्धान किया गया है, और यह बताया गया है कि किस प्रकार श्रौत और स्मार्त दोनों धर्म साधनाएँ मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में समन्वित रूप से कार्य करती रही हैं। यद्यपि परवर्ती धर्म साधना विशेष रूप से गृहीत हुई है, तो भी पूर्ववर्ती साधना के भी कुछ प्रमुख तत्त्वों को अपनाया गया है। इन अश्वमेधपरक रचनाओं में हम अश्वमेधाश्रित आख्यान मात्र का ही ग्रहण आलोच्य कृतियों में पाते हैं, जबकि धर्म-साधना और विचारधारा प्रमुखतः स्मार्त गृहीत हुई हैं। इन कृतियों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व भर में घूमनेवाला अश्वमेध का अश्व जैसे भक्ति का ही सन्देश सुनाने के लिए विश्व का पर्यटन करता है। इसी प्रसंग में वैदिक और पौराणिक देवमण्डलों के साथ-साथ यज्ञ-विधानों पर भी दृष्टि-निक्षेप किया गया है।

भारतीय संस्कृति में पले हुए मध्यकालीन प्रायः सभी कवियों ने श्रुतिमूलक वर्णाश्रम धर्म को समाज के लिए उपादेय बताया है। अपने ही ज्ञान को सबसे विकसित और सबसे लोकोपयोगी होने का दावा करनेवाले कुछ निर्गुनिये सन्तों ने अवश्य इसका विरोध किया है किन्तु अध्ययन के प्रसंग में शोधछात्रा ने देखा कि

भारतीय जन-जीवन में उनकी मान्यता और उनका आदर्श चरितार्थ नहीं हो सका।

द्वितीय अध्याय जैमिनीय अश्वमेध में प्राप्त पौराणिक तत्त्वों की विवेचना से सम्बन्धित है। पौराणिक तत्त्वों में वंश, मन्वन्तर, सृष्टि-वर्णन, व्रत माहात्म्य, तीर्थ, समाज-व्यवस्था, राजनीति, शिक्षा, साहित्य, संग्राम-नीति, आर्थिक दशा, धर्म-दर्शन और कला इत्यादि मुख्य हैं। ये सारे तत्त्व किसी-न-किसी रूप में हमारे आलोच्य ग्रन्थों में मिलते हैं।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है—'मध्ययुगीन हिन्दी का जैमिनी अश्वमेध विषयक साहित्य'। इसके अन्तर्गत हिन्दी साहित्य में अद्यावधि प्राप्त अश्वमेध विषयक साहित्य का अन्वेषण किया गया है और यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि इनमें कौन-सी कृति, मूल का अविरल अनुवाद है और कौन-सी कृति, कृतिकार की मौलिक प्रतिभा से सर्जित हुई हैं। इसके साथ ही महाभारत के आश्वमेधिक पर्व और जैमिनी पुराणगत अन्तर का प्रतिफलन आलोच्य कृतियों में खोजा गया है। जैमिनी अश्वामेध की आख्यानगत पटुता को भी दृष्टि-पथ में रक्खा गया है और उसका निर्देश इस प्रबन्ध में किया गया है। जैमिनीयाश्वमेधगत आख्यान कौशल को स्पष्ट करते हुए यह पाया गया कि रचनाकार ने अपने आख्यान को अत्यन्त आकर्षक बनाने की दृष्टि से दो नये आख्यानों को मूल आख्यान में अन्तर्-निविष्ट कर दिया है। पहला है—कुशलवोपाख्यान जिसे बभ्रुवाहन और अर्जुन के युद्ध का औचित्य प्रमाणित करने के लिए लाया गया है। दूसरा है चंद्रहासोपाख्यान, जो रचनाकार की मौलिक प्रतिभा की सृष्टि है। इसका आनयन विष्णु-भक्ति की महिमा को सर्वातिशायिनी दिखाने के लिए हुआ है और यही जैमिनीयाश्वमेध का सबसे महान वैशिष्ट्य है। इसी तत्त्व को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी की तत्कालीन उन अश्वमेधपरक कृतियों को भी अध्ययन का विषय बना लिया गया है जो शुद्ध रामाश्वमेधपरक हैं।

चतुर्थ अध्याय में अश्वमेध सम्बन्धी ग्रंथों और उनके सूची कृतिकारों का अन्वेषण किया गया है। अश्वमेध सम्बन्धी दो तरह के ग्रंथ हैं—एक तो रामाश्व-मेध सम्बन्धी, और दूसरे जैमिनीयाश्वमेध सम्बन्धी। इसमें पहले रामाश्वमेध सम्बन्धी सूची कृतिकारों मस्तराम, मधुसूदन, गंगा प्रसाद माथुर, भुवनदास तथा गुरुदीन आदि का तत्पश्चात् जैमिनीयाश्वमेध सम्बन्धी सूची कृतिकारों पुरुषोत्तम-दास, परमदास, रतिमान पूरन, सेवादास, सुवेशराम, केशवराई, जगतमणि, राय-पुरी, भगवानदास निरंजनी, राम प्रसाद, सरयूराम, कूरकवि, खण्डनलाल, नन्द-लाल तथा प्रेमदास आदि का विवेचन है। इन कृतिकारों की कौन-कौन-सी कृतियाँ उपलब्ध हैं तथा उनका रचनाकाल क्या है, इसका भी विवेचन इसी सन्दर्भ में कर लिया गया है। साथ ही इन कृतियों की प्रामाणिकता पर भी विचार किया

गया है।

पंचम अध्याय में उपलब्ध कृतियों के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन है। यह विवेचन शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काव्य, रूप, रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा बहुज्ञता के आधार पर किया गया है। इसके साथ ही काव्य-वैभव निर्धारण के मूल आधार तथा सांकेतिक विषय पर विवेच्य कृतियों की मीमांसा भी प्रस्तुत की गयी है।

षष्ठ अध्याय में हिन्दीतर भाषाओं बंगला, असमियाँ, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम तथा मराठी आदि में लिखे गये जैमिनी अश्वमेध विषयक साहित्य का अनुसन्धान किया गया है। इन भाषाओं में भी एतद्विषयक् पर्याप्त काव्यकृतियाँ गद्य और पद्य में लिखी गयी हैं। उन्हें सामने रखते हुए जैमिनी अश्वमेध विषयक हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय उपसंहार है, जिसका शीर्षक है—'जैमिनीय अश्वमेध विषयक हिन्दी कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन और योगदान'। इसमें जैमिनी अश्वमेध विषयक हिन्दी कृतियों का साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि अनेक दृष्टियों से मूल्यांकन किया गया है और साथ ही यह भी दिखाने का प्रयास किया गया है कि इन कृतियों के द्वारा हिन्दी साहित्य की किस मात्रा में अभिवृद्धि हुई है।

प्रेमचंदोत्तर हिंदी कथा-साहित्य में व्यंग्य

शोधकर्ता--कुँवर बहादुर
निर्देशक—डॉ० जयचन्द्र राय
वर्ष—1975

भारत आदर्शों और मर्यादाओं का देश रहा है। साहित्य में आदर्शवादिता के फूलों की सुगन्ध ने उसे वह स्निग्धता और विभोरता प्रदान की कि वह यथार्थ के शूलों को जानते हुए भी उनकी बात न कह सका और न वह ऐसे विषय को उपस्थित कर सका जो अपाहिज हो, विषाद उत्पन्न करनेवाला हो। अभिधा को साहित्य में कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया। इसके विपरीत लक्षणा और व्यंजना को आदर मिला क्योंकि इन शब्द-शक्तियों का अस्त्र शालीनता है। व्यंजना को तो साहित्य के सिंहासन की महारानी ही माना गया क्योंकि वह धीरे-से बड़ी बातें कहने में सक्षम थी। साहित्य की विविध-विधाओं एवं उनकी रचना प्रक्रियाओं में इन्हीं अन्तिम दो शक्तियों—-लक्षणा और व्यंजना— को प्रयुक्त किया गया।

व्यंग्य संस्कृत साहित्य की परम्परा के अनुसार व्यंजना के करीब पड़ता है। किन्तु यहाँ यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि व्यंग्य व्यंजना का ही एक रूप होने पर भी व्यंजना के मूल स्वभाव से भिन्न है। व्यंग्य कठोर होता है, उसमें तीखापन होता है। विषय को तिलमिला देने की शक्ति होती है; किन्तु व्यंजना में हर स्थान पर ऐसा होना आवश्यक नहीं है। आशय यह है कि व्यंग्य का दायरा इतना विस्तृत नहीं है जितना व्यंजना का। संस्कृत साहित्य में व्यंजना को महत्त्व मिला। हिन्दी साहित्य में एक युग तक व्यंजना को स्थान मिला, व्यंग्य को नहीं क्योंकि व्यंग्य भारतीय साहित्य के मूल में कार्य करनेवाले समन्वय के आदर्श के विरुद्ध जान पड़ता था। यही कारण रहा है कि एक युग तक कुछ स्थलों को छोड़-कर साहित्य में व्यंग्य के दर्शन नहीं होते।

जब साहित्य में ही 'व्यंग्य' को स्थान नहीं मिल सका, तो एक युग तक व्यंग्य के सम्बन्ध में पुस्तकें भी नहीं लिखी जा सकीं। व्यंजना शब्द-शक्ति पर चाहे जितने

ग्रन्थ लिख दिये गये हों, किन्तु व्यंग्य पर किसी भी लेखक की कलम नहीं चली। लेखक के अनुसार हिन्दी में तो कोई भी ऐसी पुस्तक दिखायी नहीं दी जो शुद्ध रूप से व्यंग्य पर लिखी गयी हो। सबसे बड़ी गलती यह हुई कि व्यंग्य को हास्य के साथ रखकर देखा गया जबकि दोनों की आधारभूमि तथा रचना-प्रक्रिया एवं उद्देश्यों में बड़ा अन्तर है। हिन्दी में सबसे पहला शोध-प्रबन्ध डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी का है, किन्तु उसका नाम ही 'हिन्दी-साहित्य में हास्य रस' है, हाँ, उसमें कुछ पृष्ठ व्यंग्य को दे दिये गये हैं जो पाश्चात्य विद्वानों के व्यंग्य सम्बन्धी कथनों के हिन्दी-अनुवाद मात्र हैं। डॉ० शेरजंग गर्ग—'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य' शोध प्रबन्ध में केवल कविता में ही व्यंग्य स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध के लेखक महोदय का कहना है कि अन्य कोई सैद्धान्तिक पुस्तक हिन्दी में 'व्यंग्य' पर नहीं मिलती। हाँ, छिटपुट रूप में अलग-अलग विद्वानों ने किसी और विषय का प्रतिपादन करते हुए दो-चार लकीरें व्यंग्य पर लिख दी हैं। अंग्रेजी में कुछ पुस्तकें अवश्य लिखी गयी हैं किन्तु वे पश्चिमी साहित्य और उन्हीं के यहाँ के कवियों और लेखकों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी हैं।

यों तो व्यंग्य कविता, नाटक तथा अन्य साहित्यिक विधाओं में दिखलायी देता है किन्तु हमारा विवेच्य युग तथा विवेच्य विषय साहित्य रचना की विविध विधाओं में केवल कथा-साहित्य (उपन्यास और कहानी) तक ही सीमित है। कथा साहित्य के विविध बदलते संदर्भों एवं स्वरूपों में व्यंग्य तलाश करना और उसका वर्गीकरण करना ही इस शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है। साथ ही इसका ध्येय यह भी है कि उनमें व्यंग्य करने के लिए किन-किन विधानों का प्रयोग किया गया है और वह किन-किन उद्देश्यों की पूर्ति करता है। कथा साहित्य में व्यंग्य के विस्तार को मापने के लिए ऐसा करना वांछनीय है। कहानी तथा उपन्यास चाहे कैसे भी शिल्प में लिखे गये हों, चाहे वे सामाजिक हों, चाहें मनोवैज्ञानिक, चाहे आंचलिक और चाहे किसी अन्य प्रकार के, वे सभी इस विषय के आधार हैं। यहाँ यह ध्यान अवश्य रखा गया है कि ये उपन्यास व कहानियाँ अपने-आपमें प्रतिनिधि रचनाएँ हैं जो कथा-कार के चिन्तन, उसकी रचना-प्रक्रिया का दर्शन तो कराती ही हों साथ ही उसके चेतना के स्तर को भी प्रकट करती हों। जासूसी उपन्यास और जासूसी कहानियों को लेखक ने शोध-प्रबन्ध में स्थान नहीं दिया है क्योंकि ये कथा-साहित्य में व्यंग्य का आधार नहीं बन सकते। कारण स्पष्ट है क्योंकि वे विवरणात्मक एवं वर्णना-त्मक अधिक हैं तथा चेतना के स्तर पर विचारात्मक कम हैं जबकि व्यंग्य के लिए भावभूमियों और वैचारिकता से उलझना पड़ता है।

लेखक का विवेच्य-युग प्रेमचन्दोत्तर है। सन् 1936 से अब तक जितना भी कथा-साहित्य लिखा गया है उसमें से प्रतिनिधि कथाकारों एवं उनकी प्रतिनिधि

रचनाओं को ही विषय की सीमा और विस्तार के अन्तर्गत रखा गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि रचनाओं के चुनाव में यह अवश्य सोचा गया है कि वे व्यंग्यात्मक हों, व्यंग्य की प्रक्रिया को समझाने में सहायक हों, तथा किसी-न-किसी रूप में विवेच्य विषय को प्रतिपादित करती हों।

शोध-प्रबन्ध के अध्ययन की आधारभूत सामग्री प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य ही है। प्रेमचन्द के बाद के कथा-साहित्य को साधारणतया तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है—(अ) सन् 1936 से 1942 तक का कथा-साहित्य, (आ) सन् 1942 से 1947 तक का कथा-साहित्य, (इ) सन् 1947 से अब तक का कथा-साहित्य।

किन्तु यहाँ प्रवृत्ति के आधार पर इसको विभाजित किया गया है जिससे कथा-साहित्य में व्यंग्य के विनियोग के साथ-साथ कथा-साहित्य की प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट किया जा सके। शोध-प्रबन्ध के तीसरे अध्याय से नवें अध्याय तक रचनाकारों के नाम दे दिये गये हैं तथा उनकी प्रतिनिधि रचनाओं में व्यंग्य को तलाश किया गया है। इन प्रवृत्तियों के आधार पर कथा-साहित्य का वर्गीकरण इस रूप में किया गया है—(क) स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य, (ख) प्रगतिवादी कथा-साहित्य, (ग) प्रयोगवादी कथा-साहित्य, (घ) आंचलिक प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य, (ङ) मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य, (च) हास्य-विनोद प्रवृत्तिमूलक कथा साहित्य तथा (छ) अन्य प्रवृत्तिमूलक (सामाजिक एवं ऐतिहासिक) कथा-साहित्य।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', निराला, गोविन्दवल्लभ पंत, उषादेवी मित्रा, भगवती प्रसाद वाजपेयी तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' को रखा गया है क्योंकि इन रचनाकारों ने कथा-साहित्य की पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर उसे एक नया मोड़ दिया। शिल्प, भाषा, विषय, विषय-प्रतिपादन तथा उद्देश्यों में भी अन्तर आया। उपन्यास अर्थात 'नावेल' तो नवीनता का द्योतक है ही। उपन्यासकार अपने काव्य रूप की स्वच्छन्दता का उपयोग नित्य नूतन तकनीकों की खोज में करता और आलोचक के लिए समस्या प्रस्तुत करता रहता है। इस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अनेक कारण भी हैं जिनमें —1. रूपाकारों की अपेक्षाकृत परम्परा मुक्तता, 2. प्रतिभावान कलाकारों की नवोन्मेषणी शक्ति तथा अपना-अपना स्वभाव, 3. नये परिवर्तित विषय का प्रोद्दीपन तथा उसके सुचारु-निर्वाह की सहज प्रयोगशीलता, 4. युगधर्मी उपन्यास की यथार्थोन्मुखता। इन बातों का समर्थन विदेशी विद्वानों फ्रेकोस मोरिस, जान वेन आदि विद्वानों ने भी किया है।

व्यंग्य की दृष्टि से यशपाल, नागार्जुन, रेणु, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, श्रीकान्त वर्मा, श्रीलाल शुक्ल, राही मासूम रजा, भगवतीचरण वर्मा, हरिशंकर परसाई, देवराज,

धर्मवीर भारती, निराला, अमृतराय, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, शिवप्रसाद सिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, जैनेन्द्र कुमार, राहुल सांकृत्यायन, शैलेश मटियानी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं जिनके द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य को परिपक्वता प्राप्त हुई है।

यद्यपि स्वतन्त्रतापूर्व की कथा-कृतियों में भी विदेशी शासकों तथा उनके तत्कालीन समाज, धर्म आदि पर व्यंग्य प्रहार दिखायी देते हैं तथापि स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य में लेखकों की पैनी व्यंग्य-दृष्टि के दर्शन होते हैं। इस साहित्य में पुलिस, वकीलों, मुहर्रिरों के कुकृत्य, राज्य कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, रिश्वत-खोरी, मुखौटेबाज, दलबन्द नेताओं-मठाधीशों के पाखण्डों, समाज में व्याप्त अन्ध-विश्वासों पर मर्मान्तिक प्रहार किये गये हैं। अनमेल विवाह, बाल विवाह के दोष, विधवाओं की दुर्दशा को इन लेखकों ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में विस्तार से प्रस्तुत किया है और व्यंग्य-शस्त्र से सामाजिक कोढ़ों की शल्य-चिकित्सा का स्तुत्य प्रयास किया है। पूँजीपतियों, जमींदारों और मजदूर-कृषकों का शोषण भी इस साहित्य में व्यंग्य का विषय रहा है। इसके लिए इन कथाकारों ने व्यंग्य की मुहावरा-लोकोक्ति, शब्द-चयन, बिम्ब-अलंकार-प्रतीक-विधान, पदबन्ध, वाक्य आदि अनेक पद्धतियों का आश्रय लेकर कथा-साहित्य को जीवंत बनाने में योग दिया है।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में पृष्ठभूमि दी गयी है जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, राजनीतिक पृष्ठभूमि, राजनीतिक दशा, आर्थिक पृष्ठभूमि, साहित्यिक पृष्ठभूमि आदि पर विचार व्यक्त किया गया है।

द्वितीय अध्याय में व्यंग्य के स्वरूप को शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, व्यंग्य का वर्गीकरण—वृत्ति के आधार पर, विभाग के आधार पर, भाग-विचार के आधार पर, स्वरूप के आधार पर, प्रयोक्ता के आधार पर तथा कथा-साहित्य में व्यंग्य का विनियोग का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य के अन्तर्गत सामान्य प्रवृत्तियों, प्रतिनिधि कथाकार, उनके साहित्य और व्यंग्य पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय प्रगतिवादी कथा-साहित्य शीर्षक से है जिसमें सामान्य-प्रवृत्तियों, प्रतिनिधि कथाकार, उनके साहित्य एवं व्यंग्य पर व्याख्या है।

पंचम अध्याय प्रयोगवादी कथा-साहित्य का है जिसमें सामान्य प्रवृत्तियों, प्रतिनिधि कथाकार एवं उनके साहित्य तथा कुछ प्रमुख लघु उपन्यास एवं व्यंग्यों का चित्रण है।

आंचलिक-प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य को षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत दिया गया है। इसमें भी, प्रवृत्तियों, उनके साहित्य एवं व्यंग्य पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय के अन्तर्गत मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य में उसकी प्रवृत्तियों, प्रतिनिधि कथाकारों, उनके साहित्य एवं व्यंग्य का विश्लेषण है।

अष्टम अध्याय में हास्य-विनोद प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य है। इसमें उसकी प्रवृत्तियों, प्रतिनिधि कथाकारों, उनके साहित्य एवं व्यंग्य की व्याख्या है।

अन्य प्रवृत्तिमूलक कथा-साहित्य को नवम् अध्याय में लिया गया है। इसके दो खण्ड हैं। (अ) में सामाजिक कथा साहित्य की प्रवृत्तियों, उसके कथाकारों तथा उनके साहित्य और व्यंग्य का वर्णन किया गया है। (आ)में ऐतिहासिक कथा-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों, उसके प्रतिनिधि कथाकारों, उनके साहित्य एवं व्यंग्य पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

दशम् अध्याय के अन्तर्गत अभिव्यंजना-पद्धति के विभिन्न रूपों का वर्णन है, जिसमें शब्द-शक्तियों द्वारा व्यंग्य-प्रयोग, अलंकार-पद्धति, व्यंग्य में मुहावरों, लोकोक्तियों (कहावतों) का प्रयोग, पशु-पक्षियों की कथाओं से, कविता-प्रयोग पद्धति, शब्द-चयन पद्धति, प्रतीक पर आधारित बिम्ब पद्धति, पद-बन्ध पद्धति, वाक्य-विन्यास पद्धति, विराम चिह्नों के माध्यम से, शीर्षक पद्धति, नाम प्रयोग पद्धति, नवाख्या-पद्धति, अनुभाव चित्रण पद्धति, चरित्रांकन-पद्धति, उपहास पद्धति, वक्रता पद्धति, अपकर्ष पद्धति, परिस्थिति निर्माण-पद्धति, घटना पद्धति पर विचार व्यक्त किया गया है।

एकादश अध्याय में व्यंग्य-संबंधी दृष्टिकोण का तुलनात्मक एवं विकासात्मक अध्ययन का वर्णन है।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य पर ज्योतिषशास्त्र का प्रभाव

शोधकर्ता—केदारनाथ जगता
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1976

विश्व का कोई भी देश, धर्म तथा जाति ऐसी नहीं है, जिसमें ज्योतिष की किसी शाखा अथवा उपशाखा का प्रचार न हो। अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे समुन्नत देशों में भी लाखों व्यक्ति इस शास्त्र से जीवन निर्वाह कर रहे हैं। अगम्य अरण्यों में निवास करनेवाली वन्य जातियों में भी इसकी शकुनादि किसी न किसी शाखा का प्रचार है ही।

आर्य जाति अपने आदि-विकास काल से ही ज्योतिष में आस्था रखती रही है। विश्व के प्राचीनतम-ग्रन्थ-वेद उसकी अलौकिक निधि हैं।

इन वेदों में भी ज्योतिष सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ हैं। वेद के षड़ंगों में ज्योतिष का स्थान सर्वाधिक है। इसे वेद पुरुष का नेत्र माना गया है।

वैदिक यज्ञादि अनुष्ठानों के लिए उचित काल-संधान आवश्यक माना गया है। इस उचित काल का आदेष्टा ज्योतिष ही है। अतः वैदिक काल में भी ज्योतिष का महत्व रहा है। वेदों के समान इसके अध्ययन की भी अनिवार्यता अवश्य रही होगी!

वेदांग काल में तो ज्योतिष का अध्ययन अनिवार्य था ही।

वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक ज्योतिष के अध्ययन की धारा अविच्छिन्न रूप से गतिशील रही है। ज्योतिष के मूलाधार ग्रह-नक्षत्र हैं। ज्योतिष संज्ञा में भी देदीप्यमान ग्रह-नक्षत्रों का संकेत है।

सम्भवतः आदि-ज्योतिष का प्रारम्भ ग्रह-नक्षत्रों से ही हुआ होगा। कालान्तर में ग्रह-नक्षत्रों के अतिरिक्त भविष्य-सूचक शकुन, अंगलक्षण, स्वप्नादि का भी इसमें समावेश हो गया होगा। और इन्हें भी ज्योतिष की उपशाखा के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी होगी। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ से पूर्व ही ये सब ज्योतिष के अंग

हो चुके थे।

साहित्य का तो ज्योतिष से चोली-दामन का सम्बन्ध है। एक भी साहित्यिक कृति ऐसी नहीं जिसमें ज्योतिष की किसी शाखा या उपशाखा का उपयोग न हुआ हो। वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के आधुनिक काल तक के साहित्य में ज्योतिष का निरन्तर उपयोग हुआ है। कहीं ग्रह-नक्षत्रादि भाव तथा भाषा के सौन्दर्यवर्द्धक है। कहीं अपूर्व कल्पना के प्रेरक हैं और कहीं भावनाओं के प्रवक्ता हैं।

भारतीय साहित्य में ज्योतिष की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम संस्कृत भाषा रही है। जन भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार होने पर भी ज्योतिष ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत में होता रहा है। हिन्दी भाषा में सोलहवीं शताब्दी तक ज्योतिष सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण कृति निर्मित न हुई। हिन्दी में प्रकरण रूप में भक्तिकाल के प्रारम्भ में ज्योतिष विचार प्रारम्भ हुआ। भक्तिकाल के अन्त तक दो-एक, ज्योतिष की लघु कृतियाँ भी निर्मित हुईं। रीतिकाल में यह प्रवृत्ति कुछ और आगे बढ़ी।

साहित्य और ज्योतिष का घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी अद्यावधि कोई ऐसा शोध-प्रबन्ध या स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं आया जिसमें इस सम्बन्ध तथा साहित्य पर ज्योतिष के प्रभाव का आकलन किया गया हो। इस दृष्टि से यह प्रबन्ध आद्यन्त मौलिक है। ज्योतिषशास्त्र अतिविस्तृत है। इस विषय पर सैकड़ों ग्रंथ लिखे गये हैं। अत: प्रस्तुत प्रबन्ध में उद्धरण आदि के लिए ज्योतिष के गणित-फलित सम्बन्धी ऐसे ग्रंथों का निर्वाचन किया गया है जो अत्यन्त प्रसिद्ध तथा प्रचलित हैं। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल से सम्बन्धित। (प्रकाशित तथा अप्रकाशित) सहस्रों ग्रंथ हैं। इस काल पर ज्योतिष का प्रभाव दिखाने के लिए इन सबसे उद्धरण न देकर केवल प्रसिद्ध प्रबन्ध तथा मुक्तक कृतियों का चुनाव किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में चार अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में साहित्य तथा ज्योतिष के सम्बन्ध पर विचार, ज्योतिष-शास्त्र का वैदिक-काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक संस्कृत साहित्य में प्रयोग, ज्योतिष शास्त्र का शाखा-प्रशाखाओं में विभाग, विभागों का परिचय, अध्ययन सीमा (विवेचनीय विषय-क्षेत्र) तथा विषय की मौलिकता का विवेचन किया गया है।

साहित्य और ज्योतिष का सम्बन्ध कितना प्राचीन है? यह सम्बन्ध किस प्रकार का है? इस समस्या पर अद्यावधि कोई ग्रंथ दृष्टि में नहीं आया। इस प्रबन्ध में इस विषय पर विस्तृत विवेचन किया गया है। ज्योतिष शास्त्र का शाखा-प्रशाखाओं में जो वर्गीकरण प्रचलित है, उससे अलग हटकर इस प्रबन्ध में तर्कसंगत, नवीन तथा मौलिक विभाजन प्रस्तुत किया गया है।

साहित्य में ज्योतिष का समन्वय वैदिक काल से ही होता रहा है। वैदिक साहित्य में यह समन्वय किस रूप में और किस मात्रा में हुआ है? साहित्यिक अभि-व्यक्ति के लिए ज्योतिष की किस-किस शाखा का प्रयोग हुआ है? वेदांगों में

ज्योतिष का क्या स्वरूप है ? संस्कृत के प्राचीनतम वाल्मीकि रामायण और महाभारत काव्यों में ज्योतिष की किस शाखा का प्रयोग हुआ है ? संस्कृत लौकिक काव्यों में ज्योतिष-प्रयोग का क्या रूप है ? इन सब प्रश्नों का तर्कसहित समाधान उपस्थित किया गया है। अन्त में वैदिक साहित्य पर ज्योतिष के प्रभाव को दिखाते हुए प्रबन्ध की विषय-सीमा तथा विषय की मौलिकता का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में मध्यकालीन हिंदी साहित्य में ज्योतिष की उपलब्धि तथा प्रयोग का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। ज्योतिष के अंग-विभाग में जिन शाखा-प्रशाखाओं का परिचय दिया गया है, मध्यकालीन हिंदी साहित्य में उनकी उपलब्धि तथा प्रयोग किस मात्रा में हुआ है, इसका विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

साहित्यिक इतिहासकारों ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य का विभाजन प्रमुख पाँच धाराओं में किया है। चार का सम्बन्ध भक्ति से है और पाँचवीं का रीति से। इन पाँचों धाराओं के साहित्य में ज्योतिष की गणित तथा फलित उपलब्धियाँ तथा प्रयोग का पृथक्-पृथक् आलोचन किया गया है। क्योंकि गणित और फलित दोनों शाखाओं के एक-दूसरे की पूरक होने पर भी दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से भी दोनों का अलग-अलग स्पष्टीकरण अधिक समीचीन है। दोनों शाखाओं के प्रारम्भ में उन शाखाओं के काल में संस्कृत माध्यम से होनेवाली विशुद्ध ज्योतिष की विभिन्न शाखाओं की प्रगति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

गणित शाखा के प्रमुख उपविभाग कालमान, ग्रह, ग्रहण, नक्षत्र, राशि, लग्न, योगादि हैं। साहित्यिक कृतियों में इनका अत्यधिक प्रयोग हुआ है। अतः गणित शाखा के अन्तर्गत इन प्रयोगों का रूप प्रस्तुत किया गया है। हिंदी साहित्य के मध्यकाल में ज्योतिष का यह प्रयोग अकस्मात् प्रारम्भ नहीं हो गया। हिंदी के पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य तथा हिंदी के आदिकाल में भी निरन्तर होता रहा है। मध्यकाल में इसी का अनुकरण हुआ है, यह स्पष्ट करने के लिए हिंदी के आदिकाल में इस प्रयोग तथा प्रभाव का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

आर्यों के व्यावहारिक जीवन में अनेक मान्यताएँ, प्रथाएँ, संस्कार आदि प्रचलित हैं। इनका वर्णन साहित्य में प्रचुर परिमाण में होता रहा है। साहित्य, लोक जीवन की अभिव्यक्ति है, यथार्थ और कल्पना का चारुतम संगम है। अतः लोक-जीवन के आचार-विचार, मान्यताओं तथा प्रथाओं का ह्रास-विकास, संस्कारों का चित्रण साहित्य में स्वाभाविक है। ऐसी मान्यताएँ किस प्रेरणा से आयी हैं ? इनका स्रोत कहाँ है ? ऐसे मौलिक प्रश्नों का समाधान भी प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय के अन्त में इस काल के समस्त साहित्य पर ज्योतिष के प्रभाव का
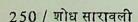
समालोचन किया गया है। साहित्य के भाव और कला दो पक्ष हैं। भावों को प्रेरणा विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होती है। प्रकृति के अनन्य सौंदर्य तथा चिंतन की विभिन्न धाराओंके सदृश ज्योतिष के ग्रह-नक्षत्रों, काल की अपरिवर्तित अनन्त गति आदि भी भाव के प्रेरक स्रोत रहे हैं। काल के क्षेत्र में भी ज्योतिष का योगदान महत्वपूर्ण है। ज्योतिष के सहस्रों शब्दों ने भाषा का भंडार भरा है। अनेक मुहावरों ने भाषा में अभिव्यंजन-क्षमता की वृद्धि की है। इस प्रकार साहित्य के दोनों पक्ष इससे प्रभावित हुए हैं।

तृतीय अध्याय में साहित्य में प्रयुक्त ज्योतिषशास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्दों का तथा साहित्यिक शब्दावली पर ज्योतिष के प्रभाव का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है। शब्दों की निर्मिति आवश्यकता के अनुसार होती रहती है। समय और परिस्थिति के कारण अर्थ-परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी तो शब्द की यह यात्रा बड़ी रोचक होती है। साहित्य में व्यवहृत होनेवाले सैकड़ों शब्दों तथा मुहावरों की यात्रा भी ऐसी ही रोचक है, जो ज्योतिष से प्रारम्भ होकर साहित्यिक कृतियों में पूर्ण हुई है। उनका अर्थ ज्योतिष है और इति साहित्य।

हिंदी साहित्य के महाकाल में कुछ विशुद्ध ज्योतिष की रचनाएँ भी हिंदी में निर्मित हुई हैं। ऐसी जो रचनाएँ शोध छात्र की दृष्टि में आयीं और जिनका उसे ज्ञान हो सका, उनका संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन कृतियों का ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है क्योंकि इनसे कहीं अधिक समुन्नत, व्यवस्थित तथा मौलिक ग्रंथों का निर्माण संस्कृत में हो रहा था। हिंदी की इन कृतियों में कोई नवीन उद्भावना भी नहीं है, अतः इनका विशेष प्रचार न हो सका। हिंदी की इन ज्योतिष कृतियों का महत्व हिंदी साहित्य के लिए अवश्य ही अनुपेक्षणीय है। कम से कम हिंदी में ज्योतिष लिखने का प्रयास प्रारम्भ तो हुआ।

चतुर्थ अध्याय प्रबन्ध का उपसंहार है। इसमें सामान्य ज्योतिष मान्यताएँ उपस्थित की गयी हैं। मध्यकालीन साहित्यकारों का ज्योतिष के विषय में जो दृष्टिकोण है उसे स्पष्ट किया गया है। ज्योतिष के विषय में सामान्य जन से लेकर विद्वानों तक में मतभेद है। ये मतभेद फलित शाखा के विषय में है, गणित शाखा के विषय में नहीं। गणित शाखा यदि आलोचना का विषय बनी है तो केवल प्रक्रिया के सम्बन्ध में, सिद्धांत के सम्बन्ध में नहीं। मध्यकालीन कवियों ने फलित सम्बन्धी मतभेद का कहीं कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है। सन्त शाखा के कबीर आदि कुछ कवियों ने कर्मकाण्ड के विध-विधानों के उपहास सदृश ज्योतिष पर भी व्यंग्य किया है। ऐसे व्यंग्यों का उद्देश्य केवल परमेश्वर में दृढ़ आस्था मात्र है। अन्त में फलित के विषय में कुछ आधुनिक विद्वानों की आस्था-अनास्था उपस्थित की गयी है। इसी प्रसंग में ज्योतिष के विषय में महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण भी उपस्थित किया

गया है। यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि स्वामी जी वर्तमान युग के मार्गदर्शक महापुरुष हैं। निस्सन्देह वर्तमान में फलित ज्योतिष की अवस्था दयनीय है। इसके नाम पर अज्ञानियों द्वारा अत्याचार हो रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि फलित की शकुनादि शाखाओं में अनेक अन्धविश्वासों तथा रूढ़ि-प्रथाओं का समावेश हो गया है। परन्तु सम्पूर्ण फलित अन्धविश्वास पर ही आधारित है, यह मान लेना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

प्रस्तुत प्रबन्ध की एक विशेषता यह है कि इसमें उद्धरणों का अंकन केवल प्रमाणित प्रतियों से ही किया गया है। उद्धरणों की स्पष्टि के लिए आवश्यकतानुसार अध्याय, खण्ड, श्लोकादि संख्या और कहीं-कहीं पृष्ठ संख्या का भी प्रयोग किया गया है, जिससे उद्धरण ज्ञान में असुविधा न हो।

कुल मिलाकर यह प्रबन्ध एक मौलिक उपलब्धि है।

हिन्दी शब्द-समूह का विकास

शोधकर्ता—रामनरेश मिश्र
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1976

संक्षिप्त विवरणिका

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हिंदी भाषा के 1900 ई० से 1925 ई० तक के शब्द-समूह का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। अध्ययन की सुविधा तथा उसे पूर्ण भाषा-वैज्ञानिक बनाने के लिए शोध-प्रबन्ध को आठ अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय अर्थात् शोध-प्रबन्ध की भूमिका में हिंदी भाषा के साथ विभिन्न भाषाओं में शब्द के पर्याय का उल्लेख करके शब्द के उच्चरित स्वरूप पर विचार किया गया है। शब्दविषयक परिभाषा पर भी विचार किया गया है। शब्दों के वर्गीकरण पर विभिन्न भाषा-वैज्ञानिकों, वैयाकरणों आदि के मन्तव्यों की विशेष समीक्षा प्रस्तुत करने के बाद शब्द-समूह क्या है ? इस पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् हिंदी शब्द-समूह के अध्ययन के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए इस शोध-कार्य के उद्देश्य तथा दृष्टिकोण को लिपिबद्ध किया गया है। इस अध्याय के अन्त में 1900 ई० के पूर्व के शब्द-समूह पर संक्षिप्त रूप से विचार प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में तत्सम कहे जानेवाले शब्दों की परिभाषा के संदर्भ में विभिन्न भाषाविदों के मत पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् तत्सम शब्दों का उनसे सम्बन्धित धर्म, शिक्षा, भोजन, रहन-सहन आदि विषयों के अनुसार वर्गीकरण किया गया है। तत्सम शब्दों की संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण तथा अव्यय रूप में भी वर्गीकरण किया गया है। इसके पश्चात् तत्सम शब्द की तत्समता तथा तत्समाभास पर भी विचार किया गया है। अध्याय के अन्त में तत्सम शब्दों के आने के कारण पर चिंतन है।

तृतीय अध्याय में तद्भव शब्दों की परिभाषा के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के मत प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा की गयी है। तद्भव शब्दों का विषयानुसार वर्गीकरण प्रस्तुत करने के बाद संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण तथा अव्यय वर्गों के रूप में भी विभाजन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में विदेशी शब्दों का अध्ययन करते हुए उनको भाषानुसार वर्गीकृत किया है। विदेशी शब्दों को भी तत्सम तथा तद्भव वर्गों में विभक्त करने का प्रयास किया है और फिर हिंदी-भाषा में विदेशी शब्दों के लिए हिंदी पर्याय की स्थिति पर अपना विचार प्रस्तुत किया है। इस विचारणीय प्रश्न का हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है कि जिन वस्तुओं, प्राणियों आदि के लिए हिंदी नाम पहले से प्रचलित थे उनके लिए विदेशी नाम क्यों आये? विदेशी भाषा के शब्दों का विषयानुसार वर्गीकरण करके आगे रचना के आधार पर मूल, यौगिक तथा पुनुरुक्ति रूप में वर्गीकृत किया गया है। विदेशी नामों की अर्थ-अभिव्यक्ति पर विचार किया गया है। अन्त में विदेशी शब्दों के आने के कारण पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय में देशज-शब्द को अनुकरणात्मक शब्दों से अलग रखकर सर्व-प्रथम देशज की परिभाषा के विषय पर विचार किया गया है। देशज शब्दों का विषयानुसार वर्गीकरण करके उनके आगमन के कारण पर विचार किया गया है। अनुकरणात्मक शब्दों को इसी अध्याय में स्थान दिया गया है, किन्तु देशज से अलग ही विचार करके उनको वर्गीकृत किया गया है। अन्त में अनुकरणात्मक शब्दों के हिंदी भाषा में प्रयुक्त होने के कारण पर विचार करते हुए उनका महत्व स्पष्ट किया गया है।

षष्ठ अध्याय में संकर शब्दों को उनके पूर्ववर्ती अवयव को दृष्टि में रखकर वर्गीकृत किया गया है। इसके पश्चात् कुछ ऐसे संकर शब्दों पर विचार किया गया है जो तीन शब्द-अवयवों से मिलकर बने हैं: यथा—'बेमददगार'। यहाँ यह शब्द 'बे, मदद तथा गार' शब्द-अवयवों के योग से बना है। अध्याय के अन्त में संकर शब्द के निर्माण के कारण पर विस्तृत विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय में पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा के बाद उनके प्रयोग को दृष्टि में रखकर वर्गीकरण किया गया है। अन्त में पारिभाषिक शब्दों का विषयानुसार वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम अर्थात् उपसंहार में शोध-प्रबन्ध की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि हिंदी शब्द-समूह का कितना महत्व है। हमें तत्सम और तद्भव के साथ जन-सामान्य में प्रचलित अनुकरणात्मक और विदेशी शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही इस क्षेत्र पर और अधिक कार्य की अपेक्षा है। अस्तु।

कामायनी एवं उर्वशी की प्रतीक-योजना का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता--मदनलाल
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1977

कामायनी और उर्वशी आधुनिक काल के दो प्रतिनिधि महाकाव्य हैं। इन दोनों महाकाव्यों की प्रतीक-योजना का तुलनात्मक अध्ययन इस प्रबन्ध के माध्यम से हिन्दी में पहली बार प्रस्तुत हुआ है।

कामायनी एवं उर्वशी की प्रतीक-योजना का तुलनात्मक अध्ययन नामक विषय की विवेचना को आठ अनुच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय प्रतीक-योजना का शास्त्रीय विवेचन है। इसको मुख्य रूप से छः उपशीर्षकों में विभक्त किया गया है। प्रथम उपशीर्षक को पुनः व्युत्पत्ति, शब्दार्थ, परिभाषा एवं आलोचना भागों में विभक्त किया गया है। जो प्रतीकों की व्युत्पत्ति, शब्दार्थ, परिभाषा तथा आलोचना से सम्बन्धित है।

द्वितीय उपसर्ग को प्रतीक एवं संकेत, प्रतीक एवं बिम्ब तथा प्रतीक एवं अलंकार में बाँटा गया है। प्रतीक एवं अलंकार, प्रतीक एवं उपमा, प्रतीक एवं रूपक, प्रतीक एवं रूपकातिशयोक्ति तथा प्रतीक एवं अन्योक्ति में विभक्त है।

तृतीयोपशीर्षक में तात्विक विवेचन है जो कल्पना, बुद्धि, भाव एवं शैली में विभाजित है। चतुर्थ उपशीर्षक चयन क्षेत्र के वर्गों में तात्कालिक वातावरण, प्रकृति, पशु-पक्षी, शास्त्र-ज्ञान एवं घरेलू जीवन में वर्गीकृत है। पंचम उपशीर्षक वर्गीकरण से सम्बन्धित है। विद्वानों ने प्रतीकों का वर्णन विभिन्न रूपों में किया है जिसके परिणामस्वरूप दो से चौदह तक विभेद किये गये हैं। जिनका समाहार सांस्कृतिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, आलंकारिक, प्राकृतिक तथा पात्रात्मक वर्गों में किया गया है। इसी को विवेचना का आधार बनाया गया है। षष्ठ उपशीर्षक काव्य में प्रतीकों के महत्ता पर प्रकाश डालता है। उक्त अध्याय में प्रतीक विषयक विभिन्न मतों की विवेचना तथा इसके अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय सांस्कृतिक प्रतीकों का है जिसको दो उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है। प्रथम उपशीर्षक स्वरूप एवं व्याख्या से सम्बन्धित है, तथा द्वितीय संस्कार, उत्सव, भारतीय सांस्कृतिक तथा लौकिक एवं पारलौकिक में विभक्त है। संस्कार प्रतीक, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन जातकर्म तथा विवाह में विभाजित है। उत्सव के अन्तर्गत कुसुमोत्सव, जन्मोत्सव, पुत्र-प्राप्ति, राज्याभिषेक तथा प्रव्रज्या आदि के प्रतीकों का उल्लेख किया गया है। भारतीय संस्कृति के गार्हस्थ्य को गृहस्थी, प्रेम, वासना, पत्नी व्रत, पातिव्रत्य, मातृत्व, वात्सल्य, सुहागरात, नारी सुलभ दुर्बलता एवं नारी माहात्म्य आदि शीर्षकों में विवेचित किया गया है। धर्म, क्षमा, दया एवं त्याग में विभक्त है। भारतीय सांस्कृतिक प्रतीक के अन्त में स्वप्न दर्शन, पुनर्जन्म, आखेट, राजनीति, त्याज्यभोग, परोपकारिता, कर्तव्यपरायणता, सर्वस्वत्याग एवं आत्मोत्सर्ग, समन्वय, सामरस्य, मानवता, अनुदान, वसुधैव कुटुम्बकम् अधिकार, तीर्थयात्रा, आनन्द तथा मोक्ष का विवेचन किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम लौकिक एवं पारलौकिक भेद के लौकिक को अभिलाषा एवं अपशकुन में तथा पारलौकिक का प्रभेद अभिशाप किया गया है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत्, संसार, प्राकृति एवं भाषा के विद्या और अविद्या दोनों रूपों से सम्बन्धित प्रतीकों की विवेचना करके आत्मदर्शन एवं अद्वैत दर्शन, नश्वर-अनश्वर परिवर्तनशीलता तथा जीवंतता की विवेचना की गयी है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत, मन, बुद्धि, हृदय-प्रेम तथा मानसिक एवं शारीरिक वासना को अनेक उपभेदों में विवेचित किया गया है।

पंचम अध्याय में अलंकारिक उपमान, रूढ़ रूप में उपमान न रहकर प्रतीक बन जाते हैं जो बार-बार उसी अर्थ में योजित होते रहते हैं, इस मान्यता को दृष्टि में रखते हुए प्रतीक योजना के अन्तर्गत अलंकारिक प्रतीकों का एक अध्याय कर दिया गया है। इसमें औपभिक, रूपकीय, उत्प्रेक्षीय, व्यतिरेकी, सन्देहात्मक एवं मानवीकृत प्रतीकों का स्वतन्त्र विवेचन है। दृश्य एवं अदृश्य, स्थूल एवं सूक्ष्म को स्वतन्त्र स्थान न देकर इनका विवेचन मूर्त-अमूर्त प्रतीकों के अन्तर्गत ही किया गया है।

षष्ठ अध्याय प्राकृतिक प्रतीकों का है। इन प्रतीकों के विवेचन को नौ अनुभागों में विभक्त कर लिया गया है। प्रथम—वन, पर्वत, नदी, निर्झर, चट्टान, जल, समुद्र एवं लहरों के विवेचन में सम्बन्धित है तो द्वितीय वृक्ष, लता, कली, पुष्प, शाखा एवं वनस्पतिगत प्रतीकों का है। तृतीय—पशु-पक्षी, जीव-जन्तुगत प्रतीकों का और चतुर्थ आकाश, मेघ, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, प्रकाश अग्नि आदि से सम्बन्धित प्रतीकों में विवेचित है। पंचम से नवम् अनुभाग क्रमशः पवन, ऋतु, वस्तुपरक, सुखात्मक एवं दुःखात्मक प्रतीकों से सम्बन्धित हैं।

सप्तम अध्याय पात्रात्मक प्रतीकों का है। इसके अन्तर्गत मानवीय, पुरुष-नारी, अमानवीय तथा पशु-पक्षीगत वर्ग हैं। पुरुष पात्रों में मनु, कुमार, पुरुरवा एवं आयु का तथा नारी पात्रों में श्रद्धा, इड़ा, एवं उर्वशी एवं औशीनरी का विवेचन है। अमानवीय पात्र के अन्तर्गत, आकुलि, किरात का वर्णन है। पशु-पक्षीगत पात्रों में वृष, मृग तथा श्येन का प्रतीकात्मक विवेचन किया गया है।

उपसंहार को—विवेचित सामग्री पर दृष्टिपात एवं उपलब्धियों, प्रसाद एवं दिनकर की हिन्दी साहित्य को प्रतीकात्मक देन का मूल्यांकन तथा मौलिकता में विभाजित कर उपलब्धियों के अन्तर्गत सांस्कृतिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक तथा विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीकों की उपलब्धि के अन्तर्गत रखा गया है। साथ ही प्रसाद एवं दिनकर के विभिन्न प्रतीकों का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए हिन्दी साहित्य को इनकी देन पर विस्तृत विचार किया गया है। प्रसाद एवं दिनकर ने कामायनी एवं उर्वशी में जहाँ अनेक परम्परागत प्रतीकों की योजना भी है, वहाँ इनके मौलिक प्रतीक भी हैं। परम्परित प्रतीकों में भी परिवर्तन एवं संशोधन करके उनमें मौलिकता का पुट देकर उन्हें और भी सटीक बना दिया गया है।

प्रेमचंद साहित्य पर आर्यसमाज का प्रभाव

शोधकर्ता—सुरेन्द्र सिंह
निर्देशक—डॉ० प्रेमप्रकाश रस्तोगी
वर्ष—1979

उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो व्यापक लहर समूचे भारत में उत्पन्न हुई उसके जन्मदाताओं में आर्यसमाज का नाम भी अत्यन्त गौरव एवं श्रद्धा से स्मरण किया जाता है। आर्यसमाज धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन मात्र न था वरंच राष्ट्रीय भावनाओं को उद्वेलित एवं प्रसारित करने में भी उसका महनीय योगदान रहा है। आर्यसमाज ने व्यक्ति के निर्माण के साथ-साथ समाज और राष्ट्र के स्वरूप को भी अत्यन्त कुशलता से तराशा-सँवारा है। स्वधर्म, स्वराज्य, स्वभाषा और स्वदेशी इन चार प्रमुख आधारों पर आर्यसमाज ने अपनी रीति-नीति का निर्धारण किया है। यह राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध ही संघर्षरत नहीं रहा बल्कि मानसिक, धार्मिक और सामाजिक दासता के गहन कोहरे का उच्छेदन करने का शिव संकल्प भी उसने लिया। राष्ट्रीय शिक्षा, नारी-जागरण, दलितोद्धार, अस्पृश्यता विवरण, जाति-प्रथा निषेध, जन्मजात वर्ण-व्यवस्था के खण्डन आदि का रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत कर उसने अपनी ज्वलंत देशभक्ति का परिचय दिया है। आर्यसमाज के इस विराट तेजस्वी और कर्मण्य रूप ने भारतीय चेतना को गतिशील बनाने में सहयोग ही नहीं दिया अपितु उसे निश्चित आयाम प्रदान करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

आर्य समाज के इस व्यापक एवं गहन प्रभाव को विविध क्षेत्रों में स्वीकार ही नहीं किया गया वरंच उसकी महोपलब्धियों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा भी की गई है, किन्तु इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि साहित्यिक क्षेत्र में उसके प्रभाव अथवा योगदान को अन्यमनस्कता अथवा उपेक्षा के गह्वर में डाल दिया गया है। वस्तुतः आर्यसमाज अपने युग का सर्वाधिक सशक्त और प्रभावशाली आन्दोलन था, अतः उसके प्रभाव से अपने को बचाये रखना किसी भी जन-साहित्यकार के लिए सहज

नहीं था। किन्तु, न जाने क्यों इस प्रभाव को स्वीकारने की सूझ हिन्दी के आलोचक वर्ग में अंगड़ाई न ले सकी। हिन्दी के स्वनामधन्य इतिहासज्ञ श्री रामचन्द्र शुक्ल भी आर्यसमाज का मूल्यांकन एक-दो पंक्तियों में करके निष्ठुरता से आगे सरक जाते हैं। आर्यसमाज के प्रति यह अन्याय किन पूर्वाग्रहों के कारण हुआ, कहना-समझना कठिन है। यह प्रवृत्ति उस समय और अधिक दुःखदायी प्रतीत होती है जब आर्यसमाज की हिन्दी सेवाओं का उल्लेख जोर-शोर से किया जाता है।

प्रेमचन्दजी का हिन्दी कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उनके समाज-सापेक्ष दृष्टिकोण की व्याख्या अधिकांश आलोचकों ने विस्तारपूर्वक की है, किन्तु आश्चर्य है कि ऐसा करते समय इस तथ्य को सर्वथा विस्मृत कर दिया गया है कि प्रेमचन्द के विचारों पर सर्वाधिक प्रभाव आर्यसमाज का ही अंकित रहा है। प्रेमचन्द-साहित्य का मूल्यांकन करते समय यदि आर्यसमाज को भुला दिया जाता है तो इसे आर्य-समाज के प्रति ही नहीं, प्रेमचन्द के प्रति भी अन्याय माना जाएगा। प्रेमचन्द साहित्य के मर्मज्ञ आलोचकों ने आर्यसमाज और प्रेमचन्द के पारस्परिक सम्बन्धों का तलस्पर्शी अध्ययन करने की या तो चेष्टा ही नहीं की और यदि की भी है तो वह प्रयास मरते के मुँह में दो बूँद गंगाजल छोड़ने के सदृश रहा है। श्री मन्मथनाथ सरीखे आलोचक ने तो इस भय से इस प्रभाव को कतई अस्वीकार कर दिया है कि कहीं प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता के चौखटे में ही न जकड़े जायें।

अनुसंधान तथ्यपरक होता है, अतः इस प्रकार के भय व आशंका से उसे परहेज है। इस आशंका से अनुसंधान की पकड़ यदि ढीली पड़ जाती है तो निष्पक्ष चिन्तन के कपाट बंद होने के खतरे को टालना दुष्कर हो जाएगा। तथ्य को उसके यथार्थ रूप में स्वीकारना ही सच्चे शोध की कसौटी है। पहले ही निष्कर्ष स्थिर करके अनुसंधान का पथ प्रशस्त करना शोध के उद्देश्य के प्रतिकूल है। प्रेमचन्द साहित्य को समझने के लिए प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन के विधायक तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान अर्जित करना नितांत वांछनीय है। प्रेमचन्दजी उस समय आर्यसमाज के प्रभाव में आए जब आर्यसमाज अपने चरमोत्कर्ष पर था। सुतरां, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को उसके प्रभाव से मुक्त रखना प्रवंचना मात्र है, कल्पनाप्रसूत निष्कर्ष है। इस भूल का परिमार्जन करना प्रस्तुत शोध प्रबंध का प्रतिपाद्य विषय है। अनुसंधान एक सतत् प्रक्रिया है अतः अंतिम निष्कर्ष का दावा तो नहीं किया जा सकता किंतु प्रेमचंद साहित्य पर आर्यसमाज के प्रभाव को रेखांकित करने का विनम्र एवं पूर्वा-ग्रह रहित प्रयास इस शोध प्रबंध में अवश्य किया गया है। आर्यसमाज को दृष्टि-पथ में रखकर प्रेमचंदजी पर पड़नेवाले आर्यसमाज के विभिन्न प्रभावों के अनु-शीलन का व्यवस्थित अथवा ठोस प्रयास आज तक हिन्दी में नहीं हुआ है। कतिपय अनुसंधित्सुओं ने आंशिक रूप में ही इस ओर एक-दो पग उठाये हैं। इस दृष्टि से इस दिशा में यह एक मौलिक और सफल प्रयास माना जा सकता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध दस परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में तात्कालिक सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक और राजनीतिक दशा का अध्ययन और एतद्विषयक् उन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है जो भारतीय जनमानस को उद्वेलित कर रही थीं।

द्वितीय परिच्छेद में उन तथ्यों को अनावृत किया गया है जो प्रेमचंद और आर्यसमाज के अटूट सम्बन्धों पर समुचित प्रकाश डालते हैं।

तृतीय परिच्छेद में प्रेमचंद और आर्यसमाज के भाषा विषयक् विविध विचारों साम्य दिखाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद में आर्यसमाज और प्रेमचन्द के धार्मिक तथा दार्शनिक मंतव्यों का तुलनात्मक विवेचन हुआ है।

पंचम परिच्छेद में आर्यसमाज की समाजोद्धार योजना के प्रेमचंद साहित्य पर पड़े प्रभाव का निरूपण हुआ है।

षष्ठ परिच्छेद में आर्यसमाज और प्रेमचंद की स्वदेश-भक्ति का उल्लेख हुआ है।

सप्तम परिच्छेद में आर्यसमाज के महिला जागरण के प्रयासों का वर्णन करते हुए प्रेमचंद का उनसे साधर्म्य सिद्ध किया गया है।

अष्टम परिच्छेद में प्रेमचंद के विभिन्न प्रेरणा स्रोतों का अध्ययन करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि अथ से इति तक उनके चिंतन पर एकमात्र आर्यसमाज का प्रभाव ही अक्षुण्ण रहा है।

नवम् परिच्छेद में मार्क्स के समाजवादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आर्यसमाज और गाँधी तथा उनसे प्रभावित प्रेमचंद के समाजवादी विचारों का उल्लेख हुआ है।

दशम् परिच्छेद में साहित्य, शिक्षा, जीवन, परिवार, दाम्पत्य जीवन, धर्म और अर्थ सम्बन्धी प्रेमचंद और आर्यसमाज के आदर्शों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। अंत में उपसंहार है।

स्वामी दयानन्द और मुंशी प्रेमचंद का आविर्भाव संक्रान्तिकाल में हुआ था। उस कालखण्ड में राजनीतिक पराधीनता, सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक अंध-विश्वासों के कारण भारतीय जनमानस आत्महीनता के गर्त में पड़ा छटपटा रहा था, भारत की परम्परागत सभ्यता एवं संस्कृति को कलुषित करने का नियोजित षड्यंत्र साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा चलाया जा रहा था तथा आर्थिक पिछड़ेपन और अशिक्षा के कारण भारतीयों का रहा-सहा विश्वास व उत्साह भी खण्डित हो चुका था। इस विकट भयावह और दयनीय स्थिति से राष्ट्र को उबरने का जिन युगपुरुषों ने शिव संकल्प लिया उनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम उल्लेख-नीय है। उन्होंने अपने भगीरथ प्रयासों से चहुँमुखी सुधार की धारा जन-मानस में प्रवाहित की और भारतीयों में आत्मगौरव के भाव उत्पन्न किये। उनके आर्य-

समाज ने राष्ट्र, धर्म और संस्कृति के प्रति अखण्ड प्रेम और निष्ठा का संचार देशवासियों में किया। सुतरां अपने ही स्वार्थों में लिप्त भारतीय जनता को स्वाधीनता एवं स्वाभिमान का बोध हुआ और वह त्याग तथा बलिदान के पथ पर अग्रसर हुई। प्रेमचन्दजी इसी पथ के पथिक थे। उन्होंने आर्यसमाज के बहुमुखी कार्यक्रम को अपने साहित्य में प्रतिष्ठित करके आर्यसमाज और राष्ट्र के प्रति अपनी अखण्ड आस्था तथा भक्ति प्रकट की है।

प्रेमचन्दजी और आर्यसमाज की घनिष्ठता का आधार विचारों की समानता तो रहा ही है, इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि वे आर्य समाज के नियमित सदस्य थे और आर्यसमाज के साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं व सामयिक गतिविधियों में विशेष रुचि रखते थे। प्रेमचन्दजी यावज्जीवन अर्यसमाज के हितचिन्तक बने रहे और इसी कारण समय-समय पर शुद्धि आन्दोलन, खण्डनात्मक साहित्य और यज्ञ में अनियमित सामग्री नष्ट करने आदि विषयों पर अपना मतभेद भी प्रकट किया। उनका प्रेम, सद्भावना और विश्वास आर्यसमाज से गुथित रहा है और यही कारण था कि उनके देहावसान को आर्यसमाज ने अपनी क्षति समझा।

प्रश्न चाहे राष्ट्रभाषा हिन्दी का रहा हो अथवा सामाजिक कुरीतियों व धार्मिक अंधविश्वासों के उन्मूलन का, प्रेमचन्दजी आर्यसमाज के सहयोगी और सहगामी के रूप में आगे आये। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में आर्यसमाज ने जो-जो कीर्तिमान स्थापित किये, प्रेमचन्दजी ने उनसे प्रेरणा, साहस और प्रभाव ग्रहण किया तथा अपनी रचनाओं में उसे मूर्तिमंत किया। वस्तुतः प्रेमचन्दजी आर्यसमाज के साहित्यिक पुरोधा थे। उनकी रचनाओं में समाजोद्धार का इतना प्रखर ओज झलकता है कि वे 'सत्यार्थ-प्रकाश' का ही संशोधित संस्करण प्रतीत होती है।

स्वामी दयानन्द और उनके आर्यसमाज ने जो भी कार्यक्रम प्रस्तुत किया उसमें अखण्ड राष्ट्रीयता के भाव विद्यमान थे। सांस्कृतिक मूल्यों के पुनर्स्थापन, गुण-कर्म स्वभाव पर आधारित वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्योद्धार, जाति-पाँति का उन्मूलन, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता, पाश्चात्य जीवन-दर्शन की भर्त्सना और स्वदेशी का प्रचार—ये सभी कार्य आर्यसमाज की उत्कट देशभक्ति के ज्वलंत प्रतीक हैं। राजनीतिक पराधीनता से मुक्त होने की राष्ट्रव्यापी गुहार लगाने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति स्वामी दयानन्द ही थे। उनके स्वप्नों को साकार करने के निमित्त आर्यसमाज ने जहाँ सुधार पर बल दिया, वहाँ विदेशी शासन के प्रति असंतोष और विद्रोह की अग्नि भी प्रचण्ड की। आर्यसमाज के इन क्रिया-कलापों के प्रेमचन्दजी मूक-द्रष्टा नहीं बन बैठे अपितु आर्यसमाज के स्वाधीनता के सिंहनाद और गहन असन्तोष को उन्होंने अपनी रचनाओं में अत्यन्त निर्भीक, भव्य और मर्मस्पर्शी रूप में चित्रित एवं अभिव्यक्त किया है। राष्ट्र-प्रेम और देशोद्धार की जिस छटपटाहट के दर्शन प्रेमचन्द-साहित्य में होते हैं उसका आर्यसमाज की राष्ट्रीय विचारधारा से

स्वतःसिद्ध साधर्म्य है।

महिला जागरण आर्यसमाज के सुधारोद्धार कार्यक्रम की अभिन्न कड़ी थी। वैदिक नारी का आदर्श अपने समक्ष रखकर आर्यसमाज ने नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया और वैवाहिक कुरीतियों के उन्मूलन तथा दाम्पत्य जीवन की विषमताओं के परिमार्जन का ठोस प्रयास किया। आर्यसमाज ने भारतीय नारी में स्वत्व की रक्षा की भावना ही जाग्रत नहीं की वरंच नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता भी उसमें उत्पन्न की। प्रेमचन्दजी ने इसी आधार को सामने रखकर अपनी रचनाओं में नारी-जाति के सुधार पर विशेष ध्यान दिया है। पाश्चात्य जीवन-मूल्यों से भारतीय नारी को सचेत करते हुए प्रेमचन्दजी ने सहिष्णुता, त्याग, लज्जा, क्षमा, करुणा, वात्सल्य और शालीनता आदि नारी के स्वाभाविक गुणों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया। वह नारी को विलासिता की पुतली के रूप में नहीं बल्कि साध्वी नारी के रूप में देखने के इच्छुक थे। अबला नारी को सबला बनाने का उनका मनोरथ अनेक रचनाओं में प्रकट हुआ है।

प्रेमचन्दजी ने ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्णमिशन और थियोसोफिकल सोसायटी के इतिहास एवं दर्शन का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। टालस्टाय और गाँधी की विचारधारा से भी वे प्रभावित रहे। किन्तु निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उन पर आर्यसमाज का ही रंग अधिक गहरा और चिरस्थायी रहा है। असंदिग्ध रूप में उनका आदर्शवाद आर्यसमाज की गरिमा से ही मण्डित है। अन्य प्रचलित विचारधाराओं का प्रभाव उनकी रचनाओं में ढूँढ़ा जा सकता है किन्तु वह प्रभाव आर्यसमाज की कसौटी पर सही उतरकर ही प्रकट हो सका है। आर्य-समाज के चिरन्तन, शाश्वत, सर्वकालिक एवं सार्वभौमिक सिद्धान्तों की अवहेलना करना वैसे भी एक आदर्शवादी रचयिता के लिए सम्भव नहीं था।

प्रेमचन्द युग में राजनीतिक एवं आर्थिक चिन्तन के रूप में समाजवाद की विशेष चर्चा रही है। आर्यसमाज और गाँधीजी ने भारतीय परम्परा के परिप्रेक्ष्य में इसका मूल्यांकन तथा विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत के प्राचीन समाजवाद की तुलना में मार्क्स का समाजवाद अपरिपक्व और अधूरा है। उनकी दृष्टि में अपरिग्रह, विश्वमातृत्व और समानता के उच्चादर्शों से आर्थिक विषमता को निभाया जा सकता है। नयी वस्तु के प्रति मनुष्य का आकर्षण स्वाभाविक ही है। अतः प्रेमचन्दजी भी समाजवाद की ओर झुके। यह झुकाव कालान्तर में स्थिर नहीं रह सका और उन्होंने भारतीय समाजवाद में ही आस्था प्रकट की।

प्रेमचन्दजी ने साहित्य, शिक्षा, धर्म, अर्थ और जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया और जो आदर्श निश्चित किए उनका पूरा तालमेल आर्यसमाज के एत-द्विषयक दृष्टिकोण व आदर्शों से बैठता है। आर्यसमाज जिस मर्यादा और गौरव को पुनरुज्जीवित करने के लिए संघर्षरत रहा वही मर्यादा और गौरव प्रेमचन्दजी की

पूँजी और निधि थी। पश्चिम की स्वार्थपरता, धनलोलुपता और स्वेच्छाचारिता की विभीषिका से उन्होंने अपने पाठकों को सतत् सावधान किया है और भारतीय मूल्यों के प्रति निष्ठावान रहने का आह्वान किया है।

आर्यसमाज प्रेमचन्दजी के आदर्शों की स्थिर कसौटी ही नहीं, प्रामाणिक मापदण्ड भी है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रेमचन्द ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लुटाकर मतवाद के समक्ष घुटने टेक दिये थे। निःसन्देह आर्यसमाज ने प्रेमचन्दजी को दिशा-बोध दिया, चिन्तन शैली प्रदान की, मर्यादा की गरिमा भेंट की, तथापि प्रेमचन्द के विचार मतवाद के प्रभाव से सर्वथा अछूते रहे हैं। उनका चिंतन संकीर्णता से नितान्त मुक्त और मौलिक है। आर्यसमाज से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने साहित्य के औचित्य, उसकी सार्थकता और मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखा है। वे बात तो आर्यसमाज की ही करते हैं किन्तु आसर्यमाज से अपरिचित पाठक को यह आभास तक नहीं होता कि उनके दृष्टिपथ में आर्यसमाज का ही स्थान एवं महत्ता सर्वोपरि है। यही उनके साहित्य की विशेषता, मौलिकता और मर्यादा है। उनकी सम्प्रदाय निरपेक्ष और समाज-सापेक्ष विमल दृष्टि में जीवन के प्रत्येक स्तर पर स्वाधीनता, समानता, सम्पन्नता और आत्मगौरव से मण्डित 'मानववाद' को प्रतिष्ठित करना अपरिहार्य कर्तव्य था। इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे यावज्जीवन संघर्षरत रहे। यही उनकी महानता और उनके साहित्य की सार्थकता है।

ब्रजभाषा के रीतिकालीन ऐतिहासिक चरितकाव्य

शोधकर्ता—रवीन्द्र कुमार अग्रवाल
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1979

हिन्दी में रीतिकालीन साहित्य पर पर्याप्त अनुसंधान-कार्य हुआ है। इस अनुसंधान कार्य का आधार या तो रीतिकालीन काव्य के उन्मेष को व्यक्त करने के लिए ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण रहा है, यथा—रीतिकालीन काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० वेंकटरमन राव और रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—शिवलाल जोशी अथवा रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों के स्तोत्रगत अनुसंधान अथवा विचार और विश्लेषण को आधार मानकर 'रीति स्वच्छन्द धारा'—डा० कृष्णचन्द्र वर्मा, रीतिकाव्य के स्रोत—डा० रामजी मिश्रा, हिन्दी काव्यशास्त्र में रससिद्धान्त—डा० सच्चिदानन्द चौधरी, वक्रोक्ति सिद्धान्त के परिवेश में रीतिकालीन काव्य का अध्ययन—डा० रहतूलाल आर्य, रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन—डा० ओमप्रकाश वर्मा, रीतिकालीन काव्य में लक्षण का प्रयोग—डा० अरविन्द पाण्डेय, हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, व्रजभाषा रीतिशास्त्र कोश—जवाहरलाल चतुर्वेदी, हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास—डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल, हिन्दी काव्यशास्त्र में दोष विवेचन—डॉ० रणवीर सिंह, रसाभास का विवेचन : हिन्दी रीतिकाव्य के परिप्रेक्ष्य में—डा० प्रशान्त कुमार, रीतिकालीन कवियों की बिम्ब योजना—डा० भानु कुमार जैन, रीतिकालीन काव्य में प्रतीक विधान—डा० रामस्वरूप शर्मा, नायिका-भेद : उद्‌भव और विकास—डा० कृष्णानन्द दीक्षित, रीतिकालीन शृंगारभावना स्रोत—डा० सुधीर कुमार शर्मा, रीतिकालीन काव्य में शृंगाररस का विवेचन—ड० रामेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, नायक-नायिकाभेद—डा० राकेश गुप्त, हिन्दी काव्य में नख-शिख वर्णन—डा० गिरिराज किशोर, हिन्दी काव्यशास्त्र में शृंगाररस—डा० रामलाल वर्मा और मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ—डा० परशुराम चतुर्वेदी

ने शोध कार्य किया है ।

रीतिकालीन कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर किये गये कार्य—आचार्य कुलपति मिश्र : व्यक्तित्व और कृतित्व—डा० विष्णुदत्त राकेश, ग्वाल : व्यक्तित्व और कृतित्व—डा० भगवान सहाय पचौरी, भगवन्तराय खीची और इनके मंडल के कवि—डा० महेन्द्र प्रतापसिंह, आचार्य अमीरदास और उनका साहित्य—डा० रामप्रकाश, सुखदेव मिश्र : जीवनी तथा कृतियाँ—डा० दुर्गाशंकर मिश्र और आचार्य हरिचरणदास—डा० सुधा गर्ग के अतिरिक्त रीतिकाव्य के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन—डा० विष्णुदत्त राकेश, हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और कवि बिहारी—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन—डा० नगेन्द्र नगाइच, रीतिकालीन ऋतुवर्णन के परिप्रेक्ष्य में सेनापति के काव्यों का अध्ययन—डा० चन्द्रपाल शर्मा एवं मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत कविता और मतिराम—डा० त्रिभुवन सिंह का अनुसंधानकार्य रीतिकालीन आचार्य कवियों की काव्यशास्त्रीय अवधारणा पर हुआ है ।

रीतिकाल में रीति साहित्येतर प्रवृत्तियों पर डा० पंजाबीलाल शर्मा का—रीतिकालीन निर्गुण भक्ति काव्य, डा० (कु०) मंजुला अग्रवाल की—'रीतिकालीन काव्य में शृंगारेतर प्रवृत्तियाँ' डा० बच्चनसिंह की—रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, डा० देवीशंकर अवस्थी की अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेम-भक्ति, डा० नित्यानन्द शर्मा का उत्तर मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भक्ति का स्वरूप और डा० उषापुरी का रीतिकालीन काव्य में भक्ति तत्व उल्लेखनीय अनुसंधान कार्य है ।

शिल्प की दृष्टि से रीति कवियों की प्रबन्ध-योजना पर भी शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं । इस दृष्टि से डा० टीकमसिंह तोमर का हिन्दी वीरकाव्य और डा० इन्द्रपालसिंह इन्द्र का रीतिकालीन हिन्दी के प्रबन्ध काव्य उल्लेखनीय शोध-कार्य हैं । इन दोनों शोध प्रबन्धों में चरितकाव्यों पर भी विचार किया गया है । किन्तु इतिहास के विशाल फलक पर उक्त रचनाओं का अध्ययन करने की अपेक्षा विद्वानों ने पौराणिक चरितकाव्यों अथवा अतिरंजनात्मक प्रशस्ति काव्यों का ही विचार किया है ।

रीति कवि दरबार में रहता था और अर्थ-लोलुप होने के कारण या तो आश्रय दाताओं की कामवृत्ति की तुष्टि करता था अथवा आश्रयदाताओं की कल्पित वीरता की अतिरंजनापूर्ण प्रशस्तियाँ लिखता था । इस भ्रान्त धारणा के कारण रीतिकवियों के ऐतिहासिक अवदान को झुठलाया गया । डा० महेन्द्रप्रतापसिंह ने छत्रसाल को आधार बनाकर और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रा तथा डा० राजमल बोरा ने भूषण को लक्ष्य करके उनके इतिहासबोध को उजागर करने का

प्रयत्न किया है। यह कार्य अनुसंधान की दिशा देता है। किन्तु सीमित क्षेत्र में अध्ययन के कारण उस युग के समूचे ऐतिहासिक चरितकाव्य की विशेषताओं को उजागर नहीं कर पाता।

प्रस्तुत अनुसंधान इसी अभाव की पूर्ति के लिए किया गया एक सफल प्रयास है। इसमें पहली बार ज्ञात और अज्ञात अठारह काव्यग्रन्थों का ऐतिहासिक परि-प्रेक्ष्य में अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम चरितकाव्य की परिभाषा और उसके भेदों का विवेचन है, तत्पश्चात् ऐतिहासिक चरितकाव्य की परम्परा और इतिहास का विश्लेषण किया गया है। चरितकाव्य का आधार तटस्थ इतिहास दृष्टि का विश्लेषण होता है इसमें इसे भी स्पष्ट किया गया है। अन्त में रीतिकालीन ऐतिहासिक चरित-काव्यों की पृष्ठभूमि और उनके स्रोतों का परीक्षण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में तद्युगीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि परि-स्थितियों का विश्लेषण है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस तरह उस युग में मुगल राज्यतन्त्र का विखण्डन और देशी रियासतों का अभ्युदय हो रहा था तथा लोगों में वीर पूजा की भावना बढ़ रही थी। इसी क्रम में दक्षिण तथा उत्तर भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करते हुए आलोच्य साहित्य पर इन सबके प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय में सर्वप्रथम ऐतिहासिक चरितकाव्यों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है तत्पश्चात् उपलब्ध प्रमुख रचनाएँ और रचनाकारों का उल्लेख है। प्रस्तुत प्रबन्ध में जिन अठारह ऐतिहासिक चरितकाव्यों को अध्ययन का आधार बनाया गया है, वे हैं—आचार्य कुलपति मिश्र कृत सेवा की वारि, मानकवि कृत राजविलास, चन्द्रसेन सेनापति कृत—गुरुशोभा, अणीराम कृत जंगनामा श्री गुरु गोविन्दसिंहजी का, कृष्णभट्ट कृत रासा जाजऊ को तथा साँभरयुद्ध, गोरेलाल कृत छत्रप्रकाश, लघुराम कृत छत्रप्रकाश, सदानन्द कृत रासा भगवन्तसिंह का, गोपाल कृत भगवन्त विरुदावली, मुहम्मद खाँ कृत भगवन्त राय खीची का जंगनामा, सुदन कृत सुजान चरित, जाचिक जीवण कृत प्रताप रासो, पद्माकर कृत हिम्मत बहादुर विरुदावली, महेश कृत हम्मीर रासो, जोधराज कृत हम्मीर रासो, ग्वाल कृत हम्मीर हठ तथा चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत हम्मीर हठ।

चतुर्थ अध्याय तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में चरितकाव्यों के नामकरण की प्रवृत्ति, परम्परा और उनके प्रयोगगत औचित्य पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड में चरितकाव्यों के वर्ण्य-भाषा, अलंकार, छन्द, रस आदि का विवेचन है। तृतीय खण्ड में आलोच्य कृतियों में रीतिपरकता की जाँच-परख की गयी है।

पंचम अध्याय आलोच्य ग्रन्थों में प्राप्त ऐतिहासिक सन्दर्भों के औचित्य-विवेचन से सम्बन्धित है। इसके साथ ही इसमें अन्तरंग तथा बहिरंग सामग्री की इतिहास सम्मत परीक्षा भी की गयी है।

अन्त में उपसंहार है, जिसमें शोध प्रबन्ध का सार समाहित है।

भाव सम्पदा और शिल्प की दृष्टि से रीतिकाव्य हिन्दी के मध्यकाल का अत्यन्त समृद्ध अंग है। इस युग में केवल शृंगारी काव्य ही नहीं लिखा गया अपितु आश्रयदाताओं के वीर चरित को उजागर करने के लिए तथा तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं पर प्रकाश डालने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर वर्णनात्मक काव्यों की रचना हुई। इसके लिए संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की चरित लेखन की परम्परा ही उत्तरदायी नहीं रही अपितु फारसी कवियों की इतिहास लेखन की परम्परा ने भी इन कवियों को प्रभावित किया।

उत्तर-भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि मुगल शासक और मुगलेत्तर रियासतों तथा बाह्य विदेशी शक्तियों का संघर्ष बढ़ रहा था। हिंदी के तत्कालीन रीति कवियों ने दरबारी रचनाधर्मिता में इस युगबोध को प्रमुखता दी और उसने इतिहाससिद्ध घटनाओं को काव्यबद्ध किया। उसका यह कार्य कवि का ही नहीं इतिहास निर्माता का भी पूर्ण दायित्व वहन करता है। इन ऐतिहासिक चरित काव्यों की रचना ब्रजभाषा में हुई जिसमें खड़ी बोली, बुन्देली, राजस्थानी और पंजाबी के साथ अरबी-फारसी के शब्दों का भी व्यापक प्रयोग मिलता है।

1650 से 1857 के अन्तराल में उपलब्ध 18 रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक चरित काव्य-परम्परा महज संयोग नहीं थी वरन् यह राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में प्रस्तुत हुई। इस पक्ष को इस प्रबन्ध में सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है और इससे उस अभाव की पूर्ति हो जाती है जिसमें कहा जाता है कि मध्यकालीन भारतीय साहित्य के पास इतिहास लेखन की योजनाबद्ध दृष्टि नहीं थी। इस शोध का प्रतिपाद्य भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की रूपरेखा ही प्रस्तुत करता है। युद्ध का परिवेश, युद्ध का कारण, युद्ध के मूल्य और आदर्श, सैनिकों का कौशल, युद्ध संचालन आदि तथ्यों का विवेचन करने से यह धारणा और भी पुष्ट होती है।

इन कवियों का साहित्य-शास्त्रीय ज्ञान भी प्रौढ़ था। भाषा, अलंकार, छन्द, रस सभी दृष्टियों से इनकी रचना उत्कृष्ट सिद्ध होती है। यदि इन चरितकाव्यों का रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, दण्ड नीति, धर्मशास्त्र, भौगोलिक परिवेश, श्रुति स्मृति मूलक धर्म तथा विदेशी सांस्कृतिक मूल्यों की विकृति आदि की दृष्टि से सांस्कृतिक अध्ययन किया जाय तो यह रचनाएँ एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य से लिखी जान पड़ती हैं। हिन्दी में रीतिकालीन साहित्य पर पर्याप्त अनुसंधान-कार्य हुआ

है। इस अनुसंधान-कार्य का आधार या तो रीतिकालीन काव्य के उन्मेष को व्यक्त करने के लिए ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण रहा है, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इन समस्त दिशाओं का निर्देश किया गया है।

अन्त में सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि 17वीं शती के मध्य से 19वीं के मध्य तक ब्रजभाषा में लिखा गया ऐतिहासिक चरितकाव्य युगबोध, इतिहास दृष्टि और काव्य-सौन्दर्य की कसौटी पर खरा उतरता है और रीतिकाल के श्रृंगारेत्तरपक्ष का उद्‌घाटन कर यह सिद्ध करता है कि रीतिकाव्य तत्कालीन जन-जीवन से कटा हुआ नहीं अपितु सर्वतोभावनेन जुड़ा हुआ है।

विषय-क्रम

विषय प्रवेश

उपलब्ध आलोचनात्मक सामग्री का परीक्षण।
प्रस्तावित शोध की आवश्यकता।

प्रथम अध्याय

चरितकाव्य, ऐतिहासिक चरितकाव्य परम्परा और इतिहास, चरितकाव्यों का आधार, तटस्थ इतिहास दृष्टि का विश्लेषण, रीतिकालीन ऐतिहासिक चरितकाव्यों की पृष्ठभूमि, स्रोतों का परीक्षण।

द्वितीय अध्याय

मुगल राज्यतन्त्र का विखण्डन, देशी रियासतों का अभ्युदय, वीरपूजा, राजकीय प्रेरणा, रीतिकालीन कवि की इतिहास चेतना, दक्षिण तथा उत्तर भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, राष्ट्रीय परिकल्पना, आलोच्य साहित्य पर प्रभाव।

तृतीय अध्याय

ऐतिहासिक चरितकाव्यों का वर्गीकरण, उपलब्ध प्रमुख रचनाएँ और रचनाकार—

आचार्य कुलपति मिश्र—सेवा की वारि, मानकवि—राजविलास, चन्द्रसेन सेनापति—गुरु शोभा, अणीराय—जंगनामा श्री गुरु गोविन्दजी का, कृष्ण-भट्ट—रासा जाजऊ कौ तथा साँभर युद्ध, गोरेलाल—छत्रप्रकाश, लघुराम—छत्रप्रकाश, सदानन्द—रासा भगवन्तसिंह का, गोपाल—भगवन्त विरुदावली, मुहम्मद खाँ—भगवन्तराय खीची का जंगनामा, सूदन—सुजान चरित्र,

जाचिक जीवण—प्रताप रासो, पद्माकर—हिम्मत बहादुर विरुदावली, महेश—हम्मीर रासो, जोधराज—हम्मीर रासो, ग्वाल—हम्मीर हठ, चन्द्रशेखर वाजपेयी—हम्मीर हठ।

चतुर्थ अध्याय

1. चरित काव्यों के नामकरण की प्रवृत्ति—रासो, विरुदावली, चरित, विलास, प्रकाश, जंगनामा, वारि; परम्परा और प्रयोगगत औचित्य।
2. चरितकाव्यों का वर्ण्य-भाषा, अलंकार, छन्द, रस।
3. आलोच्य कृतियों की रीतिपरकता।

पंचम अध्याय

ऐतिहासिक संदर्भों का औचित्य, अंतरंग तथा बहिरंग सामग्री की इतिहास-सम्मत परीक्षा।

उपसंहार

परिशिष्ट 1. दुर्लभ हस्तलेखों की प्रति छवि।
2. मुद्रित तथा अमुद्रित ग्रन्थ सूची।

संत गरीबदास कृत ग्रंथ साहिब का साहित्यिक तथा दार्शनिक आधार

शोधकर्त्ता—बीनाकुमारी
निर्देशक—विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1979

हिन्दी में संत साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। विषय, साधना-पद्धति एवं अभिव्यक्तिगत सौष्ठव की अद्‌भुत समानताएँ इस काव्यधारा में मिलती हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पनपनेवाली इस काव्यधारा में तत्कालीन भारतीय जनजीवन के विचार बिन्दु भी फैले हुए मिलते हैं। अंधविश्वासों से जकड़े हुए परम्पराबद्ध जड़ संस्कारों पर चोट करते हुए भारतीय जीवन को सामाजिक-धार्मिक मुक्ति दिलाने का कार्य इन संतों ने किया। इन्हीं संतों में एक विशिष्ट नाम संत गरीबदासजी का भी है। भक्ति साहित्य में गरीबदास नाम के चार संतों का उल्लेख है। उनमें एक हैं संत दादूदयाल के पुत्र गरीबदास, जिन्होंने अपने पिता के उत्तराधिकार के रूप में गद्दी ग्रहण की। दूसरे गरीबदास बावरी पंथ की हरलाल शाखा में हुए हैं। तीसरे गरीबदास कबीर पंथ की बारह प्रमुख शाखाओं के संस्थापकों में से एक शाखा के संस्थापक थे। चतुर्थ गरीबदास निर्गुण भक्ति साहित्य के इतिहास में गरीबदासीय मत के प्रवर्त्तक हैं जिनका जन्म रोहतक जिले के छुड़ानी ग्राम में हुआ था। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन्हीं छुड़ानी निवासी संत गरीबदास के साहित्य को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

संत गरीबदास पर उपाधि निरपेक्ष दृष्टि से आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी कृति 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। कृति के षष्ठ अध्याय में संक्षिप्त परिचय, गार्हस्थ्य परिचय, गार्हस्थ्य जीवन, रचनाएँ, मत, साधना तथा स्वभाव शीर्षक से गरीबदासीय पंथ की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। इसमें गरीबदासजी की सम्पूर्ण वाणियों का परिचय नहीं प्राप्त होता।

डा० धीरेन्द्र वर्मा के सम्पादन में प्रकाशित हिन्दी साहित्यकोश भाग 2 में

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने गरीबदासजी का संक्षिप्त परिचय दिया है।

डा० नगेन्द्र के सम्पादन में प्रकाशित हिन्दी साहित्य का इतिहास में इनका मात्र नामोल्लेख है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्देशक—डा० विष्णुदत्त राकेश ने 'उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास' में प्रथम बार प्रामाणिक रूप से गरीबदासजी की रचनाओं, शिष्य परम्पराओं और दार्शनिक दृष्टियों का विवरण प्रस्तुत किया है। यह विवरण सूत्र काव्य में है। इसमें गरीबदासजी की रचना 'ग्रन्थ साहिब' का दार्शनिक तथा साहित्यिक विवेचन अपर्याप्त है।

डा० भगीरथ मिश्र के सम्पादन में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास—भाग 7 में केवल छुड़ानी के गरीबदास का नामोल्लेख मात्र है।

उपाधि सापेक्ष कार्यों में डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने 'तन्त्र और संत' में सुरत शब्द योग प्रकरण में तिल और आत्मा के निवास स्थान संकेत से गरीबदास की पंक्ति उद्धृत कर उनकी साधना पर प्रकाश डाला है।

अंग्रेजी में डा० के०सी० गुप्त को गरीबदास, 'हरियानाज सेण्ट आफ ह्यूमेनिटी' पर पटियाला से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। इन्होंने अपने इस प्रबन्ध में क्रमशः आवर्त आन्दोलन का उद्भव, गरीबदास की जीवनी, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति, गरीबदास का धर्म और दर्शन, गरीबदास पर कबीर और नानक का प्रभाव, गरीबदास की भाषा और कविता का विवेचन किया गया है। यह प्रबन्ध अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण है।

उक्त सर्वेक्षण के बाद यह आवश्यक हो गया कि गरीबदासीय ग्रन्थ साहिब का दार्शनिक और साहित्यिक दृष्टि से सविस्तार गम्भीर अध्ययन किया जाय। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी अभाव की पूर्ति है। इसमें ग्रन्थ साहिब का परिचय, आधारभूत स्रोतों का परिचय, ग्रन्थ साहिब की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक पृष्ठभूमि, गरीबदास का इतिहासबोध, ग्रन्थ साहिब की दार्शनिक पृष्ठभूमि, विभिन्न मतवाद, काव्य-वस्तु, रस-योजना, छंद-योजना, अलंकार-योजना, राग-योजना तथा निर्गुण तत्त्व-वाद के प्रमुख विचारबिन्दुओं पर गम्भीर सामग्री प्रस्तुत की गयी है।

समग्र शोध प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभाजित है। आरम्भ में विषय प्रवेश है, जिसमें संत साहित्यविषयक गवेषणा ग्रन्थों में प्राप्त गरीबदास विषयक निष्कर्षों का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ साहिब के सर्वांग परीक्षण की आवश्यकता बतायी गयी है।

प्रथम अध्याय में गरीबदासजी के पुत्र जैतरामजी के अन्तःसाक्ष्य से उनके व्यक्तित्व, कृतित्व, साधना बोध तथा जीवनी के अन्तरंग सूत्रों की प्रामाणिक जानकारी दी गयी है। गरीबदासजी पर कबीर और नानक का अनावश्यक प्रभाव सिद्ध कर उन्हें कबीरपंथी तथा नानक पंथी सिद्ध करने की चेष्टा की गयी थी, उसका

सप्रमाण खण्डन इस प्रबन्ध में हुआ है। संत परंपरा में गरीबदासजी अपने युगीन परिवेश के प्रति अत्यधिक जागरूक थे। मध्यकालीन इतिहास के संदर्भ में उनके इतिहास बोध को प्रतिष्ठित किया गया है। धार्मिक तथा सामाजिक परिवेश सम्बन्धी उनके वाणी विवरण पर प्रकाश डाला गया है तथा ग्रंथ साहिब के प्रतिपाद्य का सविस्तार विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में ग्रंथ साहिब के प्रेरणा स्रोतों पर विचार किया गया है। वातरशना मुनि, ऋषभदेव, दत्तात्रेय, गोरखनाथ, कबीर, रविदास, नानक आदि विचारकों के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए गरीबदासजी के अन्तःसाक्ष्य से संतमत के स्रोतों का उद्‌घाटन किया गया है। पौराणिक प्रभाव में श्रीमद्‌भागवत के आख्यानों का उल्लेख किया गया है तथा गरीबदास पर उनका प्रभाव बताया गया है। योग ग्रन्थों, उपनिषदों के प्रभाव की चर्चा भी की गयी है। संतमत का प्रभाव प्रदर्शित करते हुए वैदिक, श्रमण, वैष्णव तथा अवधूत धारा के प्रभावों का भी विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में दार्शनिक विचारधारा का निरूपण हुआ है। कबीर, दादू, नानक आदि संतों के विचारों के परिपार्श्व में जीव, ब्रह्म, सृष्टि, पात्रता, अधिकारी भेद, आचार, रहनी, गुरुतत्व, प्रेम साधना, रहस्यवाद, सूरत शब्द योग तथा प्रेमाभक्ति विषयक गरीबदास जी की मान्यताओं का सप्रमाण विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में गरीबदासजी की साधना-पद्धति का विवेचन किया गया है। योग, नादानुसंधान- जय, मानस ध्यान दृष्टियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग का विवेचन करते हुए उनकी साधना-पद्धति को स्पष्ट किया है।

पंचम अध्याय में ग्रंथ साहिब का साहित्यिक आधार स्पष्ट किया गया है। वर्णतंत्र के उद्धरण देकर इन्हें शब्दागमवादी सिद्ध किया गया है। आध्यात्मिक रीत के स्फुरण को काव्यप्रयोजन बताकर उनकी मान्यताएँ स्थिर की गयी हैं। साधनाभाव में दास्य, माधुर्य की स्थापना के परम्परागत औचित्य पर विचार किया गया है। गूढ़ार्थ व्यजना के लिए संकेत शैली के औचित्य पर प्रकाश डाला गया है। आख्यान शैली, संस्कृताभास शैली, प्रश्नोत्तर शैली, खण्डन-मण्डन शैली स्तोत्र शैली तथा गद्यवातत्मिक शैली के उदाहरण दिये गये हैं। काव्य-भाषा, शब्द-समूह, नाद सौन्दर्य, वर्णन-वैविध्य, छन्द तथा रागयोजना के अतिरिक्त उनके काव्य की अलंकृत चेतना पर भी विचार किया गया है। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि सोद्देश्य, किन्तु कलात्मक न होते हुए भी गरीबदासजी का काव्य काव्य-शास्त्रीय प्रतिमानों से भी आदर्श जान पड़ता है।

अंत में उपसंहार दिया गया है। सत्पुरुष, संत तथा सद्‌गुरु महिमा के साथ उनके मानवतावादी संदेश का उल्लेख करते हुए संत परम्परा में उन्हें आलोक पुरुष बताया गया है।

इस प्रबन्ध में प्रथम बार गरीबदासजी का प्रामाणिक जीवन वृत्त प्रस्तुत किया गया है और इसका आधार गरीबदासजी के पुत्र जैतरामजी की वाणी को बनाया गया है। इससे इसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता। नानक और कबीर का उल्लेख संतमत के व्यवस्थापक आचार्य कवियों के रूप में ही गरीबदासजी ने किया है, वे न तो नानक पंथी थे और न कबीर पंथी। नानक और कबीर से वह इस मार्ग में भिन्नता रखते हैं कि श्रीमद्भागवत् जैसे पौराणिक आख्यानों को उन्होंने कविता का विषय बनाया है। शुक सम्प्रदाय के समान कृष्ण भक्ति और योग तथा रामावत सम्प्रदाय के समान दास्य भाव और योग का भी उन्होंने समन्वय किया। इस प्रकार उनकी भक्ति-पद्धति पुराण परम्परा की है।

गरीबदासजी की वाणी का प्रथम विभाजन अंग भाग, ग्रंथ भाग, पद भाग और राज भाग शीर्षकों में किया गया था। परवर्ती वाणी साहित्य राखी भाग, ग्रंथ भाग में विभाजित किया गया है। साखी भाग के विषय कबीर, दादू आदि संतों के समान हैं पर ग्रंथ भाग में पुराण कथा, भक्त चरित परम्परा, योग और सृष्टि क्रम का विवरण मिलता है। पद और राग भाग में लोक जीवन और माधुर्य भाव की प्रधानता है तथा मिश्रित विषयों के उपदेश संकलित हैं। अन्न की महिमा, अकाल वर्णन, छत्तीस कौम का वर्णन तथा बहदे के रूप में पाखण्ड और आडम्बरपूर्ण जीवन पर करारा प्रहार किया गया है।

ज्योति और शब्द रूप ब्रह्म की अवधारणा की चर्चा उन्होंने शब्दागमवाद के अनुसार की है। श्वासाभ्यास, नादानुसंधान तथा पलक पलट ज्योति दर्शन को वह साध्य मानते हैं और इन तीन तत्त्वों की साधना को वे फकीरी योग या संत योग का नाम देते हैं। उनकी वाणी का सम्यक् रूपेण अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि मध्यकालीन संत कवियों में उनका दर्जा कबीर, दादू के समान है। साधना-पद्धति की सर्वांगीणता की दृष्टि से तो वह कबीर परवर्ती संतों में सबसे ऊँचे हैं।

काव्य-कला की दृष्टि से भी गरीबदासजी की वाणी अत्यन्त समृद्ध है। पूरबी, मारवाड़ी, ब्रजभाषा, पंजाबी, हरियाणवी तथा अरबी-फारसी पर उनका असाधारण अधिकार था। उन्होंने बहुत से शब्दों का निर्माण भी किया है। गद्यवार्ताओं का प्रयोग संत कवियों में सर्वप्रथम गरीबदासजी ने ही किया है। उनके जैसा रवानगी-पूर्ण गद्य लेखक दूसरा नहीं है। छन्द योजना की दृष्टि से दोहा, सोरठ, रमैनी, सवैया, कवित्त, रेखता, झूलना, अरिल्ल, झूमक, होरी तथा बेंत के रूप में उन्होंने साहित्यिक और लोक जीवनगत पद्धतियों का समन्वय किया है। शांत, शृंगार तथा अद्‌भुत उनके काव्य के प्रमुख रस हैं तथा पौराणिक प्रतीकों की अद्‌भुत योजना, ऋतु वर्णन तथा उपमा, उदाहरण, दृष्यन्त, रूपक, विशेषोक्ति, विभावना, समासोक्ति तथा अपह्नुति जैसे अलंकारों का विपुल प्रयोग उनकी काव्य कला की समृद्धि का परिचय देता है। व्याकरणिक दोषों को छोड़कर देखें तो उनकी अभि-

व्यक्ति की क्षमता प्रभाव डालनेवाली सिद्ध होती है।

संत गरीबदासजी ने संत साहित्य की सुदीर्घ परम्परा का अध्ययन कर उसके सार तत्त्व को आत्मसात् किया है। व्यक्तिगत साधना से लेकर सामाजिक साधना तक के तत्त्व उनकी वाणी में समाहित हैं। उनके तत्त्वग्राही साधक ने जीवन के अन्तर्विरोधों में सामंजस्य स्थापित किया है। गरीबदासजी ने सत्य के साक्षात्कार के लिए सुकृत्य या सदाचार को एकमात्र साधन माना है और धार्मिक रूढ़ियों का जोरदार खण्डन किया है। कर्मपाश में बँधे हुए मनुष्य को, सदाचार के बल पर नारायणी सम्पत्ति का स्वामी घोषित कर उन्होंने जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की है। जीवनेच्छा का प्रादुर्भाव करना उनका लक्ष्य है और वे व्यक्ति की साधना से ही समाज का रूपान्तरण चाहते हैं। इसी को वे स्वयंभू द्वार या मानवता के द्वार का खोलना कहते हैं। इस प्रकार उनकी वाणी का लक्ष्य मानवता की सिद्धि है और उसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

विषय-क्रम

और योग, पौराणिक चेतना, सूफी तत्त्व, दार्शनिक मतवाद, निष्कर्ष, योग चेतना, प्रेमसाधना, सगुण और सूफी प्रेमवाद, रहस्यवाद, साधनात्मक-भावात्मक, आध्यात्मिक विवाह और बिरह, संतों की रहस्य साधना और गरीबदास।

चतुर्थ अध्याय

साधना-पद्धति, रतिभाव का परिष्कार, अध्यात्म साधना में गुरु, यम, नियम, सत्संग, कृपा-प्राप्ति की पात्रता, जप, मानस ध्यान, दृष्टियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, निष्कर्ष।

पंचम अध्याय

ग्रन्थ साहिब का साहित्यिक आधार, काव्य विषयक दृष्टिकोण, साधना-भाव, गूढ़ार्थ व्यंजना और संकेत शैली, आख्यान शैली, संस्कृताभास शैली, प्रश्नोत्तर शैली, खण्डन-मण्डन शैली, स्तोत्र शैली, गद्यवार्ता, भक्तमाल की परम्परा का निर्वाह, काव्य भाषा, बांगरू, संस्कृत, फारसी, व्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, चित्रात्मकता, नाद सौन्दर्य, वर्णनात्मकता, पशु-पक्षियों का उल्लेख, बारहमासा, त्यौहार वर्णन, छन्द तथा राग योजना, अलंकार योजना।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

परिशिष्ट

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ सूची

तुलसी की रामचरितमानसेतर रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—शोभा तिवारी
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1979

प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत है। इसके अन्तर्गत महाकवि गो० तुलसीदास कृत रामचरित मानसेतर रचनाओं का अध्ययन किया गया है। यद्यपि कवि के समस्त काव्यग्रन्थों के मध्य रामचरितमानस का वही महत्त्व है जो एक माला में सुमेरु का होता है, परंतु यह कहा जा सकता है कि उनकी समस्त रचनाओं का आधार राम नाम अथवा राम का पावन चरित्र ही रहा है। उनमें जो अन्तर दिखायी देता है वह केवल भाषा अथवा शैली का ही है। उनकी रामचरित मानसेतर रचनाओं के विषय में यत्र-तत्र चर्चा तो हुई है, परंतु समस्त रामचरित मानसेतर रचनाओं को एक साथ रखकर शोध-प्रबंध के रूप में इनकी समीक्षा प्रस्तुत करने का यह प्रथम प्रयास है। यद्यपि अध्ययन में उनकी रचनाओं की संख्या वही स्वीकार की गई है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान् स्वीकार कर चुके थे, परंतु इससे पूर्व इस सम्बंध में उपलब्ध समस्त प्राचीन एवं नवीन मतों पर एक बार विचार कर लिया गया है ताकि इस विषय में शंका के लिए स्थान न रह जाये।

प्रस्तुत शोधकार्य अन्वेषणात्मक है, क्योंकि इस विषय पर इस स्तर का ग्रन्थ नहीं लिखा गया था। इसमें नये तथ्यों एव विषयों का समावेश नवीन शैली के साथ विद्यमान है। यह कार्य इस दृष्टि से मौलिक है कि इस विषय पर अभी तक इस स्तर.का शोधकार्य नहीं हुआ था और न ही इस विषय पर अभी तक कोई ग्रन्थ ही लिखा गया था। जो कुछ भी आलोचनात्मक साहित्य उपलब्ध था उसमें कवि की रामचरित मानसेतर समस्त रचनाओं पर यत्र-तत्र ही प्रकाश डाला गया था। विभिन्न विद्वानों के बिखरे हुए विचारों को एक साथ रखकर उन पर नवीन दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता थी, उस कार्य को इस शोध-प्रबंध के द्वारा सम्पादित करने का प्रयास किया गया है, तथा स्थान-स्थान पर उन विचारों की

समीक्षा भी प्रस्तुत की गई है।

शोध-प्रबंध पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय प्रस्तावना का है। इसके अंतर्गत तुलसी की रामचरित मानसेतर रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु रचनाओं की संख्या एवं उनकी प्रामाणिकता आदि के विषय में भी विचार कर लिया गया है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इस विषय में विवादास्पद मतों की संख्या सर्वाधिक थी। इस सम्बन्ध में यथा-सम्भव उपलब्ध समस्त मतों पर विस्तारपूर्वक विचार करके उनकी परीक्षा कर ली गई है।

द्वितीय अध्याय के अंतर्गत तुलसी की रामचरित मानसेतर रचनाओं में वस्तु, पात्र, संवाद एवं रस के सम्बंध में विचार किया गया है। वस्तु, पात्र, संवाद एवं रस काव्य की समीक्षा के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और उन्हें दृष्टि में रखकर समस्त रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही समीक्षा में नवीन एवं मौलिक निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। तुलसी के काव्य का स्रोत यद्यपि प्राचीन राम काव्य ही दिखाई देता है, परन्तु उसे भी कवि ने अपने अनुसार नवीन रूप देकर प्रस्तुत किया है। चरित्र-चित्रण करते समय सात्विक प्रकृतिवाले राम, सीता आदि पात्र सदा श्रेष्ठ गुणों से युक्त दिखाई देते हैं। रावण आसुरी वृत्तियों से युक्त होते हुए भी खलनायक के गुणों से युक्त है। यह भी स्पष्ट है कि भक्त कवि होने के कारण कवि तुलसी अपने आराध्य राम के गुणों के सम्मुख रावण को नीचा ही दिखाते रहे तथापि उनका रावण श्रेष्ठ खलनायक की ही कोटि में आता है। रस-विधान के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि तुलसी ने हिंदी साहित्य में वर्णित नौ रसों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। फिर भी श्रेष्ठता भक्ति और शान्त रस की ही रही है। संवाद योजना का अध्ययन पात्रानुकूल संवाद, चरित्र-चित्रांकन-वाली संवाद योजना आदि शीर्षकों के अंतर्गत रखकर किया गया है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत तुलसी की रामचरित मानसेतर रचनाओं की काव्य-गत एवं अन्य विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। काव्यगत विशेषताओं का उद्घाटन विशुद्ध काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर किया गया है और सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों की महत्ता का समुचित ध्यान रखा गया है। इस प्रकार कलापक्ष और भावपक्ष जैसे सिद्धांतों से उत्पन्न व्यर्थ के विवादों से बचने की चेष्टा की गई है। अन्य विशेषताओं के अन्तर्गत छंद और भाषा को स्थान दिया गया है। तुलसी ने अपने काव्य में विषय के अनुसार उपयुक्त छंदों का प्रयोग किया है। छंदों के प्रयोग के कारण उनके काव्य में गेयता और मधुरता आ गई है। कवि का अवधी के साथ-साथ व्रजभाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। तुलसी ने कवितावली और गीतावली की रचना व्रजभाषा में ही की। वैसे दोहावली, श्रीकृष्ण गीतावली और विनयपत्रिका में भी व्रजभाषा का रूप देखने को मिलता है। तुलसी की भाषा

संस्कृत, अरबी, फारसी सभी से प्रभावित रही है जिसका कारण कवि का भ्रमण-शील स्वभाव रहा है। देश के अनेक प्रांतों में पर्यटन के परिणामस्वरूप तुलसी की भाषा में स्थानीय भाषाओं के प्रचलित शब्दों, लोकोक्तियों और मुहावरों आदि को स्थान मिलता गया, किंतु इन सबको लेकर भी तुलसी की भाषा साहित्यिक कोमलता और बोधगम्य जैसे गुणों से युक्त रही है।

चतुर्थ अध्याय के अंतर्गत तुलसी की रामचरित मानसेतर रचनाओं में कवि की विचारधारा का अध्ययन इसलिए आवश्यक था क्योंकि कवि की विचारधारा स्थान-स्थान पर उसके काव्य को प्रभावित करती है और उसके द्वारा अनेक नये निष्कर्ष प्राप्त करने में सहायता प्राप्त होती है। कवि की विचारधारा को निम्नवर्गों में विभक्त किया गया है—भक्ति विषयक, ज्ञान विषयक, वैराग्य विषयक, अध्यात्म एवं दर्शनमूलक तथा लौकिक एवं सदाचार विषयक। इन सभी विचारधाराओं पर विचार करने के पश्चात् यदि कवि के काव्य को आदर्शवादी काव्य की संज्ञा प्रदान की जाये तो अत्युक्ति न होगी।

पंचम अध्याय उपसंहार का है। इसके अंतर्गत सर्वप्रथम कवि की रामचरित मानसेतर रचनाओं का मानस के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो उनके मूल्य और महत्ता को स्पष्ट करने के हेतु आवश्यक था।

इसमें रामाज्ञा प्रश्न, कवितावली, गीतावली, बरवै रामायण, विनयपत्रिका, दोहावली, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू तथा वैराग्य संदीपनी की रामचरितमानस से तुलना की गई है। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण गीतावली और सूर-सागर का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

इस विवेचन के पश्चात् मानसेतर रचनाओं में वर्णित चरित्रों के स्वरूप की तुलना वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण आदि ग्रंथों में वर्णित चरित्रों के स्वरूप से की गई है। और इनके अंतर को स्पष्ट किया गया है। यह अंतर मात्र चरित्रों के स्वरूप तक ही सीमित नहीं है बल्कि संवाद-योजना और भाषिक स्तर पर भी है। शोधछात्रा ने इसे भी स्पष्ट कर दिया है।

कवि की मानसेतर रचनाओं की तुलना अन्य कवियों के काव्य से भी की गई है। इसमें सर्वप्रथम गीतावली और श्रीकृष्ण गीतावली की तुलना सूरदास के सूर-सागर से, तत्पश्चात् कवितावली और गीतावली की तुलना रामचंद्रिका से तथा गीतावली की तुलना साकेत से की गई है।

अंत में तुलसी की रामचरित मानसेतर रचनाओं के मूल्य और महत्व को स्पष्ट किया गया है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम 'राम लला नहछू' का नाम आता है। यज्ञोपवीत के अवसर पर गाये जानेवाले ग्राम्य गीतों की अपेक्षा लौकिक छंद में लिखा 'नहछू' हिंदू समाज के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। श्रृंगाररस का थोड़ा पुट होने पर भी 'रामलला नहछू' में भारतीय लोकरीति का अति स्वाभाविक चित्रांकन

किया गया है।

'वैराग्य संदीपनी' में भक्ति, ज्ञान और संत-महिमा का वर्णन हुआ है। भव-सागर में दुःखी होने पर 'वैराग्य संदीपनी' पढ़ने से मनुष्य शांति का अनुभव करता है। इस दृष्टि से 'वैराग्य संदीपनी' हिंदू समाज के लिए वरदान है।

'रामाज्ञा प्रश्न' में रामकथा का उल्लेख मिलता है। इस रचना का कथानक अस्तव्यक्त होने पर भी शुभाशुभ विचारने और ज्योतिषशास्त्र के समावेश के कारण इस पुस्तक का तुलसी की रचनाओं में विशेष महत्व है।

'कवितावली' का कथानक वाल्मीकि रामायण से मिलता-जुलता होने पर भी शैली रामचरितमानस जैसी ही है। इसमें तुलसी की दास्यभाव की भक्ति और हृदयहारी कथा-प्रसंग देखने को मिलते हैं।

'पार्वती मंगल' में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन कालिदास की भाँति किया गया है। इसमें अपने समय में स्त्रियों की हीनस्थिति का आभास कवि तुलसी ने मैना के मुख से कराया है। तत्कालीन भारतीय समाज की झलक इसमें स्पष्ट देखने को मिलती है।

'गीतावली' में रामकथा गीतों में लिखी गई है। गीतावली में भाषा का सफल प्रवाह और पात्रानुकूल शैली देखने को मिलती है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण गीतावली तुलसी की रचनाओं में 'मानस' के पश्चात् विशेष स्थान रखती है।

प्रबन्ध के अन्त में गोस्वामी तुलसीदास और उनकी मानसेतर रचनाओं पर विभिन्न विद्वानों के मत दिये गये हैं।

मौर्य एवं शुंगकाल सम्बन्धी हिंदी उपन्यासों का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन

शोधकर्ता—ऊषा शर्मा
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1979

हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर शोध-प्रवन्ध जो प्रस्तुत किये गये हैं, लेखक ने आरम्भ में सबके बारे में सूचना दी है; और इसी कड़ी में अपना प्रबन्ध प्रस्तुत करते हुए लेखक का दावा है कि अभी तक ऐतिहासिक उपन्यासों पर जो प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं उन सभी प्रबन्धों की अपेक्षा, इनका प्रबन्ध व्यापक फलक पर प्रस्तुत किया गया है।

समग्र शोध-प्रबन्ध छह अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में ऐतिहासिक उपन्यास के स्वरूप पर विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास की आधारभूत सामग्री—अतीत की रूपरेखा, अनैतिहासिक ग्रन्थ एवं साहित्य—संस्कृत साहित्य, जैन साहित्य एवं प्राकृत भाषा। विदेशी साहित्य—शिलालेख, स्मारक, मुद्राएँ आदि का चित्रण किया गया है। दूसरे अध्याय में ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में मिश्रबन्धु, राहुल, चतुरसेनशास्त्री, यशपाल, सत्यकेतु विद्यालंकार, रांगेय राघव, आनन्दप्रकाश जैन, गुरुदत्त, रामरतन भटनागर के उपन्यासों का शिल्पगत और सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में विवेच्य उपन्यासों में उपन्यासकला-ललित कला तथा साहित्य—साँची का स्तूप, तक्षशिला और भरहुत—पशु आकृतियाँ, अजन्ता की गुफाएँ, जेतवन बिहार, शिक्षा और साहित्य—लिपि—कल्पसूत्र—ज्योतिष, दार्शनिक साहित्य—आयुर्वेद का विवेचन है।

चतुर्थ अध्याय में विवेच्य कृतियों का शिल्प, औपन्यासिक तत्वों के आधार पर विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा—कथानक, पात्र एवं चरित्र-चित्रण—कथोपकथन—संवाद—भाषा शैली, देशकाल और वातावरण की व्याख्या है। पंचम में विवेच्य

उपन्यासों में यथार्थवादी दृष्टिकोण, षष्ठ अध्याय में विवेच्य कृतियों का सांस्कृतिक परिवेश का विवेचन किया गया है। भौगोलिक, राजनीतिक, कूटनीतिक, प्रशासनिक व्यवस्था के साथ न्याय सर्वोच्च संगठन, अर्थनीति तथा व्यापार प्रणाली पर प्रकाश डाला गया है। तत्कालीन सामाजिक संस्कारों, रीति-रिवाजों और लोक-जीवन की सभी विशेषताओं पर चित्रण करते हुए धार्मिक मान्यताओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

लेखक का प्रयास है कि आलोच्य कृतियों द्वारा मौर्य और शुंगकालीन भारत का सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश अधिक-से-अधिक उजागर हो तथा साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी इन उपन्यासों की कृतियों की उपलब्धियों को भी रेखांकित किया है। राहुल, यशपाल और रांगेय राघव यहाँ मार्क्सवादी दृष्टि के कारण ऐतिहासिक यथार्थवाद के पक्षधर रहे हैं। वहीं पर सत्यकेतु विद्यालंकार, गुरुदत्त, वैदिक संस्कृत के पक्षधर कहे जा सकते हैं। जयशंकर प्रसाद बौद्ध और ब्राह्मण संस्कृति के संघर्ष का संतुलित चित्रण करते हैं।

इतिहास और उपन्यास में वातावरण के अंकन से अभिव्यंजना संबंधी अन्तर भी आ जाता है। इन उपन्यासकारों ने वातावरण विधायकी शैली के द्वारा तत्कालीन जीवन का जितना समर्थ चित्रण किया है, उतना उनके साहित्यिक महत्व को उजागर करने में समर्थ कहा जा सकता है। पात्रों के बहिर्जीवन तथा घटना के चित्रण के साथ-साथ इन सभी उपन्यासकारों में कला की चयन प्रवृत्ति को लेकर अन्तर आया है। उदाहरणार्थ प्रसाद और सत्यकेतु के चाणक्य का नितान्त भिन्न व्यक्तित्व है। बौद्धिक मान्यताओं के विवेचन द्वारा लेखक ने तत्कालीन पात्रों के माध्यम से व्यक्त होनेवाली वैयक्तिक और सामूहिक दृष्टि को भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन्हीं को वैयक्तिक संवेदना या समष्टि संवेदना में भी भलीभाँति देखा जा सकता है।

इन सभी उपन्यासों में प्रमुख रूप से बौद्ध, जैन तथा वैष्णव धर्मों से संबंधित विचारों के साथ-साथ ब्राह्मण धर्म तथा वैदिक विचारधारा, आर्य संस्कृति का स्थान उच्चता की ओर अग्रसर होता है। इन उपन्यासों को वातावरण प्रधान, ऐतिहासिक तथ्यों, राजनीतिक दावपेंच से परिपूर्ण, उद्देश्य में सफल माना गया है। पात्र भाषा कल्पना का प्रयोग मणिकांचन संयोग के रूप में किया गया है। उपन्यासों में गतिशीलता, ऐतिहासिक यथार्थ को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। सभी धर्मों का विवेचन किया गया है, परंतु लेखकों का आकर्षण किसी विशेष धर्म को ही प्रमुखता देने का रहा है।

इतिहास को कल्पना के सहारे उपन्यास का रूप देकर जनजीवन को प्रेरित करना उपन्यासकारों का लक्ष्य रहा है। यदि इतिहास के तथ्यों को सही ढंग से उपन्यास के माध्यम से व्यक्त किया जाता है तो इतिहास के प्रति पाठक की रुचि

जागृत होती है। हिंदी ऐतिहासिक उपन्यासों का फलक वैदिक काल से लेकर अंग्रेजी शासन तक रहा है। बौद्ध क्रांति, गुप्तकालीन पौराणिक संस्कृत का उत्थान तथा इस्लाम के प्रभाव से सम्बन्धित संस्कृति की चेतना लेकर उपन्यास लिखे गये हैं, किंतु मौर्य और शुंग संबंधी हिंदी उपन्यासों का लेखन प्रायः उन उपन्यासकारों ने किया जिनका इतिहास पर असाधारण अधिकार रहा। राहुल, सत्यकेतु, रांगेय राघव के उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों का व्यापक प्रयोग किया गया है। शेष उपन्यासकारों ने इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं के सहारे अपनी कथाओं का ताना-बाना बुना है।

इन उपन्यासकारों का जीवन-दर्शन भी स्पष्ट है, जो परस्पर समकालीन चित्रण होते हुए भी रचना की दृष्टि से पृथक करता है। सामाजिक वैषम्य, पूंजीवाद, सामन्तवाद, पुरोहितवाद तथा ब्राह्मणवाद का समर्थन प्रायः सभी उपन्यासकारों ने किया है। रूप-विधान की दृष्टि से पात्र, चरित्र-चित्रण, वातावरण तथा प्रभाव का विवेचन करते हुए इन उपन्यासों का वैशिष्ट्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। गम्भीर, परिष्कृत, अलंकृत, चित्रात्मक, तत्सम, भाषा-शैली पर भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन उपन्यासकारों का साहित्यिक योगदान भी कम नहीं है।

धर्मनिरपेक्ष स्वर पर मानवजीवन की सार्थकता प्रतिपादित कर आलोच्य कृतियों को उपन्यासकारों ने कलात्मक परिवेश दिया है। सामयिक सन्दर्भों में युग दृढ़ निश्चय है कि मध्य और रूप-विधान दोनों ही दृष्टियों से मौर्य और शुंगकाल सम्बन्धी हिंदी उपन्यास श्रेष्ठ हैं। इन उपन्यासकारों का चिन्तन और आकलनपक्ष भी स्वस्थ और परिपूर्ण है। वस्तु चयन पर इतिहास के सम्बन्ध में और शिल्प पर परम्परित दृष्टि से विचार करते हुए इन उपन्यासों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। युगीन तत्कालीन जीवन का जैसा समग्र चित्रण इन रचनाओं में मिलता है वह अत्यंत दुर्लभ है। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास का सहायक ही नहीं पूरक भी होता है। इस दृष्टि से इन उपन्यासों की विशेषता यह है कि इन्होंने इतिहास के विशेष चरित्र को निर्विशेष चरित्र के साथ जोड़ दिया है।

इस प्रकार उद्देश्य की दृष्टि से ये रचनाएँ अधिक जनवादी हैं। इतिहास और साहित्य के समन्वय के कारण उपन्यासों में अभीष्ट प्रभाव निष्पन्न हो सका। अंत में कहा जा सकता है कि आधुनिक जीवन मूल्यों की स्थापना करते हुए प्राचीन ढाँचे में भी एक-एक सुदृढ़ राष्ट्रीय समाज की परिकल्पना इन उपन्यासकारों ने की है और गणतंत्र, राजतंत्र, साम्यवाद, पूंजीवाद, सामन्तवाद, पुरुषार्थ, चतुष्ट्यवाद तथा लोक-परलोक संबंधी भारतीय चिन्तन-मनन का विशद् और गम्भीर चित्रण इन उपन्यासों में किया गया है।

प्राक्कथन

प्रथम अध्याय

ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास की आधारभूत सामग्री—अतीत की रूप-रेखा—अनैतिहासिक ग्रन्थ एवं साहित्य—संस्कृत साहित्य, जैन साहित्य एवं प्राकृत भाषा। विदेशी साहित्य - शिलालेख, स्मारक, मुद्राएँ।

द्वितीय अध्याय

हिंदी ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा—आधुनिक युग या प्रसारयुग—वर्गीकरण—जनपदीय बौद्ध एवं जैन काल—मौर्य एवं शुंगकाल—गुप्तकाल आलोच्य युग के उपन्यासकार—राहुल, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, यशपाल सत्यकेतु विद्यालंकार, मिश्रबन्धु, जयशंकर प्रसाद, गुरुदत्त, आनन्दप्रकाश जैन, वैदिकधर्म का पुनरुद्धार— महायान धर्म।

तृतीय अध्याय

विवेच्य उपन्यासों में कला तथा साहित्य—साँची का स्तूप, तक्षशिला और भारहुत—पशु आकृतियाँ, अजन्ता की गुफाएँ, जेतवन विहार, शिक्षा और साहित्य—लिपि—कल्पसूत्र—ज्योतिष—दार्शनिक साहित्य—आयुर्वेद।

चतुर्थ अध्याय

औपन्यासिक तत्त्वों के आधार पर विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा—कथानक पात्र—एवं चरित्र-चित्रण—कथोपकथन-संवाद—भाषा शैली, देशकाल और वातावरण।

उपन्यास—सिंह सेनापति, जययौधेय, पुष्यमित्र शुंग, आचार्य विष्णुगुप्त, जय वासुदेव, लुढ़कते पत्थर, मधुर स्वप्न, वैशाली की नगरवधू, दिव्या, अमिता, इरावती, पुष्यमित्र शुंग, कुणाल की आँखें, यशोधरा जीत गई, सेनानी पुष्य-मित्र।

पंचम अध्याय

विवेच्य उपन्यासों में ऐतिहासिक यथार्थवाद—वैशाली की नगरवधू, इरावती, आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य, सेनानी पुष्यमित्र, यशोधरा जीत गई, जय वासु-देव, पुष्यमित्र, लुढ़कते पत्थर, पुष्यमित्र, कुणाल की आँखें, अमिता, दिव्या, मधुर स्वप्न, जय यौधेय, सिंह सेनापति।

षष्ठ अध्याय

विवेच्य कृतियों का सांस्कृतिक परिवेश—भौगोलिक स्थिति—राजनीतिक व्यवस्था—नीति, कूटनीति शासन व्यवस्था—न्याय—युद्ध प्रणाली सैनिक संगठन, अर्थनीति।

आर्थिक व्यवस्था—व्यापार प्रणाली, सामाजिक व्यवस्था—जाति, परिवार, जीवन व्यवस्था, सामाजिक व्यवहार और सम्बंध, सामाजिक संस्कार, रीति-रिवाज, खानपान, वेशभूषा, लोक जीवन—क्रीड़ा, व्यंग-विनोद, उत्सव विवाह।

धार्मिक मान्यता—विभिन्न मतवाद, दार्शनिक दृष्टि, धर्म और पुरुषार्थ, कर्म सिद्धान्त, राजधर्म तथा उत्तम पुरुष।

इन्द्र विद्यावाचस्पति और उनकी साहित्य-साधना

शोधकर्ता—भगवतशरण
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1980

प्रस्तुत प्रबन्ध महान साहित्य-शिल्पी, ओजस्वी पत्रकार एवं प्रौढ़ शिक्षाशास्त्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति और उनकी साहित्य-साधना को आधार बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इसमें अनुसंधानकर्ता ने यह दृष्टिकोण सामने रखा है कि पं० इन्द्रजी के व्यक्तित्व का वह पक्ष अपने सही रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो सके जो आज के साहित्य और राष्ट्र के लिए उपयोगी है। पं० इन्द्रजी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए अनुसंधानकर्ता ने उस अछूते पक्ष को उभारने का भी प्रयास किया है जो साहित्य और समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रबन्ध को छ: अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय में इन्द्रजी का जीवन परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन्द्रजी के जीवन पर विचार करते हुए जीवन की सामान्य घटनाओं के परिचय के साथ-साथ अनुसंधानकर्ता ने उनके उन जीवनानुभवों का भी विश्लेषण करने का प्रयास किया है जिनके द्वारा शाश्वत सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। भीषण संघर्षों और उतार-चढ़ाव का जो जीवन इन्द्रजी ने जिया है और कठिन-से-कठिन स्थिति में भी अपनी आस्था खण्डित होने से बचाने का जो प्रयास उनका रहा है वह उनकी चिरन्तन जिजीविषा के साथ-साथ उनके आस्तिक होने का ज्वलन्त प्रमाण है।

इन्द्रजी के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं और अन्य जानकारी के लिए अनुसंधानकर्ता को उनके ग्रन्थों में प्राप्त अन्तःसाक्ष्यों, उनकी डायरियों, उनके परिवार के जनों एवं निकटतम मित्रों से प्राप्त सूचनाओं एवं संकेतों पर ही आश्रित रहना पड़ा है। प्रत्येक महापुरुष के सम्बन्ध में कुछ ऐसे आख्यान भी प्राय: प्रचलित हो

जाते हैं जो बौद्धिक और तार्किक कसौटी पर खरे नहीं उतरते। अतिरंजना का तत्त्व उसमें इतना बढ़ जाता है कि हृदय भी उन्हें ग्रहण नहीं कर पाता। ऐसे आख्यानों को इस प्रबन्ध में स्थान नहीं दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में इन्द्रजी की पुस्तकों और उनके द्वारा लिखे गये लेखों पर विचार किया गया है। उनके साहित्य में धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक भाव-भूमियों का समावेश किस रूप में और किस सीमा तक हुआ है इस पर भी दृष्टि केन्द्रित करने का प्रयास किया गया है। ऐसा इसलिए किया गया है जिससे कि अग्रिम अध्यायों में प्रस्तुत विषय सामग्री में निहित उच्चादर्शों को पाठक सम्यक् प्रकार समझ सकें। इन्द्रजी की सभी कृतियों की सविस्तार समीक्षा न कर मात्र उनका संक्षिप्त परिचय ही दिया गया है। दैनिक 'अर्जुन' में उनके बहुत से मूल्यवान लेख निकले थे लेकिन वे अनुसंधानकर्ता को उपलब्ध न हो सके। यहाँ जिन लेखों को खोजकर पाठकवृन्द के समक्ष रक्खा गया है एवं उनकी आलोचना की गयी है, उनका स्थायी महत्व तो है ही, साथ ही उनसे लेखक की भाषा-शैली और दृष्टिकोण का भी सहज ज्ञान हो जाता है।

तृतीय अध्याय में इन्द्रजी के निबन्ध साहित्य को अध्ययन का आधार बनाया गया है। अध्यात्म रोगों की चिकित्सा जीवन संग्राम, भारत में वक्तृत्व-कला की प्रगति जैसी कृतियों में जो अलग-अलग अध्याय हैं उनमें पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित किये बिना विचार करने पर प्रत्येक अध्याय एक स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में लिया जा सकता है। 'मेरे पिता' नामक रचना यद्यपि पं० इन्द्रजी के संस्मरणों का संग्रह है, परन्तु उसे भी निबन्ध साहित्य में स्थान दिया गया है। वस्तुत: यहाँ अनुसंधान-कर्ता ने आधुनिक निबन्ध की परिभाषाओं और सीमाओं की ओर ध्यान न देते हुए प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिकोण ही अपनाया है। निबन्ध-साहित्य के मूल्यांकन के प्रति अनुसंधानकर्ता का यह दृष्टिकोण मौलिक है।

चतुर्थ अध्याय में इन्द्रजी के उपन्यास साहित्य को लिया गया है। पं० इन्द्रजी ने मात्र छ: उपन्यास लिखे हैं, परन्तु इन छ: उपन्यासों के बल पर इन्द्र विद्यावाचस्पति का नाम कथा-साहित्य का सशक्त हस्ताक्षर बन गया है। शाह आलम की आँखें, जमींदार, अपराधी कौन ?, तीन पृथक्-पृथक् कृतियाँ हैं परन्तु सरला, सरला की भाभी और आत्मबलिदान इन तीन कृतियों में एक ही कथा का समाहार है। 'शाह-आलम की आँखें' में ऐतिहासिक ढाँचे में सुन्दर कथाशील्प का दर्शन होता है। उनके इस उपन्यास के अध्ययन में अनुसंधानकर्ता ने वृन्दावनलाल वर्मा के कथाशिल्प का दर्शन किया है। दूसरी ओर 'जमींदार' और 'अपराधी कौन' की समीक्षा करते हुए उसने मुंशी प्रेमचन्द के कथा-शिल्प को आदर्श माना है। 'सरला', 'सरला की भाभी' और 'आत्मबलिदान' सामाजिक पृष्ठभूमि में व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति का अन्तरंग उद्घाटित करते हैं। इन उपन्यासों का चरित्र-चित्रण

करते समय इलाचन्द्र जोशी को सामने रक्खा गया है।

पाँचवें अध्याय में इन्द्रजी को पत्रकार के रूप में देखा गया है। वास्तव में उनकी प्रतिभा का जितना व्यापक प्रसार पत्रकारिता के क्षेत्र में हुआ है, उतना अन्य क्षेत्र में नहीं। इस माध्यम से उन्होंने समाज, देश और स्वयं हिन्दी की जो सेवा की है उसका प्रत्यक्षत: दर्शन यहाँ पाठकों को होगा। दिल्ली जैसी बंजर भूमि को पत्रकारिता की दृष्टि से उर्वर बनाने का श्रेय इन्द्रजी को ही है। दिल्ली ही नहीं, बम्बई से भी पं० इन्द्रजी ने प्रथम हिन्दी पत्र निकालकर हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा की। पं० इन्द्रजी के 'पत्रकार जीवन' की समीक्षा करते समय अनुसंधानकर्ता ने वर्तमान पत्रकारिता का स्तर और पत्रकारिता के क्षेत्र में आनेवाली सभी कठि-नाइयों को दृष्टिगत रक्खा है। इतना ही नहीं, पराधीनता के उस अन्धकारपूर्ण युग में इन्द्रजी ने जिस निर्भीकता से एक पत्रकार के दायित्व का निर्वाह किया और उनके सामने जो संकट आये उन सबका यहाँ औचित्यपूर्ण विवेचन आज भी प्रेरणा-प्रद बन सकेगा, ऐसा विश्वास है।

छठा अध्याय उपसंहार है, जिसमें इन्द्रजी की समग्र साहित्य-साधना का एक विहंगावलोकन प्रस्तुत किया गया है। उनकी जिन कृतियों को पिछले अध्यायों में नहीं लिया जा सका था, उन्हें भी यहाँ रक्खा गया है। इसमें उनके साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय एवं तत्कालीन वातावरण पर उनके प्रभाव पर भी विचार किया गया है। इस विषय में यहाँ संक्षेप में इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त है कि जन-जीवन को अनुप्राणित करनेवाली प्रत्येक विचारधारा और हर आन्दो-लन से इन्द्रजी ने प्रभाव ग्रहण किया है। परन्तु अंधानुकरण और कट्टरपंथी रवैये से वे सदैव बचते रहे हैं। प्रबल राष्ट्रवाद, समाजवाद, गाँधीवाद एवं सर्वहारावर्ग की पीड़ा सबका दर्शन उनके साहित्य में होता है। धार्मिक संकीर्णता और कठमुल्ला-वाद के आप कट्टर विरोधी रहे हैं। इन्द्रजी उन लोगों में से हैं जो स्वयं अपने जीवन को आदर्शों में ढालते हैं और उसके बाद अन्य लोगों को इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। आदर्शों की इन्द्रजी ने हर मूल्य पर रक्षा की है।

शोध प्रबन्ध का शीर्षक :
सेनापति और उनका काव्य

शोधकर्ता—कुसुमलता अग्रवाल
निर्देशक—डॉ० वाजपेयी
वर्ष—1981

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के पूर्वार्द्ध में कविवर सेनापति के जीवन-परिचय, प्रेरणा एवं साहित्य का विवेचन है तथा उत्तरार्द्ध भाग में कवि की समसामयिक परिस्थितियों एवं उनके द्वारा उनके मानस पर पड़नेवाले प्रभावों का अन्वेषण किया गया है। उपर्युक्त सामग्री का विश्लेषण करने के हेतु जन्म-स्थान, समय, वंश-परिचय, शिक्षा-दीक्षा, काव्य-प्रेरणा, रचनाएँ एवं कवि की विचार-धारा के निर्माण में सहायक परिस्थितियों के सम्बन्ध में नवीनतम खोज की गयी है, जिसमें अन्तःसाक्ष्य एवं बहिर्साक्ष्य दोनों सम्मिलित हैं, साथ ही अनेक मौलिक निष्कर्ष प्राप्त किये गये हैं। इन निष्कर्षों के आधार पर शोध-कार्य की मौलिकता तथा उपयोगिता का अनुमान लगाया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय काव्य-समीक्षा का है। इसे सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। काव्य-समीक्षा के अन्तर्गत कलापक्ष एवं भावपक्ष का वर्गीकरण अब अत्यन्त पिष्टपेषित हो चुका है। उसमें वह स्पष्टता लाना कठिन है, जो स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर की गयी समीक्षा में उपलब्ध हो सकती है। कारण यह है कि कलापक्ष और भावपक्ष दोनों के आधार पर काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का विभाजन अनेक मतभेदों को जन्म देता आया है जिनसे बचने का एकमात्र उपाय यही था कि सभी सम्प्रदायों की स्वतन्त्र सत्ता एवं उनके महत्त्व को कम किये बिना समग्र रूप से उन्हें समीक्षा में ले लिया जाये। प्रस्तुत अध्याय में भारतीय मतों के साथ-साथ प्रमुख पाश्चात्य मतों को भी आधार बनाया गया है। अस्तु जो अपूर्णताएँ सेनापति की अन्य समीक्षाओं में दृष्टिगोचर होती थीं, वह प्रस्तुत समीक्षा में नहीं होंगी तथा इस प्रकार उसे एक सर्वथा नवीन कलेवर भी प्राप्त हो गया है। यह कहने की आवश्य-

कता नहीं कि इसके अन्तर्गत प्राप्त किये गये अनेक निष्कर्षों में मौलिकता का उन्मेष भी है। इसे स्पष्ट करने के लिए भारतीय समीक्षा-शास्त्र के रस-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त, रति-सिद्धान्त एवं औचित्य-सिद्धान्त को अपनाया गया है तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि के रूप में भावतत्त्व, कल्पनातत्त्व, बुद्धितत्त्व तथा शैलीतत्त्व को ग्रहण किया गया है।

शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में कवि की काव्य-रचना-शैली की समीक्षा की गयी है। इसके अन्तर्गत कवि की भाषा, छन्द-विधान, मूर्तिमत्ता एवं प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में अनेक अन्य समीक्षकों ने भी अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उनकी समीक्षाओं में किसी नवीन मार्ग का अनुसरण नहीं किया गया है वरन् सभी में प्राय: गतानुगति ही दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत समीक्षा में उपर्युक्त सभी विषयों पर पुनर्विचार करके यथासम्भव मौलिक निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। मूर्तिमत्ता के क्षेत्र में अभी तक पर्याप्त कार्य नहीं हुआ है और एकाध रीतिकालीन कवि की समीक्षा में ही इसके दर्शन होते हैं, यथा—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के 'द्विजदेव और उनका काव्य' शीर्षक पी० एच० डी० के शोध-प्रबन्ध में ('द्विजदेव के भावचित्र' शीर्षक अध्याय में)। इस बात का ध्यान रखा गया है कि प्रामाणिक मतों के आधार पर ही इस विषय का विवेचन किया जाय।

शोध-प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय 'उपसंहार' का है। इसके अन्तर्गत सेनापति के काव्य का मूल्यांकन किया गया है। मूल्यांकन करते समय यह देखना आवश्यक होता है कि कवि के काव्य पर पूर्ववर्ती कवियों का क्या ऋण है तथा परवर्ती कवियों के लिए उसकी क्या देन मानी जा सकती है? उक्त विषयों पर विचार करने के लिए कविवर सेनापति के काव्य की तुलना उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कवियों के काव्य से की गयी है। इस प्रकार उनके काव्य का मूल्य और महत्त्व निश्चित किया गया है तथा हिन्दी-साहित्य में उनका क्या स्थान था, इस पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है।

संक्षेप में, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में नवीन शैली को अपनाते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक निष्कर्षों को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है तथा शोध एवं समीक्षा, दोनों क्षेत्रों में यथासम्भव नवीनता एवं मौलिकता लाने की चेष्टा की गयी है।

महाकाव्य की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद और कालिदास का तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—महेशचन्द्र विद्यालंकार
वर्ष—1981

जयशंकर प्रसाद और कालिदास अपने-अपने युगों के शीर्षस्थ कवि हैं । इन दोनों कवियों ने अपने युगों को तो प्रभावित किया ही है, परवर्ती साहित्य और कवियों को भी ये प्रेरक रहे हैं। स्पष्ट ही दोनों इन महाकवियों पर स्वतन्त्र रूप से पर्याप्त चिंतन-मनन हुआ है । किंतु यह एकांगी व अन्य निरपेक्ष है । संस्कृत की पृष्ठभूमि के कारण विद्यार्थी काल से ही मुझे कालिदास के प्रति विशेष रुचि हो गयी थी । उसके पश्चात् जब मैंने विधिवत् प्रसादसाहित्य का अध्ययन किया, तो मुझे यह अनुभव हुआ कि इन दोनों के साहित्य की मूल प्रेरक चेतना एक ही है और इनके साहित्य का अधिकतम अंश ऐसा है जिसमें पर्याप्त सादृश्य हैं । प्रसाद के साहित्य में कालिदास के विविध भावों एवं उनकी अभिव्यक्तियों की प्रचुर मात्रा में छायाएँ मिलती हैं । यद्यपि दोनों कवियों में काल, परिवेश, भाषा आदि का अन्तराल वर्तमान है, तथापि दोनों का भाव-जगत् समान धरातल पर ही संस्थित है । प्रस्तुत दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष सहज ही लिया जा सकता है कि कालिदास का जयशंकर प्रसाद पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में प्रभाव पड़ा है । उन प्रभावों का अनुसंधान करते हुए, शोध-प्रबंध में यह रीति अपनायी गयी है कि दोनों के महाकाव्यों में साम्य और वैषम्यों की रेखाएँ स्पष्ट हो सकें ।

जयशंकर प्रसाद और कालिदास में कुछ ऐसी अपूर्व विशेषताएँ हैं जिनके कारण इन्हें सर्वाधिक महत्त्व मिला है । ये दोनों कवि मानव-भावों के कुशल शिल्पी हैं । इनके काव्यों में विलक्षण गरिमा, उदात्तता, भव्यता एवं कलात्मकता का सहज प्रवाह है । 'कामायनी', 'कुमार संभव' और 'रघुवंश' में प्रेम सौंदर्य एवं यौवन के रसमय तथा माधुर्यपूर्ण अनेक चित्र विद्यमान हैं जो आज भी पाठक की चेतना को

रसाप्लावित करने का सामर्थ्य रखते हैं—इन्हीं कुछ विशेषताओं के कारण ये दोनों कवि कालजयी बन सके हैं।

प्रसाद और कालिदास आदर्शवादी साहित्य-स्रष्टा हैं। इसी कारण इनके काव्यों में यथार्थ और आदर्श, भोग और योग, भौतिकता और आध्यात्मिकता, जीवन और जगत् का समन्वय हुआ है। इनके जीवन-संदेश भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित हैं। दोनों कवियों के काव्य समन्वयवादी परिकल्पनाएँ करते हैं और इस रूप में भी इनका परस्पर पर्याप्त नैकट्य है।

'कामायनी' और 'कुमारसंभव' में काम, प्रेम और सौन्दर्य का उदात्तीकरण हुआ है। इन दोनों कवियों ने 'काम' को वैदिक रूप, अर्थात् व्यापक भावना अथवा इच्छा के रूप में लिया है और उसका सृजनात्मक एवं उदात्त रूप ही ग्राह्य माना है। प्रेम में तप-त्याग एवं तपस्या का समन्वय करते हुए शारीरिक आकर्षण से उसे परे माना है। दोनों कवियों ने सौंदर्य के बाह्य-आन्तरिक तथा आत्मिक एवं भौतिक पक्षों का उद्‌घाटन किया है। इस रूप में भी प्रसाद और कालिदास की मूल चेतना समान धरातल पर पल्लवित तथा विकसित होती दिखायी देती है। यहाँ भी कालिदास की सौंदर्य दृष्टि से प्रसाद प्रभावित हुए हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से प्रसाद और कालिदास के प्राकृतिक व अन्य विविध वर्णनों में भी वैषम्य की अपेक्षा साम्य की मात्रा अधिक है। दोनों की दृष्टि प्रकृति के प्रति मानवीय एवं संवेदनात्मक है। इसीलिए दोनों के प्रकृति-वर्णन में सजीवता एवं रम्यता है। इनके महाकाव्यों का आरम्भ, विकास एवं समापन प्रकृति के रम्य अंक में ही हुआ है। इस दृष्टि से दोनों कवियों का प्रकृति-जगत् समान भावधारा पर आन्दोलित है।

इन दोनों कवियों के महाकाव्यों में प्रणय, दाम्पत्य-जीवन, संयोग एवं विप्रलंभ-शृंगार, पुत्र-जन्म, वात्सल्य, पशुपालन, मृगया, युद्ध आदि का सजीव एवं आकर्षक वर्णन हुआ है। इन वर्णनों के प्रसंग, स्थल, पात्र आदि के सन्दर्भों में यद्यपि पर्याप्त वैभिन्न्य है किंतु वह स्थूल ही है। भाव और दृष्टिकोण में तो आन्तरिक एकरूपता के ही दर्शन होते हैं।

प्रसाद और कालिदास संस्कृतिमूलक कवि हैं। इन दोनों कवियों की काव्य-प्रेरणा का मूल आधार भारतीय सांस्कृतिक गौरव है। इन दोनों कवियों ने अपने काव्यों में धर्म, संस्कृति, दर्शन को समान रूप से महत्त्व दिया है। यद्यपि 'कामायनी' सूक्ष्म मनोभावों का काव्य है, फिर भी उसमें यथासंभव पर्याप्त सांस्कृतिक गौरव का उद्‌घाटन हुआ है। कालिदास का रघुवंश तो जातीय गौरव का ही महाकाव्य है। दोनों कवियों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था पर बल दिया है। इनके काव्यों में गृहस्थाश्रम की उपयोगिता, श्रेष्ठता एवं उच्चता का प्रतिपादन हुआ है। 'कामायनी' और 'कुमारसंभव' प्रकृतिमार्ग का निर्देशन करते हैं। इसके साथ ही पंचयज्ञों के महत्त्व

का भी प्रतिपादन इन दोनों के महाकाव्यों में हुआ है। यज्ञसंस्कृति के सन्दर्भ में इन्होंने अपने काव्यों में हिंसक यज्ञ का संकेत तो किया है किंतु उसे हेय एवं निंदनीय माना है। इसी प्रकार आचार-विचार, नैतिकता, धर्म आदि पर दोनों कवियों ने समान रूप से चिंतन-मनन किया है। स्पष्ट है कि ये दोनों कवि भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा के व्याख्याता होने के कारण एक विशेष प्रकार के साम्य से परस्पर आबद्ध हैं। बाह्य दृष्टि से वैषम्य की रेखाएँ भी उपलब्ध हैं किंतु आन्तरिक रूप में पर्याप्त एकरूपता है।

प्रसाद और कालिदास की नारी संबंधी धारणाएँ भी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के अनुकूल हैं। 'कामायनी' और 'कुमारसंभव' में क्रमश: श्रद्धा तथा पार्वती के चरित्रों में आदर्श नारी की समस्त विशेषताएँ विद्यमान हैं। दोनों पात्रों के चरित्रों में एक अपूर्व एवं विलक्षण वैशिष्ट्य की योजना करना इन दोनों कवियों की अद्भुत विशेषता है। इन दोनों कवियों के नारी-विषयक दृष्टिकोण में व्यापकता, उदारता, उच्चता एवं सम्मान की भावना का समावेश किया है। इन्होंने नारी के बाह्य रूप-लावण्य को ही चित्रित नहीं किया, बल्कि उनके सौंदर्य का भी उद्घाटन किया है, उसे महिमामय पद पर प्रतिष्ठित करना इन दोनों कवियों का लक्ष्य रहा है।

प्रसाद और कालिदास राष्ट्रीय गौरव के कवि हैं। दोनों के नाटक और काव्य राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत हैं। इनके काव्यों में प्रतिबिम्बित प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक वैभव वस्तुत: राष्ट्रीय भावना का ही प्रतीक हैं। 'कामायनी' में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति का कवि को समुचित अवसर नहीं मिल सका है, फिर भी यथासंभव यत्र-तत्र सांकेतिक रूप में उसे अभिव्यक्ति मिली है। 'रघुवंश' तो राष्ट्रीय काव्य ही है। दोनों कवियों के राष्ट्रीय-भावना के मापदण्ड अत्यन्त व्यापक हैं जिसमें समग्र वसुन्धरा और मानवता का समावेश हो गया है। दोनों कवियों की युगीन राष्ट्रीय भावनाओं में अन्तर कालसापेक्ष होने के कारण सहज स्वाभाविक है किंतु उनकी राष्ट्रीय भावना में वैषम्य की अपेक्षा साम्य का सूत्र अधिक स्पष्ट है।

दोनों कवियों के दार्शनिक पक्ष में भी पर्याप्त रूप में समानता दृष्टिगत होती है। दोनों ही शैवाद्वैत समर्थित प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुयायी हैं। कालिदास ने कुमार-संभव, रघुवंश आदि में शिव के स्वरूप एवं उनकी महिमा का स्तवन किया है। 'कामायनी' में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की स्पष्ट अभिव्यक्ति तथा परिणति हुई है। दोनों कवियों का चरम लक्ष्य जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा करना रहा है। इस भावना की पूर्ति 'कामायनी' और 'कुमारसंभव' में सहज रूप से हुई है। आनन्दवादी दृष्टि-कोण इन दोनों कवियों की महत्त्वपूर्ण देन है।

दार्शनिक चिंतन के संदर्भ में भी दोनों कवियों में तारतम्य एवं एकरूपता है। यह सिद्धि अनुसंधान के आधार पर पुष्ट की गयी है।

प्रसाद और कालिदास के महाकाव्य विशिष्ट जीवन-दर्शन की भावना लिए हुए हैं। दोनों कवियों ने जीवन को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से संवलित किया है। नानात्व एवं वैषम्यपूर्ण जीवन को इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय ही सुखी बना सकता है। जब तक जीवन में समरसता की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आनन्दोपलब्धि नहीं हो सकती, यह सत्य 'कामायनी' और 'कुमारसंभव' के माध्यम से प्राप्त होता है। निवृत्ति और प्रवृत्ति का सामंजस्य ही स्वस्थ जीवन-दर्शन के रूप में दोनों कवियों ने वर्णित किया है। इस रूप में भी दोनों कवियों के दृष्टिकोण में एकरूपता वर्तमान है।

प्रसाद और कालिदास रससिद्ध कवि हैं। दोनों कवियों के काव्यों में विविध रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। वे दोनों कवि मूलतः कोमल भावों के कवि हैं। अतः जो सफलता इन्हें श्रृंगार रस के चित्रण में मिली है, वैसी सफलता अन्य कठोर रसों के निरूपण में नहीं मिल सकी है। इन दोनों कवियों के काव्य श्रृंगार से आरंभ होकर शांत रस में परिणत होते हैं। यह इनकी विशिष्ट दार्शनिकता का प्रभाव है। रस-निरूपण के प्रसंग में भी दोनों कवियों में परस्पर साम्य का ही आधार है।

काव्य-कला की दृष्टि से भी दोनों कवियों में अनेक समानताएँ हैं। इनकी भावाभिव्यक्ति अत्यन्त ही सशक्त एवं मार्मिक है। इनकी भावाभिव्यंजना, लाक्षणिकता, सांकेतिकता, ध्वन्यात्मकता एवं प्रांजलता से प्रौढ़ एवं सशक्त बनी है। दोनों की भाषा प्रांजल एवं भावानुसारिणी है तथा शैली परिष्कृत, प्रौढ़ एवं लालित्यमयी है। अलंकारों का प्रयोग भी सहज एवं स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान, प्रतीक, बिम्ब आदि में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। काव्य-कला की दृष्टि से भी समानताएँ विवेच्य हैं। इस प्रकार 'कामायनी' तथा 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश' की परस्पर तुलना करने पर अनेक स्थल दोनों कवियों में साम्य का संकेत देते हैं। इन विविध दृष्टियों से दोनों कवियों में साम्य की गवेषणा इस शोध प्रबंध में की गयी है।

प्रसाद और कालिदास पात्रों की रचना में भी परस्पर निकटता रखते हैं। प्रसाद के पात्रों पर कालिदास के पात्रों की छाया प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ही रूपों में रही है जिसके संकेत कहीं-कहीं बड़े ही स्पष्ट हो उठे हैं। मनु के रूप-सौंदर्य पर रघुवंशी राजा दिलीप के रूप-सौंदर्य का प्रभाव देखा जा सकता है। नारी-पात्रों के चरित्र-चित्रण में दोनों कवियों को अपूर्व सफलता मिली है। इसका कारण है कि दोनों की मानसिक वृत्ति नारी के रूप-सौंदर्य एवं यौवन के उद्‌घाटन में रमी है। इसी कारण 'कामायनी' और 'कुमारसंभव' में श्रद्धा और पार्वती का चित्रण विस्तृत रूप से हुआ है जबकि मनु और शिव का चित्रण संकेत में ही किया गया है। दोनों कवियों ने श्रद्धा और पार्वती के नैसर्गिक सौंदर्य को बड़ी तन्मयता से उभारा है। इसी कारण दोनों का सौंदर्य लौकिक होता हुआ भी अलौकिक भूमि को स्पर्श किये

हुए है यही इन दोनों कवियों के नारी-सौंदर्य का वैशिष्ट्य है। श्रद्धा के चरित्र में पार्वती के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों सौंदर्यों का सहज प्रभाव देखा जा सकता है। इन दोनों कवियों ने नारी के चरित्र में प्रणयिनी एवं आदर्श पत्नी के रूप की स्थापना की है। यहाँ भी एक विशिष्ट प्रकार का साम्य दृष्टिगत होता है।

प्रसाद और कालिदास ने अशरीरी पात्रों का चित्रण भी मानवीय धरातल पर बड़े कलात्मक एवं आकर्षक रूप में किया है। इन पात्रों में मानवीय भावों का समावेश होने से इनमें सजीवता एवं चारुता आ गयी है। यद्यपि दोनों कवियों ने काम और रति को उनके परम्परागत पति-पत्नी रूप में चित्रित किया है। किंतु इन चरित्रों में अपनी विलक्षण प्रतिभा का समावेश करते हुए कालिदास ने काम और रति का चित्रण विस्तार तथा व्यापक भाव-भूमि पर किया है और प्रसाद ने बड़े सूक्ष्म एवं सांकेतिक रूप में इनका चरित्रांकन शाश्वत वृत्तियों के रूप में किया है। दोनों कवियों ने काम और रति के बाह्य रूप-सौंदर्य की अपेक्षा उनकी आन्तरिक विशेषताओं को अधिक प्रधानता दी है। कालिदास ने वसन्त का चित्रण सजीव पात्र के रूप में किया है। किंतु प्रसाद ने उसे केवल प्राकृतिक वैभव एवं भूमिका के रूप में उपस्थित किया है। लज्जा स्थूल न होकर मानसिक वृत्ति है। इसकी प्रसाद ने कामायनी में अशरीरी पात्र के रूप में अवतारणा की हैं। कालिदास ने भी लज्जा का चित्रण मानसिक वृत्ति के रूप में ही किया है। प्रसाद ने 'कामायनी' में लज्जा सर्ग की नियोजना करके उसके स्वरूप एवं कार्य-व्यापार का व्यापक चित्रण किया है।

इस रूप में कालिदास और प्रसाद—दोनों ही कवियों में साम्य अनेकशः परिलक्षित होता है और स्पष्ट ही प्रसादजी पर उनके परवर्ती होने के कारण कालिदास का प्रभाव पड़ा भी है किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रसाद अपने महाकाव्य 'कामायनी' में केवल अपने पूर्ववर्ती कालिदास को ही प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि ऐसा होता तो 'कामायनी' का अस्तित्व अब तक निःशेष हो गया होता। कालिदास और प्रसाद में मूल साम्य तो इतना ही है कि वे अपनी अभिव्यक्ति के लिए पुरावृत्तों अथवा मिथकों का प्रयोग करते हैं। शेष तो इनका स्वतन्त्र व अन्य-निरपेक्ष रूप से नितांत मौलिक ही है। मानव जगत् का कार्य-व्यापार इतना गहन व असीम है कि उसे एक दृष्टि में अधिगत नहीं किया जा सकता किन्तु उसकी अनेकता में भी एकता के दर्शन होते हैं। यही एकता दोनों कवियों का समान दर्शन होने के कारण उन्हें पर्याप्त निकट ला देती है। प्रस्तुत अनुसंधान-कार्य में उस नैकट्य को भी खोजा गया है और शेष उन दृष्टियों को भी जो एक-दूसरे की विरोधी हैं।

सारांशतः साम्य एवं वैषम्यों का समान रूप से शोध करते हुए इन दोनों कवियों के महाकाव्यों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत अनुसंधान-कार्य का लक्ष्य रही है। ऐसी आशा है कि प्रस्तुत प्रयास इस क्षेत्र में अभाव की पूर्ति करते हुए शोध के निकष पर भी उत्तीर्ण होगा।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्व एवं साहित्यिक कृतित्व

शोधकर्ता—दीनानाथ शर्मा
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1981

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन लेखकों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का नाम अग्रगण्य है। आचार्य द्विवेदी का वरदहस्त हिंदी साहित्य की जिन विभूतियों पर रहा, उनमें स्वामीजी भी एक हैं। स्वामीजी का जन्म पंजाब प्रदेश के लुधियाना नगर में हुआ था। इनके प्रपितामह सिख तथा पिता सनातनधर्मी विचारधारा के अनुयायी थे। प्रारम्भिक शिक्षा डी०ए०वी० स्कूल लाहौर में प्राप्त की। छात्रावस्था में सत्यार्थ प्रकाश तथा राबिन्सन क्रूसो नामक पुस्तकों ने उन्हें सत्य तथा न्याय के लिए निरन्तर संघर्षशील रहने की प्रेरणा दी। महर्षि दयानन्द सरस्वती की विचारधारा में पूर्णतया रच-पचकर वह सुधार की दिशा में आगे बढ़े। लाला लाजपतराय, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। बीस वर्ष की अवस्था में स्वामी महानन्दजी से दीक्षा प्राप्त कर आप सत्यदेव से सत्यदेव परिव्राजक बने। देहरादून, कानपुर होते हुए आप काशी पहुँचे तथा नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक डा० श्यामसुन्दर दास, श्री रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह के सम्पर्क में आये। सरस्वती में आपका पहला लेख भीष्म पितामह नाम से छपा। काशी में रहते हुए स्वामी रामतीर्थ से आपका पत्र व्यवहार हुआ। अमरीका जाने के लिए यह प्रेरक घटना थी। स्वामीजी की दृढ़ संकल्प-शक्ति, कर्मठता, ध्येय-निष्ठा तथा साहसिक दौड़-धूप का परिचय 'अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' से मिल जाता है। अमरीका से आपने आचार्य द्विवेदी को पत्र लिखे तथा 'सरस्वती' में नियमित रूप से प्रकाशनार्थ लेख भेजे। 1911 में अमरीका से लौटकर काशी को साहित्य साधना का केन्द्र बनाया और सत्य-ग्रन्थमाला नाम से अपनी पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया। उन दिनों हिन्दी के प्रमुख पत्रकार श्री लक्ष्मी-

नारायण गर्दे आपसे बड़े प्रभावित थे। सरस्वती के ग्राहकों—विशेषतः तरुणों को आपके लेखों से बड़ी प्रेरणा मिली। नयी रोशनी जो उन्होंने दी थी, काशी और प्रयाग उनकी साधना के दो प्रमुख केन्द्र थे।

राजर्षि टण्डन, गणेशशंकर विद्यार्थी तथा नारायण प्रसाद अरोड़ा के सम्पर्क में आकर वे राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। स्वाधीनता का संदेश तथा हिंदी-प्रचार उनके जीवन के प्रमुख लक्ष्य बन गये। इसी सिलसिले में 1918 में मद्रास के गोखले हाल में श्री देवदास गाँधी के साथ हिंदी कक्षाएँ चलाकर दक्षिण के अहिंदीभाषियों को हिंदी सिखाने का कार्य आपने किया। हिंदी की पहली पुस्तक 'बाल-रामायण' की रचना आपने इसी उद्देश्य से की थी। हिंदी-लेखन को वैचारिक प्रतिबद्धता से जोड़ने के लिए आपने बड़ा प्रयत्न किया। ऐयारी और तिलस्मी लेखन के आप विरुद्ध थे। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति तथा दारोगा दफ्तर जैसे तिलस्मी उपन्यासों को आप विष के भण्डार मानते थे। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों की मौलिकता को लेकर भी आपने असहमति प्रकट की थी। उग्रजी के चाकलेट के विरुद्ध डा० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा चलाये गये घासलेटी साहित्य के आन्दोलन में चतुर्वेदीजी की मित्रता को ताक पर रखकर आपने उग्रजी का साथ दिया। साहित्यिकों के खेमे में निष्पक्ष खड़े होकर तूफान खड़ा कर देना उनके अपराजेय व्यक्तित्व का प्रमुख चिह्न था। श्रीधर पाठक, पण्डित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी तथा श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी स्वामीजी के अनन्य समर्थक साहित्यकार थे।

स्वामीजी सर्वस्व त्याग की प्रतिमूर्ति थे। हरिद्वार में उन्होंने अपने जीवन-भर की सात्विक कमाई तथा कलमजन्य श्रम से अर्जित पवित्र राशि से हिंदी-प्रचार के लिए 'सत्यज्ञान निकेतन' की स्थापना की। 30 नवम्बर, 1943 को यह भवन स्वामीजी ने नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिया। पश्चिमी भारत में हिंदी-प्रचार के लिए यह सम्पत्ति स्वामीजी ने सभा को समर्पित की थी, किंतु अपने लक्ष्य में सभा की उदासीनता के कारण वैसी सफलता नहीं मिल सकी, जैसी स्वामीजी ने आशा की थी। स्वामीजी अन्तिम समय तक इस बात को लेकर व्यथित रहे।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी यावज्जीवन साहित्य साधना करते रहे। उनका लेखनकाल द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक काल से लेकर गाँधीयुग तक फैला हुआ है। इस काल में उन्होंने गद्य-पद्य की अनेक विधाओं को लेकर पर्याप्त साहित्य का सृजन किया।

मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में स्वामीजी के साहित्यिक कर्तृत्व का परिचय दिया। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में हिंदी की प्रथम कहानी का निर्णय करने के लिए इन्दुमती, गुलबहार, प्लेग की चुड़ैल, ग्यारह वर्ष का समय, पण्डित

और पण्डितानी व दुलाईवाली का उल्लेख किया है, पर स्वामी सत्यदेव की कहानी-माला का उल्लेख नहीं किया। परिव्राजकजी की 'आश्चर्यजनक घण्टी' भी 1908 में सरस्वती में छपी थी। यह ठीक है कि 'माला' फ्रांसीसी लेखक की कहानी का अनुवाद है पर पाश्चात्य कहानियों के शिल्प से हिंदी लेखकों को परिचित कराने में यह एक सुखद प्रयत्न कहा जाना चाहिए। राधाकृष्णदास, गिरिजा कुमार घोष, पृथ्वीपाल सिंह, सूर्यनारायण दीक्षित, रूपनारायण पाण्डेय तथा शिवनारायण शुक्ल जैसे अंग्रेजी तथा फ्रेंच से कहानियों के हिंदी अनुवाद प्रस्तुत करनेवाले लेखकों के साथ परिव्राजकजी को भुलाया नहीं जा सकता। विषय वैविध्य की दृष्टि से परिव्राजकजी की हिंदी कहानियों का मूल्यांकन नहीं हुआ। आधुनिक हिंदी कहानी के उद्भवकाल की पृष्ठभूमि में हिंदी साहित्येतिहासकारों द्वारा स्वामीजी की रचनाओं का नामोल्लेख न करना साहित्यिक उदासीनता का ही परिचायक कहा जायेगा।

आधुनिक हिंदी गद्य में यात्रा-साहित्य के लेखन को तीव्रगति देने में भी परिव्राजकजी की लेखनी आगे रही। विदेश-यात्रा को लेखबद्ध करनेवाले हिंदी लेखकों में गोपालराम गहमरी, केदाररूपराम, वेणी शुक्ल, मंगलानन्द पुरी, कृपानाथ मिश्र, सत्येन्द्रनारायण तथा राहुल सांकृत्यायन से अधिक परिमाण में सत्यदेवजी ने ही लिखा है। निबंध, आत्मकथा, लेखन-कला, आलोचना तथा कविता के क्षेत्र में भी उनका लेखन द्विवेदीयुगीन लेखकों से गुणवत्ता में कम नहीं है। आत्मकथा लेखन में भवानीदयाल संन्यासी तथा सत्यदेवजी ने युगांतकारी कार्य किया। सांस्कृतिक मूल्यों के पुनरावलोकन के साथ-साथ शैलीगत उपलब्धि की दृष्टि से भी इस कार्य का मूल्यांकन अपेक्षित था। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर उनके निबन्ध प्रतिक्रियावादी कहे जा सकते हैं, पर तर्क, न्याय, पुष्ट शैली, प्रेषणीयता तथा भाषा के चुटीलेपन की दृष्टि से इस युग के निबंधकारों में उनकी चर्चा होनी चाहिए। खेद है, इतिहास ग्रंथों में कहीं पर भी इस दृष्टि से स्वामीजी का उल्लेख नहीं है।

शैली और लेखन-कला को लेकर बाद में आचार्य रामचंद्र वर्मा तथा आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने अच्छी हिंदी तथा लेखन-कला पुस्तकों की रचना की, पर हिंदी में इस विषय पर 1919 में सर्वप्रथम परिव्राजकजी ने पुस्तक लिखी। परिव्राजकजी ने आन्द्रेमारिसकृत 'दि आर्ट आफ राइटिंग' (1915) तथा वाल्टर रैलेह कृत 'आन राइटर्स एण्ड राइटर्स' (1919) पुस्तकों से प्रेरणा लेकर इस पुस्तक की रचना की थी। परिव्राजकजी की पुस्तक पर रायबहादुर पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र ने अच्छी सम्मति दी थी—'नवाभ्यासी लेखकों के लिए इस पुस्तक ने मार्ग-दर्शक का कार्य किया। लेखनी उठाने से पहले यदि इसे पढ़ लिया जाये तो सफल लेखक बनने का गुर हाथ आ सकता है। तात्पर्य यह कि आधुनिक हिंदी गद्य-लेखकों तथा भाषा-विचारकों में इनका स्थान पुरस्कर्ता आचार्य का है।'

हर्ष का विषय है कि इस प्रबंध में उक्त सभी दृष्टियों से स्वामीजी के कर्तृत्व की अंतरंग परीक्षा उनके साहित्यिक अवदान को योग्यता के साथ उद्घाटित किया गया है। इस अनुसंधानपरक शोध प्रबंध में स्वामीजी के जीवन-वृत्त के संकलन के साथ उनकी रचनाओं के प्रतिपाद्य और शैलीगत वैशिष्ट्य का प्रकाशन भी हुआ है। तथ्यपूर्ण व्यवस्थित सामग्री, सुबोध प्रांजल भाषा तथा शोधपुष्ट निष्कर्ष इस ग्रंथ की मूल विशेषताएँ हैं। निबंध साहित्य, लेखन-शैली, यात्रा-साहित्य, जीवनी तथा आत्मकथा, कहानी, काव्य तथा राष्ट्रभाषा प्रचार के क्षेत्र में किये गये कार्यों का समीक्षात्मक अध्ययन लेखक के विशद अध्ययन का परिचायक है।

शोध-प्रबंध नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय स्वामीजी के जीवन-परिचय से सम्बन्धित है। इसमें उनके व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डाला गया है। स्वामीजी मूर्धन्य साहित्यकार के साथ-साथ उच्चकोटि के स्वतन्त्रता-सेनानी और समाजसेवी भी थे। उनमें दानशीलता का भी गुण विद्यमान था। शोधकर्ता ने उनके इस रूप का भी उल्लेख किया है।

द्वितीय अध्याय में स्वामीजी के निबंध साहित्य का विवेचन है। उनके प्रकाशित निबंध संकलनों की सूची इस प्रकार है—1. संजीवनी बूटी (1915), 2. मनुष्य के अधिकार (1922), 3. ज्ञान के उद्यान में (1937), 4. भारतीय स्वाधीनता संदेश (1939), 5. अनन्त की ओर (1948)। इसके अतिरिक्त उनके पाँच निबंध 'विशाल भारत' और एक निबंध 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए हैं। इन निबंधों का समावेश किसी संकलन में नहीं हुआ। इनमें कुछ निबंध ऐसे भी हैं जो पर्याप्त विवाद और चर्चा के विषय बन गये थे। परिव्राजकजी के समकालीन साहित्यिक मित्रों में इन निबंधों ने असाधारण कटुता उत्पन्न कर दी थी। वैचारिक दृष्टि से प्रचलित राजनीतिक-चिंतनधारा में सर्वथा नया तूफान खड़ा कर देने के कारण इन निबंधों का ऐतिहासिक महत्व है।

निबन्ध-लेखन में स्वामीजी की दृष्टि उपयोगितावादी रही है। इन निबन्धों में उनके साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक विचार व्यक्त हुए हैं।

तृतीय अध्याय में परिव्राजकजी की लेखन-शैली का विश्लेषण है। परिव्राजकजी के साहित्य में भाषा एवं लेखन-शैली के विविध रूप उपलब्ध हैं। उन्होंने अपने साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग करने के साथ अन्य भाषाओं और बोलियों के सम्भव रूपों का यथास्थान प्रयोग किया है। उद्बोधक शैली की ओजता से लेकर विचार प्रधान गम्भीर शैली तक के समस्त रूप उनके साहित्य में विद्यमान हैं। उनकी अलंकार सज्जा, विशेषकर उपमाओं के नवीन प्रयोग अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। परिव्राजकजी ने भाषा को सहज एवं सरस बनाने के साथ-साथ यथार्थ और व्यावहारिक रूप देने की ओर अधिक ध्यान दिया है। व्यंग्यों का

भी उन्होंने खुलकर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू तथा फारसी की सूक्तियों का प्रयोग भी मिलता है।

चतुर्थ अध्याय परिव्राजकजी की 'लेखन-कला' से सम्बन्धित है। लखनऊ 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' में परिव्राजकजी ने 'लेखन-कला' पर एक लिखित व्याख्यान दिया था, जिसे कुछ घटा-बढ़ाकर 'शिक्षा का आदर्श' नामक पुस्तक के प्रथम संस्करण में सम्मिलित कर दिया गया था। जब 'शिक्षा का आदर्श' नामक पुस्तक का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया तब लेखन-कला को नवाभ्यासी लेखकों के लिए उपयोगी समझकर पृथक प्रकाशित करवाया गया। यह 132 पृष्ठों की पुस्तक साहित्योदय कार्यालय, प्रयाग से मार्गशीर्ष संवत् 1973 में प्रकाशित हुई थी। तब से अब तक इस विषय पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रसिद्ध भाषा-तत्वज्ञ पं० किशोरीदास वाजपेयी की 'लेखन-कला' श्री रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिंदी' इस क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति पा चुकी हैं। फिर भी अपने विषय की पहली पुस्तक होने के कारण परिव्राजकजी की यह लघु पुस्तिका अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है।

इसमें लेखक की भाषा, लेखक के प्रकार, लेखक का दायित्व, आदर्श लेखक के गुण, लेखन-कला तथा लेखन-शैली आदि विषयों पर गम्भीरतापूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय परिव्राजकजी के यात्रा-साहित्य से सम्बन्धित है। परिव्राजकजी आधुनिक युग के प्रमुख पर्यटक लेखक थे। अपने जीवन के लगभग 40 वर्षों में निरन्तर यात्रा करते हुए उन्होंने स्वदेश-विदेश के कई स्थलों का भ्रमण किया। कैलाश, योरोप, अमरीका, जर्मनी एवं हिमालय उनकी यात्राओं के आकर्षण केन्द्र थे। वास्तव में परिव्राजकजी 'चरैवेति-चरैवेति' के मूल-मंत्र में विश्वास रखते थे और पूर्ण आस्था के साथ जीवन-पर्यन्त उन्होंने इसका पालन किया। दुर्गम प्रदेशों एवं अलंघ्य उपत्यकाओं की यात्राएँ परिव्राजकजी के अदम्य साहस एवं आत्मबल की परिचायक हैं। इतना ही नहीं, परिव्राजकजी को उनकी यात्राओं ने ही लेखक बनाया है—ऐसा कहना असंगत न होगा। उन्होंने अपनी यात्राओं के विविध, विचित्र व रोचक अनुभव अपने यात्रा ग्रंथों में दिये हैं। उनकी यात्रा-कृतियाँ हैं—मेरी कैलाश-यात्रा, अमरीका-दिग्दर्शन, अमरीका-भ्रमण, अमरीका के निर्धन विद्यार्थी, मेरी जर्मन-यात्रा, योरोप की सुखद स्मृतियाँ तथा यात्री मित्र।

प्रधानतया परिव्राजकजी की यात्रा कृतियाँ वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं। इनमें यात्रा-देश की स्थिति, उसके प्राकृतिक सौंदर्य के साथ वहाँ के जीवन, इतिहास पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वास्तव में परिव्राजकजी का यात्रा-साहित्य उनके यात्रा-स्थानों की राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्थिति को जानने के लिए विश्वकोष के समान है। उनका यात्रा-साहित्य विव-

रणात्मक सूचनात्मक मात्र न होकर साहित्यिकता से सम्पन्न है। उनके यात्रा-वर्णनों में स्थान-स्थान पर भावावेश, उल्लास, आत्मीयता आदि की अभिव्यक्ति पाई जाती है।

षष्ट अध्याय में परिव्राजकजी की जीवनी एवं आत्म-कथापरक साहित्य का विवेचन है। जीवनी, गद्य साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है। परिव्राजकजी ने इस विधा पर दो पुस्तकें लिखीं—एक राजर्षि भीष्म पितामह और दूसरी विश्ववन्द्य सुकरात। राजर्षि भीष्म पितामह में भीष्म के जीवन के उन महत्वपूर्ण अंशों को उभारा गया है जो जीवन-संग्राम में अग्रसर होनेवाले प्रत्येक मनुष्य का मार्ग-दर्शन करते हैं। विश्ववन्द्य सुकरात में सुकरात के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को अंकित किया गया है। इन दोनों जीवनियों में उपदेश-वर्णन की प्रधानता के कारण साहित्यिक गुणों का अभाव मिलता है। परिव्राजकजी की 'स्वतंत्रता की खोज में' आत्मकथापरक कृति है, जो सन् 1951 में प्रकाशित हुई थी। यह वस्तुत: परिव्राजकजी के जीवन के 72 वर्ष का वृत्त है। है तो यह आत्मकथा, पर इसमें उपन्यास की-सी रोचकता मिलती है। इसमें देशकाल तथा वातावरण का सजीव चित्रण मिलता है। उनके इन ग्रंथों में इतिहासकारों, समाज-शास्त्रियों आदि के लिए पर्याप्त एवं प्रामाणिक सामग्री संग्रहीत है।

सप्तम अध्याय स्वामीजी के कथा-साहित्य के विवेचन से सम्बन्धित है। परिव्राजकजी के कहानी-लेखन का काल द्विवेदी युग से आरम्भ होता है। द्विवेदीजी जब तक सरस्वती के सम्पादक रहे तब तक परिव्राजकजी की रचनाएँ, कहानियाँ तथा विविध विषयों पर लिखे गये लेखों के रूप में प्रकाशित होती रहीं। परिव्राजकजी का एकमात्र कहानी संग्रह 'देव चतुर्दशी' है जिसमें उनकी चौदह कहानियाँ संग्रहीत हैं। इनके नाम हैं—साइबेरिया के जेल से सरहदी जेल में, लँगोटिया यार, महापुरुष के दर्शन, आश्चर्यजनक घण्टी, कीर्ति-कालिमा, माला, गंगा-कहार, मेरी बेचैनी, हिंदुत्व की चिंगारी, पार्टी-पोलिटिक्स के पाप, पंजाबिन माई, फ्रांसीसी फंदे, शिकार के दाँव-पेंच तथा भेंट का भँवर। इनमें माला तथा आश्चर्यजनक घण्टी को छोड़कर सभी मौलिक हैं। स्वयं परिव्राजकजी ने अपनी इन कहानियों के विषय में लिखा है कि—'हिंदी साहित्य में इस प्रकार की विविध विषयक कहानियाँ आज तक नहीं लिखी गयीं।' इन कहानियों का महत्व इस कारण भी है कि इन्हें पढ़कर तत्कालीन लोकरुचि का पता चलता है। परिव्राजकजी की इन कहानियों पर उनका प्रचारक रूप हावी रहा है। वह अपनी कहानियों में एक स्वतन्त्र विचारक के रूप में उभरकर आये हैं। अपनी हर कहानी में उनका स्वतंत्र चिंतन एक खुली हुई पुस्तक के समान हमारे सामने आता है।

अष्टम अध्याय में परिव्राजकजी के काव्य-ग्रंथों की भाव एवं कलापक्ष की दृष्टि से विवेचना की गयी है। परिव्राजकजी की कविताओं का संकलन 'अनुभूतियाँ' नाम से प्रकाशित है। 'अनुभूतियां' की कविताओं का अध्ययन करने से हम इस परिणाम

पर पहुँचते हैं कि उनके काव्यशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है। काशी के विद्यार्थी जीवन में सम्भव है उन्होंने अन्य विषयों के अध्ययन के साथ-साथ काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया हो। कविता के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए काव्यशास्त्र के अध्ययन की अपेक्षा सहृदयता का महत्व अधिक है। पर परिव्राजकजी की इन कविताओं में सहृदयता की अपेक्षा पाण्डित्य का पलड़ा, कुछ अधिक भारी जान पड़ता है।

परिव्राजकजी की कविताओं का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन्होंने बीच-बीच में गद्य का भी प्रयोग कर दिया है, ऐसी दशा में रचना न खण्ड काव्य बन सकी है और न चम्पू।

नवम् अध्याय में परिव्राजकजी द्वारा राष्ट्र-भाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए की गयी सेवाओं और कार्यों का उल्लेख है। हिंदी सेवी संस्थाओं यथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिंदी साहित्य सम्मेलन-प्रयाग, पंजाब प्रान्तीय हिंदी साहित्य सम्मेलन तथा दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के मंच से स्वामीजी ने हिंदी का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। पंजाब से लेकर त्रिचनापल्ली तक हिंदी की ध्वजा उठाये स्वामीजी निष्काम और निर्लोभवृत्ति से निरन्तर घूमते रहे। राष्ट्रभाषा की सेवा के लिए ही उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दी। हिंदी-सेवा के लिए उनका इससे बड़ा त्याग और क्या हो सकता है।

अस्तु, यह कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता कि सत्यदेव परिव्राजक हिंदी की उपेक्षित साहित्यिक विधाओं के पुरस्कर्ता थे और उन्होंने निबंध, आत्मकथा, जीवनी, यात्रा और गल्प के क्षेत्र में भौतिक कार्य करके अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया। आचार्य द्विवेदी और श्री टण्डनजी के साथ उन्होंने हिंदी-भाषा और साहित्य के लिए जो कार्य किया, हम उनके प्रति नतसिर-कृतज्ञ हैं।

आचार्य पद्मसिंह शर्मा : जीवनी और कृतित्व

शोधकर्ता—इन्द्रजीत शर्मा
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1981

तुलनात्मक हिंदी आलोचना के जनक आचार्य पद्मसिंह शर्मा; द्विवेदी युग के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार थे। आपका जन्म सन् 1876 ई० फाल्गुन शुक्ल द्वादशी, रविवार को नायक-नगला, बिजनौर में हुआ था। गाँव के प्रतिष्ठित त्यागी जमींदार परिवार में उत्पन्न होने के कारण पण्डितजी संस्कृत, उर्दू और फारसी के अच्छे ज्ञाता बने। आर्यसमाज के सम्पर्क में आने पर उन्होंने संस्कृत का शास्त्रीय परिपाटी से अध्ययन किया। 1894 ई० में प्रयाग में पण्डित भीमसेन की पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ने गाये और फिर काशी में वेद-वेदांगों के निष्णात् विद्वान पण्डित काशीनाथ शास्त्री से उन्होंने दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया। बाद में गम्भीर स्वाध्याय से पण्डितजी ने प्रतिभा के जो नये कीर्तिमान छुए, वे हिन्दी जगत् में अनुपमेय हैं। 1904 ई० में गुरुकुल काँगड़ी में वे हिंदी के अध्यापक नियुक्त हुए, तभी सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा के साथ 'सत्यवादी' साप्ताहिक का सम्पादन किया। अजमेर से परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'परोपकारी' और 'अनाथ-रक्षक' पत्रों का भी उन्होंने सम्पादन किया। फिर वे ज्वालापुर महाविद्यालय में चले गये और वहाँ उन्होंने 'भारतोदय' मासिक का प्रकाशन आरम्भ किया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पण्डितजी को अपना लेखन गुरु मानते थे। 'भारतोदय' में ही राजेन्द्र बाबू के हिन्दी लेख पण्डितजी ने संशोधित करके छापे।

सन् 1910 और 11 के बीच 'सरस्वती' में पण्डितजी ने 'सतसई संहार' नाम से लेखमाला प्रकाशित की जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। मिश्र-बन्धुओं ने 'हिंदी नवरत्न' में देव की श्रेष्ठता सिद्ध करने में जो भद्दे आक्षेप सिद्ध किये थे उसका प्रभावी निराकरण पण्डितजी ने इन टीकाओं में किया 1917 ई० में बिहारी सतसई का प्रथम भाग, तुलनात्मक आलोचना प्रकाशित हुआ और 1922 ई० में बिहारी

सतसई का दूसरा भाग 'संजीवन-भाष्य' नाम से सामने आया।

शर्माजी ने संजीवन भाष्य में सतसई का आधार पाठ और क्रम आजमशाही रखा। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उनसे पूर्व पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भावार्थ प्रकाशिका और पं० अम्बिका दत्त व्यास ने 'विहारी विहार' में यही क्रम-पाठ अपनाया था। वस्तुस्थिति यह है कि भावार्थ प्रकाशिकाकार ने हरिचरण-दास कृत 'हरि प्रकाश टीका' और लल्लूलाल कृत 'लाल चन्द्रिका' को अपना उपजीव्य बनाया था। इस टीका की पदावली हरिप्रकाश टीका से उधार ली गई है, तो नायिका, अर्थ और अलंकार का निर्देश सूरति मिश्र की टीका से उठा लिये गये हैं। इस लाल चन्द्रिका टीका का खण्डन जब शर्माजी ने 'सतसईसंहार' नाम से सरस्वती में किया तो लालचन्द्रिका की नकल पर बनी ज्वाला प्रसाद मिश्र की भावार्थ प्रकाशिका भी उसकी लपेट में आ गई।

इस प्रबंध में विस्तार के साथ यह बताया गया है कि शर्माजी ने बिहारी का अन्ध समर्थन ही नहीं किया अपितु बिहारी पर लगाए गये राधाकृष्ण दास, अम्बिका दत्त व्यास और मिश्र बंधुओं के आक्षेपों का परिहार भी किया। सतसई के आधार स्रोतों का उल्लेख करते हुए गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती और अमरुक शतक के भाव-सादृश्य वाले अंशों का उन्होंने प्रथम बार उल्लेख किया। ये तीनों ग्रंथ ध्वनि-प्रधान रहे हैं अतः उन्होंने एक नवीन दृष्टि यह भी दी कि बिहारी की सतसई ध्वनि-प्रधान ग्रंथ है, केवल नायिका भेद, अलंकार या रस तक ही वह सीमित नहीं है। उनसे पूर्व सतसई का अध्ययन इस दृष्टि से नहीं हुआ था। यों कपूरथला के रीतिकालीन कवि आचार्य राम ने अपनी 'हरि-रस-त्रिवेणी' नाम की टीका में सतसई की ध्वनि प्रधान टीका ही की थी। पर सतसई के टीकाकार चाहे लाल कवि हों और चाहे मानसिंह; सूरति मिश्र हों या रघुनाथ बंदीजन; मनीराम हों या लाला भगवान दीन, किसी ने भी रस, अलंकार और नायिका-भेद के अतिरिक्त ध्वनि के संदर्भ में सतसई की परख नहीं की। शर्माजी का साहित्यिक मान-दण्ड यही रहा। उन्होंने सतसई के तुलनात्मक अध्ययन में यह बात स्पष्ट की है कि जिस शैली पर गाथा सप्तशती, अमरुक शतक और आर्या सप्तशती की रचना हुई है उसे मुक्तक कहते हैं। मुक्तक में अलौकिकता लाने के लिए कवि को अभिधा से बहुत कम और ध्वनि-व्यंजना से बहुत अधिक काम लेना पड़ता है, यही उसके चमत्कार का मुख्य हेतु है। इस प्रकार के रसपूर्ण काव्य के निर्माता ही वास्तव में महाकवि पद के अधिकारी हैं। बिहारी इस कसौटी पर सर्वथा खरे उतरते हैं।

इस प्रबंध में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि पं० पद्मसिंह शर्मा की भाषा-शैली, विशद अध्ययन, तुलनात्मक विवेचन और प्रभावी निष्कर्ष प्रस्तुत करने की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाय। शर्माजी ने आक्षेपों और दोषों के परिहार-प्रसंग में जिस पांडित्य का परिचय दिया है वह आज भी अनूठा है। पण्डित जी के

सात ग्रंथों का परिचय इस प्रबंध में दिया गया है—(1) सतसई, भाग-एक (2) सतसई, भाग-दो (3) पद्म पराग, भाग-एक (4) पद्म पराग, भाग-दो (5) प्रबंध मंजरी (6) हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी (7) गद्य गौरव।

पण्डितजी ने समीक्षा, जीवनी, संस्मरण, श्रद्धांजलि, भावात्मक निबंध, आलोचनात्मक निबन्ध, पत्रलेखन तथा सम्पादकीय लेखन में आदर्श प्रस्तुत किया है। वे बहुभाषाविद् होने के कारण उर्दू को हिन्दी की शैली ही मानते थे। उनका कहना था कि हिंदी और उर्दू एक ही भाषा की दो कलमें हैं। इस दृष्टि से 1932 ई० में उन्होंने हिन्दुस्तानी एकेडमी में 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' नाम से जो व्याख्यान दिया उसकी प्रशंसा मौलाना अकबर जैसे विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है। पद्मसिंह शर्मा के पत्रों की प्रशंसा तो सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी तक ने की है। उनके पत्रों का सम्पादन पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने किया है। उन पत्रों के प्रतिपाद्य और शैली का गम्भीर विवेचन इस प्रबंध में किया गया है।

पण्डितजी के संस्मरण भी हिंदी की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। निबंधों की दृष्टि से 'पद्म पराग' और 'प्रबंध मंजरी' का विवेचन भी किया गया है। श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, गुलेरीजी, राजा लक्ष्मण सिंह, मौलाना अकबर, मौलाना हाली पर उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे उनकी स्फूर्त हिंदी शैली का पता चलता है। पण्डितजी की सजीव भाषा, मनोहर शैली और हास्य-व्यंग्य प्रधान दृष्टि की प्रशंसा हिंदी के सभी समीक्षकों ने की है। यही कारण है कि 1928 ई० में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन के वे सभापति बने। रवींद्रनाथ ठाकुर ने 1929 ई० में उन्हें शांतिनिकेतन बुलाकर सम्मानित अतिथि बनाया और 1922 ई० में उन्हें संजीवन भाष्य पर 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया गया। पण्डितजी सफल अनुवादक भी थे। उनकी अनुवाद शैली का भी विवेचन इस प्रबंध में किया गया है।

अस्तु, सारांश रूप में कहा जा सकता है कि शर्माजी के जीवन-वृत्त, हिंदी-लेखन, समीक्षा-शैली, टीका-शैली, निबंध-लेखन, अनुवाद, भाषा-विचार, पत्र-लेखन तथा सम्पादकीय टिप्पणी लेखन को देखते हुए उनके योगदान का मूल्यांकन इस शोध प्रबंध में हुआ है। आज भी शर्माजी अपने क्षेत्र में अतुलनीय हैं। उनकी टक्कर का सतसई भाष्य आज भी दूसरा नहीं लिखा जा सका। यद्यपि 111 दोहों का ही भाष्य वह कर सके थे तथापि भाष्य का जो विराट् फलक उन्होंने तैयार किया उसका अनुगमन परवर्ती भाष्यकार नहीं कर सके। संस्कृत के अलंकृत काव्य और उर्दू शायरी के अध्ययन से उनकी लेखनी में उक्ति-वैचित्र्य उतरा और भाषा में एक तराश, चुस्ती और एक ताजगी पैदा हुई। परवर्ती हिंदी आलोचकों ने यदि आलोचना के क्षेत्र में इस मानक भाषा को स्वीकार कर लिया होता तो हिंदी-शैली की जड़ता और बासीपन समाप्त हो गया होता।

कापालिक नाथ पंथ : साधना और साहित्य

शोधकर्ता—श्यामलाल शर्मा विनीत
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1981

सारांश

आचार्य शुक्ल ने लिखा था कि नाथ पंथ वज्रयानी शाखा का विकास है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शैव-बौद्ध साधना के समवेत प्रभाव से नाथ पंथ का उद्भव माना है। डा० द्विवेदी ने कण्हपा के साहित्य पर विचार करते हुए नाथ सम्प्रदाय में योगिनी मार्ग अथवा कापालिक मार्ग की चर्चा की थी। डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने 1976 ई० में तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्य कृष्ण वज्रपाद की अपभ्रंश रचनाओं का अध्ययन एवं सम्पादन शीर्षक प्रबंध डी० लिट्० के लिए कानपुर विश्वविद्यालय में जमा किया तथा शोधोपाधि प्राप्त की। इस कृति में भी लेखक की दृष्टि वज्रयान मूलक ही रही। कण्हपा के पूर्ववर्ती और परिकर वर्ती कापालिक—योगियों के विचारों, वाणियों तथा मंतव्यों का अध्ययन इस प्रबंध में नहीं हो सका। विश्व-भारती शांति निकेतन में 1969 ई० में रणजीत साहा का एक शोध-प्रबंध प्रस्तुत हुआ जिसका विषय था—सिद्धों की अपभ्रंश कृतियों का अध्ययन। किन्तु इस कृति में भी विषय सीमित रहा तथा औघड़ शाखा और कापालिक तत्त्व दर्शनवादी कवियों का समग्र अध्ययन नहीं हो सका। मंगल बिहारी शरण सिंह का शोध प्रबंध 'सिद्धों की संधा भाषा' बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी से 1973 में प्रकाशित हुआ। प्रतीकों के स्पष्टीकरण तथा भाषा-संरचना मूलक अध्ययन ही इस प्रबंध का अभि-प्रेत विषय था।

प्रस्तुत प्रबंध में सर्वप्रथम कापालिक नाथ पंथ शीर्षक से उन सिद्ध कवियों को पृथक् करने का प्रयत्न किया गया है जो वज्रयान की अपेक्षा पाशुपतवादियों से प्रभावित थे तथा शैव-शाक्त कापालिकों की परम्परा में स्वयं को दीक्षित तथा

प्रवृत्त मानते थे । मत्स्येन्द्र और जालंधर नाथ की सीधी वंश-वृक्षीय परम्परा में जुड़े होने से इन्हें वज्रयानी नहीं कहा जा सकता । यह परम्परित धारणा के विरुद्ध नई दृष्टि है और इस स्थापना की रक्षा का प्रयत्न सर्वत्र प्रबंध में हुआ है । यह इस कृति की पहली मौलिकता है ।

द्वितीय विशेषता इस अध्ययन की यह है कि कपाल-साधना के सूत्र हमने वैदिक साहित्य में खोजे हैं । आगमिक धारा में शैव-शाक्त, सौगतों ने कपाल-साधना वेद से ली । अत: कापालिक नाथ मत को हम वेदोक्त आगमिक धारा मानते हैं । कापालिक नाथों को शैव, बौद्ध अथवा उभयवादी माननेवालों के लिए यह धारणा निस्संदेह नवीन कही जायगी । डा० फर्कुहर, जी० एस० घुरे, आचार्य द्विवेदी तथा डा० उपाध्याय की मान्यताओं का पुनर्परीक्षण कर उनकी एकांगिता सिद्ध की गई है । आचार्य गोपीनाथ कविराज की भी यही दृष्टि थी । कापालिक मत के स्रोतों में प्रबोध चन्द्रोदय, कर्पूर मंजरी, मालती माधव की चर्चा तो पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी की थी किन्तु आगम प्रामाण्य, कूर्म पुराण, शक्ति संगम तन्त्र, तन्त्र शुद्धाख्य प्रकरण, यजुर्वेद, कठोपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तन्त्रालोक, परात्रिशिका, साधन माला, बृहन्नील तंत्र, अथर्व, मार्कण्डेय पुराण, तथा माण्डूक्योपनिषद् के परिप्रेक्ष्य में इस साधना के सूत्रों का उल्लेख पहली बार इस प्रबंध के द्वितीय अध्याय में हुआ है । तृतीय अध्याय में कापालिक नाथ मत के कवियों का समय, कृतियां तथा प्रवृत्तियां विवेचित हैं । चर्याओं का अर्थ देते हुए उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि तथा कृतियों के प्रतिपाद्य का निरूपण भी व्यापक फलक पर पहली बार इस प्रबंध में हुआ है । जालंधर, मत्स्येन्द्र, कण्हपा, गोपीचंद भर्तृहरि की सबदी भी इसी प्रसंग में अन्य अध्येताओं की अपेक्षा प्रथम बार उद्धृत हुई हैं । चतुर्थ अध्याय में औघड़मत को कापालिक कथाओं की उप शाखा मानकर सन्निविष्ट किया है तथा उसके प्रमुख कृतिकारों का कृति सहित परिचय दिया गया है ।

पंचम अध्याय में कापालिक नाथ पंथ की चर्या, प्रतीकोपासना तथा दर्शन पर अधिकारपूर्वक लिखा गया है । भस्म, कपाल, रुद्राक्ष, त्रिशूल, वज्र मद्य, मांस, योषिता-विहार, सामरस्य, शिव-शक्ति का अद्वैत, श्मशान-साधना, चक्रनाड़ी-साधना तथा प्रतीकोपासना की भौतिक तथा आध्यात्मिक व्याख्याएँ पहली बार की गई हैं । वैदिक तथा वैदिकेतर दृष्टियों की समानता भी इस प्रकरण में दरसाई गई है ।

षष्ठ अध्याय में कापालिक नाथपंथियों की वाणियों के काव्य-वैभव का उद्घाटन किया गया है । इतिहास, सामाजिकता, धर्म, मनोरंजन, आजीविका आदि का उल्लेख करते हुए इन रचनाकारों के युगबोध को स्पष्ट किया गया है तथा उनकी चर्या-प्रतीक-योजना से उनके वर्ग स्तर का निर्देश किया गया है । शृंगार, वीभत्स, भय, विस्मय आदि भाव सम्वेदना, छंद, कौशल, अलंकृत उक्तियाँ तथा मगही भाषा प्रवणता के संदर्भ में इनके काव्य-कौशल की चर्चा की गई है पर

समग्रतया इन्हें उत्कृष्ट कोटि का कवि नहीं कहा जा सकता। शोकगीत, लोकधुन, राग योजना, प्रतीक योजना तथा रूपक विधान की दृष्टि से इनकी रचनाएं उल्लेखनीय हैं। पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग इनके विचार तत्त्व को प्रदर्शित करते हैं। परवर्ती नाथों-संतों ने गुरुतत्त्व, राग-साधना, रूपक विधान, पाखण्ड, खण्डन, पिंड-ब्रह्माण्डगत एकता तथा छन्द प्रतीक विधान की दृष्टि से इनका पर्याप्त ऋण स्वीकार किया है। उपसंहार में इस ओर संकेत दिया गया है यद्यपि यह पर्याप्त नहीं है। डा० धर्मवीर भारती, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० रांगेय राघव तथा डा० रणजीत साहा ने उधर डा० शहीदुल्ला और डा० सुकुमार सेन ने भाव तथा शैली-साम्य की तालिकाएँ अपनी रचनाओं में प्रस्तुत की हैं। अतः हमने उनका संकेत मात्र कर दिया है। कापालिक नाथ पन्थ की साधना और साहित्य की जानकारी देना हमारा अभीष्ट था और इसी दृष्टि से यह प्रबंन्ध इस अभाव की विनम्र पूर्ति करता है।

काम रूप, बंगाल, उड़ीसा, कांगड़ा, महाराष्ट्र तथा आबू इस साधना के अनुयाइयों के प्रमुख स्थल रहे हैं। तत्कालीन, राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक दशाओं का सही बिम्ब इनकी रचनाओं में मिलता है। मनोरंजन के साधनों तथा जीवन-मरण-विवाह जैसे संस्कारों का चित्रण भी इन कवियों ने किया है। भारतीय धर्म, इतिहास, और समाज के संदर्भों में इनकी वाणियों का विवेचन कर हमने यह प्रमाणित किया है कि इन कवियों का समाज बोध जाग्रत था। इन पीठों की देहस्थित साधना का उद्घाटन भी किया गया है। पिंड-ब्रह्माण्ड गत साधना की एकता के प्रमाणीकरण में यह प्रयास उल्लेखनीय है। सामाजिक प्रथाओं, जीविकाओं, मनोविनोद, रहन-सहन आदि पर भी इन कवियों ने प्रकाश डाला है। इस प्रकार हमने उनकी आजीविकाओं से इन सिद्ध कवियों के कार्य-क्षेत्र पर भी प्रकाश डाला है।

साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से रस, नायिकाभेद, अलंकार-प्रतीक योजना, छंदविधान, राग-निर्देश तथा भाषा पर विचार करते हुए इनके काव्य-बोध को उजागर किया है। प्रो० स्नेलग्रेव ने इन रचनाओं को संधा भाषा कहा था। डा० बुर्नोफ इसे गूढ़ार्थ वाची मानते थे। तान्त्रिक ग्रन्थों की भाषा को डा० इलियट ने इण्टेशनल लैंग्वेज (साभिप्राय भाषा) कहा था पर हमने राहुलजी की मान्यताओं को पुष्ट करते हुए बताया कि पारिभाषिक शब्दों के रमणीय प्रयोग तथा भावात्मक बिम्ब-विधान के सहारे इन कवियों ने काव्य-भाषा का स्वरूप निर्मित किया। इसका मूल रूप मगही है जिसमें भोजपुरी, बंगला, मैथिली का पर्याप्त प्रभाव है। सामासिक रचनाओं में कर्मधारणातत्पुरुष, द्वन्द्व तथा बहुव्रीहि के प्रयोग मिलते हैं। तद्धित का प्रयोग बहुत कम था। अव्यय और उपसर्ग अपभ्रंश के थे। छन्दों में सममात्रिक का प्रयोग हुआ है पर मात्राओं का अनुशासन कहीं नहीं माना गया। कण्हपा ने लोक-

धुन के सहारे रागों में संशोधन, परिवर्धन भी किया जैसे कण्ह गूजरी। इन सिद्धों की कुछ रचनाएँ नेपाल में चर्चा नाम से सुरक्षित हैं जो इनकी लोकप्रियता की साक्षी देते हैं। रूपक विधान तथा उलटबांसी विधाओं के तो यह जन्मदाता हैं। परवर्ती सन्त साहित्य में यह परम्परा इन्हीं से ली गई। प्रेममूलक रहस्यवाद तथा साधना मूलक रहस्यवाद भी कण्हपा, शबरपा, कंलाम्बरपाद, लुईपा आदि की चर्याओं में मिलते हैं। कीनाराम, भिनकराम तथा योगेश्वराचार्य औघड़ की रचनाओं में भी रहस्य के तत्त्व हैं। कबीर तथा जायसी की परम्परा में दादू, दरिया आदि पर भावात्मक तथा साधनात्मक रहस्यवाद का ऋण इन्हीं कापालिक नाथ पन्थी कवियों ने डाला। सहज वैराग्य, सहज कर्म, सहज त्याग, सहज विचारणा, सहज ज्ञान, सहज प्रेम, साधना, अजपा जाप, उलटी चाल, पाखण्ड खण्डन, आध्यात्मिक प्रणय की प्रतिष्ठा, चक्र निरूपण, संख्यावाचक, पशुवाचक, वस्तुवाचक तथा रूपकात्मक प्रतीक योजना और उलटबांसी शैली सन्तों को सिद्ध कवियों से ही मिली। साखी (दोहाकोश) सबदी (चर्या) की योजना भी सिद्ध कवियों की ही देन है। अतः गोरख, कबीर, दादू, दरिया आदि सन्त कवियों के पथ दर्शक आचार्य कवियों के रूप में कण्हपा आदि का योगदान विस्मृत नहीं किया जा सकता। मदिरा, भाठी, कलाली, विवाह, ससुराल, पीहर, वीणा, चादर, करघा आदि की प्रतीकात्मक योजना के सूत्र ढूंढ़ने चलिए तो सिद्ध कवियों के दरबार में हाजिर होना पड़ेगा। भाव, शैली, भाषा, छन्द सभी दृष्टियों से सिद्ध कवियों का प्रभाव संत कवियों पर है। प्रस्तुत अध्ययन से कापालिक नाथ कवियों की साधना और वाणी-वैभव का पता चलेगा तथा हिन्दी निर्गुण काव्यधारा की पृष्ठभूमि के रूप में इसके योगदान के मूल्यांकन की प्रेरणा मिलेगी। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कापालिक नाथ सिद्धों की वाणियों से प्राप्त विचार-सूत्र निम्नलिखित हैं।

1. भावाभावमुक्त परमार्थ सत्ता की प्रतिष्ठा
2. कुण्डलिनी योग तथा श्वास-जप
3. महासुखवाद तथा मुक्ति की आनन्दवादी परिकल्पना
4. खसमावस्था या उन्मनीभाव
5. बाह्याचार खण्डन
6. राग साधना तथा पिंड-ब्रह्माण्डवाद
7. स्वसंवेद्यज्ञान की प्रामाणिकता
8. प्रतीक शैली का प्रयोग। गुह्यसाधना की पात्रता को सुरक्षित रखने के लिए।

परिशिष्ट में प्रथम बार अभिनव गुप्त के देश्य भाषा छन्दों को उद्धृत कर कापालिक दर्शन के मूल आधारों को स्पष्ट किया गया है। इससे पता चलता है कि योगिनी कौलमत के अनुयायी संस्कृतज्ञ होते हुए भी देश्य भाषा में लिखना गौरव समझते थे तथा कापालिक मत या वामारग को शैवशाखा मानते थे, बौद्ध नहीं।

दिनकर का गद्य-साहित्य

शोधकर्ता—उपमा रानी माहेश्वरी
निर्देशक—डॉ० प्रेमप्रकाश रस्तोगी
वर्ष—1981

शोध-प्रबन्ध का सार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हिन्दी गद्य के क्रमिक विकास के परिप्रेक्ष्य में दिनकर के गद्य की विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भारतेन्दु काल में हिन्दी गद्य में उर्दू-फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग मिलता है। द्विवेदीजी ने हिन्दी गद्य को परिष्कृत एवं समृद्ध रूप प्रदान करने का कार्य किया। उन्होंने प्रान्तज शब्दों के स्थान पर व्यापक क्षेत्र में प्रचलित शब्दों को महत्व दिया। द्विवेदी युग का साहित्य जागरण, सुधार एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना के कारण आदर्शवादी रहा। इस समय आलोचना, जीवनी, निबन्ध, कहानी, नाटक आदि गद्य-विधाओं का विकास हुआ। प्रेमचन्द ने आदर्शवादी भूमि से यथार्थ की भूमि पर गद्य को अधीष्ठित किया तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों एवं समीक्षाओं से द्विवेदी युगीन गद्य के स्वरूप में निखार एवं चुस्ती आयी।

द्विवेदी युग के बाद छायावादी कवियों ने गद्य में लिखकर गद्य की अलंकृत, लाक्षणिक, वक्रतापूर्ण और काव्यमय बना दिया। दिनकर ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना से मंडित एवं रागदीप्त तथा शिल्प की दृष्टि से सुष्ठु, सरल, प्रांजल एवं स्पष्ट गद्य की रचना की। आज हिन्दी में अनेकानेक भाषाओं के शब्द स्थान पाते जा रहे हैं, किन्तु दूसरी भाषाओं के शब्दों को हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप ही अपनाना होगा। इस दृष्टि से दिनकर का दृष्टिकोण आधुनिक परिप्रेक्ष्य में महत्त्व-पूर्ण है। उनमें हृदय और बुद्धि का समन्वय है, उनकी भाषा, उनका शिल्प सभी विशेष एवं सामान्य का योग है। उन्होंने गद्य के क्षेत्र में व्यंजना-शक्ति को बढ़ाने-वाले शब्दों के नवीन प्रयोग किये। वे आधुनिक युग के समर्थ गद्यकार हैं।

दिनकर के कविरूप को प्रकट करनेवाली अनेक आलोचनाएँ प्रस्तुत हुई हैं,

किन्तु उनका गद्यकार रूप प्रायः उपेक्षित-सा ही रहा है। इसलिए उनके गद्य-साहित्य का मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। उनका गद्य उनके कवि-रूप का प्रतिफलन ही नहीं, विस्तारक एवं सम्पूर्ण रूप है। उसमें उनकी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक मान्यताएँ स्पष्ट हुई हैं। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के सम्बन्ध में उनके विचार वरेण्य एवं स्तुत्य हैं।

द्वितीय अध्याय में दिनकर की परिस्थितियों एवं मनःस्थितियों के सन्दर्भ में गद्य-निर्माण की प्रक्रिया पर विचार कर उसके क्रमिक विकास का प्रतिपादन है। दिनकर की व्यक्तिगत-जीवन की परिस्थितियों ने उनके साहित्य को काफी प्रभावित किया। वे साधारण कृषक परिवार में जन्मे थे। पिता का संरक्षण 2 वर्ष की अवस्था में ही समाप्त हो गया। बड़े भाई ने ही शिक्षा-दीक्षा दिलायी। शिक्षा प्राप्त करने में दिनकर को अनेकों आर्थिक एवं प्राकृतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसने उन्हें कर्मठ जीवन प्रदान किया। दिनकर का सारा जीवन आर्थिक चिन्ताओं में बीता। उन परिस्थितियों का प्रभाव भी उनके साहित्य पर पड़ा क्योंकि आर्थिक कठिनाइयों के कारण, सरकारी नौकरी करने के कारण वह अपने इच्छित साहित्य की सृष्टि नहीं कर सके और उन्हें साहित्य-रचना के लिए कम समय मिला।

दिनकर को अध्ययन का जैसे-जैसे मौका मिला, उन्होंने अध्ययन किया, जिसकी छाप उनके गद्य-साहित्य पर क्रमिक रूप से देखी जा सकती है। उन्हें प्रारंभ से ही भावुक हृदय एवं प्रबुद्ध मस्तिष्क मिला था। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली एवं आकर्षक था। प्रारम्भ में उनका रुझान कोमल प्रकृति की कविताओं की ओर था, किन्तु तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों ने उन्हें राष्ट्रीय चेतना की ओर उन्मुख कर दिया जिससे वे अपनी उन भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे सके। इसकी आत्मस्वीकृति उनके गद्य-साहित्य में स्थान-स्थान पर देखी जा सकती है।

दिनकरजी में गाँधी के प्रति अटूट अस्था थी, किन्तु वे उनके कुछ सिद्धान्तों को व्यावहारिक दृष्टि से सफल नहीं मानते थे। उन्होंने विभिन्न विचारकों एवं साहित्यकारों के साहित्यों का अध्ययन किया, जिससे उनके वैचारिक धरातल का निर्माण हुआ। दिनकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक-चेतना से मंडित कलाकार थे जिसके फलस्वरूप वे देश को राष्ट्रीय-एकता के सूत्र में निवद्ध देखना चाहते थे तथा भारत के विकास के प्रति चिन्तित रहते थे। उनके साहित्य में इस तथ्य की प्रमुख अभिव्यक्ति हुई है। रवीन्द्र और इकबाल, गाँधी और मार्क्स तथा अरविन्द और कबीर की विचारधाराओं का उन पर समन्वित प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि वह कोमल एवं कठोर भावनाओं की अभिव्यक्ति साहित्य में कर सके हैं।

तृतीय अध्याय में दिनकर की सम्पूर्ण गद्य-कृतियों के प्रतिपाद्य का विवेचन है। रचना-काल के अनुसार प्रत्येक कृति के वर्ण्य विषय एवं कथ्य का विश्लेषण कर

उसकी संवेदना से पाठक को परिचित कराने का प्रयास है। दिनकरजी ने 27 गद्य पुस्तकों की रचना की, जिनमें उनके निबन्ध, आलोचना, संस्मरण, यात्रा-विवरण, डायरी तथा लघु बोध कथाओं का संकलन किया गया है। इसके अतिरिक्त काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं में उन्होंने अपने काव्य-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने हेतु स्वतन्त्र निबन्ध लिखे हैं, जिनमें 'रश्मिलोक' एवं 'चक्रवाल की भूमिका' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दो निबन्ध उनके मरणोपरान्त 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में निकले हैं, जो किसी भी पुस्तक में संकलित नहीं हैं। दिनकर के गद्य में भी पद्य के समान विचारों की पुनरावृत्ति पायी जाती है। कुछ निबन्ध तो एक पुस्तक के बाद दूसरी पुस्तक में पुनः प्रकाशित करा दिये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय में दिनकर के गद्य-साहित्य को विधा की दृष्टि से बाँटा गया है, जिसमें उनके गद्य-साहित्य को भावात्मक, आलोचनात्मक, संस्मरणात्मक, आत्म-चरितात्मक एवं यात्राविवरणादि वर्गों में रखकर उनकी इन विधाओं की विशेषताओं का उद्घाटन एवं मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। भावात्मक में उनके भाव-प्रधान निबन्धों का विश्लेषण है। उनके भावात्मक निबन्धों में भावों एवं विचारों का अद्भुत समन्वय है। कुछ निबन्ध ही शुद्ध भावात्मक कोटि के हैं, जिनमें भावों का पूर्ण उच्छलन एवं अनुभूति की तीव्रता एवं संवेदना की तीक्ष्णता पायी जाती है। ये निबन्ध अपनी रसात्मकता एवं लालित्य से पाठक का हृदय अनुरंजित करने में पूर्णतया समर्थ हैं। इनमें नाटकीयता, प्रतीकों, बिम्बों तथा संवादों का आश्रय लिया गया है।

आलोचनात्मक में उनके द्वारा की कई आलोचनाओं का विश्लेषण है। दिनकर-जी ने ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचनाओं का सृजन किया। संत काव्य, रीतिकाल, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करने के लिए निबन्ध लिखे हैं। सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत उनकी काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को स्पष्ट करने-वाली आलोचनाओं को लिया गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के मतों की विवेचना के उपरान्त दिनकरजी ने काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु तथा कवि सर्जना और काव्य के शिल्प पक्ष के तत्वों के सम्बन्ध में अपने निर्णय दिये हैं। पंत, प्रसाद, मैथिलीशरण, महादेवी, माखनलाल, सियारामशरण आदि अनेकों कवियों एवं लेखकों पर उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करनेवाले निबंध भी लिखे हैं, जो उनकी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत आते हैं। उनकी व्यावहारिक आलोचनाएँ सन्तुलित दृष्टिकोण रखती हैं। उनमें प्रभावगत चित्रण के बाद स्वनिर्णय की प्रवृत्ति भी पायी जाती है तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण भी अपनाया गया है।

दिनकरजी की समीक्षा की विशेषता उसकी स्पष्टता, विचारों की प्रांजलता,

प्रगाढ़ चिन्तन तथा बौद्धिक विश्लेषण एवं विशद् अध्ययन है। उन्होंने अधीत ग्रन्थों से तथ्यों को लेकर अपनी चेतना का अभिन्न अंग बनाकर प्रकट किया है। उनकी टैकनीक विश्लेषण पर आधृत न होकर, प्रभावग्रहण, वैयक्तिक अनुभूति, संस्मरण और सामान्यानुमान को है। अभिव्यक्तिगत आर्जव, गहन गम्भीर वैदुष्य परिपक्व मनन एवं निर्भीक गुण-दोष विवेचन का जैसा परिपाक दिनकरजी की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षाओं में मिलता है, वैसा पाश्चात्य लेखकों में दृष्टिगत होता है। उनमें विचारों की नमनीयता एवं औदार्य, भाषाशैली की प्रौढ़ता तथा विकासशील वैदुष्य पाया जाता है।

आत्मचरितात्मक में दिनकर के आत्म-कथ्यों एवं अन्य आत्मसंस्मरणों का विश्लेषण किया है। उनकी डायरी में उनके पारिवारिक जीवन की झाँकी तथा रुचियों के संकेत के साथ राजनैतिक, साहित्यिक गतिविधियों की झलक भी मिलती है एवं भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में विचार भी मिलते हैं। मन के संशय, शंका, संदेह, लोभ, मोह आदि धूपछाँही रंगों के साथ डायरी में विद्यमान है। कहीं ललकार, जय-जयकार का गगनभेदी घोष है, तो कहीं पश्चात्ताप का दीर्घ निःश्वास भी है। संस्मरणात्मक में उनके संस्मरणों का विश्लेषण है। दिनकरजी ने अपने सम-सामयिकों के प्रति अपने संस्मरण एवं श्रद्धांजलियाँ लिखी हैं। इनके संस्मरणों में कोई पूर्वाग्रह जनित अतिवादी धारणा और उपपत्तियाँ नहीं हैं वरन् यह भावुक और श्रद्धास्पद व्यक्ति के हृदय के उद्‌गार हैं। दिनकरजी ने निर्वैयक्तिकता, रागद्वेषरहित-गुण-ग्राहकता, एवं सत्वोद्रेक प्रेरित न्याय निष्ठा से अपने अग्रजों एवं सामयिकों के चरित्रों की स्थापना की है तथा अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व का विश्लेषण भी किया है। इन संस्मरणों की कसौटी राष्ट्रीय उत्कर्ष है। श्रद्धांजलियों में सहजता और आर्द्रता विद्यमान है। इनका बीज तत्व विनोद है। इनके संस्मरण महान व्यक्तियों के महान् कार्यों का विश्लेषण करते हैं। सूत्रात्मक वाक्यों में चरित्र की सम्पूर्ण विशेषताओं को रेखांकित कर घटनाओं द्वारा उसकी व्याख्या एवं पुष्टि की गयी है। संक्षिप्त वाक्य में चरित्र की सम्पूर्ण रेखाओं में से व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करनेवाली प्रमुख रेखा को चित्रित कर देना लेखक की रेखा-चित्रांकन कला का एक उल्लेखनीय अंग है। तुलनात्मकता की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। भाषा सरस, सरल, लाक्षणिक एवं प्रवाहयुक्त है।

यात्रा-विवरणों में दिनकरजी ने देश-विदेश में की गयी यात्राओं का विवरण प्रस्तुत करने के साथ वहाँ के रीति-रिवाजों, धार्मिक संस्कारों तथा आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों का भी अंकन किया है। इसमें यात्रा-विवरणों की प्रमुख विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए दिनकर के यात्रा-विवरणों की विशेषताओं का मूल्यांकन किया गया है। इनके यात्रा-विवरणों में नाटकों के संवाद, कहानी की कथा, उपन्यासों का विराट तत्व, निबंधों की-सी विचारात्मकता एवं आत्मीयता

इतिहास, दर्शन एवं संस्कृति के तत्वों का मणिकांचन योग मिलता है। साधारण बोलचाल की भाषा में सामान्य विवरण द्वारा साधारण पाठकों को विदेशी साहित्य, संस्कृति, समाज आदि से परिचित कराया गया है। प्राकृतिक वर्णनों में भाषा सुष्ठु, सरस एवं आलंकारिक है। डायरी शैली एवं निबंध शैली का प्रयोग है। स्थान-स्थान पर हास्य एवं विनोद के छींटे हैं तथा कहीं भी लम्बे और मन को उबाने-वाले वाक्यों की रचना नहीं है।

पंचम अध्याय में दिनकर के गद्य-साहित्य का कथ्य की दृष्टि से विश्लेषण है। इसमें उसे राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय आदि वर्गों में विभाजित किया है। इनसे सम्बन्धित सभी विचारों को एकत्र कर उनके मूल कथ्य को प्रस्तुत करने का प्रयास है। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने राज-नीति, राजनीतिज्ञ, शासक एवं अच्छे शासक के गुण, समाजवाद, प्रजातन्त्र, साम्य-वाद आदि के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, तथा उनके साहित्य में तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं का चित्रण भी मिलता है। सामाजिक क्षेत्र में, वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिप्रथा, छूआछूत, बाह्याडम्बरों का विरोध, नर-नारी, काम सैक्स, नैतिकता, प्रेम और विवाह सम्बन्धी चिन्तन मिलता है। साहित्यिक क्षेत्र में उनके काव्यशास्त्रीय, ऐतिहासिक तथा मूल्यांकनपरक विचारों का विश्लेषण है। सांस्कृतिक में संस्कृति, सभ्यता, धर्म, दर्शन, विज्ञान, अध्यात्म, इतिहास और कला-विषयक चिन्तन एवं दृष्टिकोण का मूल्यांकन किया है। आर्थिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र में उनके आर्थिक विचारों, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र भाषा, हिन्दू मुस्लिम, उत्तर-दक्षिण की एकता, हिंसा-अहिंसा, युद्ध और शान्ति की समस्या से सम्बन्धित विचारों का विश्लेषण है।

षष्ठ अध्याय में दिनकर के भाषा विषयक चिन्तन को स्पष्ट करते हुए उनकी गद्यभाषा का विश्लेषण है। दिनकरजी ने हिन्दी के साधारण बोलचालवाले रूप का प्रयोग किया है। उन्होंने विदेशी, तद्‌भव, देशज, तत्सम, सामासिक सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी वाक्य योजना न अति दीर्घ और न अति लघु है। मिश्र-वाक्य योजना भी अधिक लम्बी नहीं होती। कतिपय विशिष्ट प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। भाव-प्रसंग तथा संदर्भ के अनुकूल व्याकरणिक नियमों को मानते हुए भी मनोदशा के सुस्पष्ट चित्रण के लिए उन्होंने उनका उल्लंघन भी किया है। कवि दिनकर का अनवरत प्रवाह और चिन्तक दिनकर का पगानुपग विचार दोहन गद्य में संश्लिष्ट शैली को जन्म देता है। अल्पविराम, अर्धविराम, पूर्णविराम, प्रश्नचिह्न, विस्मयादिबोधक चिह्न, अवतारण चिह्न, योजन चिह्न, निर्देशन चिह्न, विवरण चिह्न, कोष्ठक आदि का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थितियों में हुआ है। शब्द शक्तियों का भी सफल प्रयोग है। प्रतीकों, बिम्बों, अलंकारों, मिथकीय प्रयोगों, लोकोक्तियों, मुहावरों, उद्धरणों तथा सूक्ति प्रयोगों द्वारा गद्य भाषा के सौन्दर्य में अभिवृद्धि की है। वस्तुतः दिनकर शब्द-शिल्पी कलाकार हैं।

प्रसंग एवं संदर्भानुकूल शब्दों का प्रयोग करके वह भाषा में प्रामाणिकता और प्रभावान्विति लाने में सफल हुए हैं। उनके ध्वन्यात्मक प्रयोग संगीतात्मकता की दृष्टि से ही नहीं अपितु कलात्मकता की दृष्टि से भी भाषा को असाधारण महत्व और विशिष्टता प्रदान करने में सफल हुए हैं।

सप्तम् अध्याय में दिनकरजी के समसामयिक समानधर्मा कवि गद्यकार और कवीतर गद्यकारों से तुलना करके उनकी काव्य विषयक धारणाओं एवं मान्यताओं तथा भाषा-शैली के साम्य-वैषम्य का निरूपण किया गया है। प्रसादजी की मान्यताएँ भारतीय मतों पर आधृत हैं, तो दिनकर की पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों पर आधारित हैं। प्रसाद ने दार्शनिक, अलंकृत संस्कृतनिष्ठ शैली का अनुसरण किया तो दिनकर ने लाक्षणिक, अलंकृत तथा विषयानुकूल व्यावहारिक शैली का। पन्त के गद्य भाषा में कल्पना और रागतत्व है, जबकि दिनकर में भाव और विचार तत्व। महादेवी की भाषा सुसंस्कृत, तत्सम एवं सामासिक है, तो दिनकर की तद्भव, देशज, व्यावहारिक शब्दों से युक्त। निराला का गद्य पौरुष और ओज का गद्य है, दिनकर में भी पौरुष और ओज है किन्तु निराला का-सा औदात्य नहीं। अज्ञेय में पुराने शब्दों को तोड़कर नये शब्द गढ़ने का आग्रह है, दिनकर की गद्य भाषा में अज्ञेय के शिल्प जैसी बारीकी नहीं है।

जैनेन्द्र के गद्य में ऊहापोहात्मकता और उच्छ्वास है तथा चिन्तन एवं बौद्धिकता अधिक है तो दिनकर में भावुकता और बौद्धिकता है। विचारों की प्रांजलता, सुस्पष्टता तथा वर्णन शैली की सरलता की दृष्टि से गुलाबराय और दिनकर का गद्य काफी समान है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र ने संस्कृतनिष्ठ सामासिक गंभीर चिंतनयुक्त भाषा का प्रयोग किया है। दिनकर में उतना गंभीर चिंतन और प्रगाढ़ पांडित्य नहीं है। स्पष्ट है कि दिनकर सुगम एवं स्वच्छ गद्य के विधायक हैं। उनमें प्रसाद का गाम्भीर्य, निराला का पांडित्य, पंत का माधुर्य और कोमल तत्व एक साथ मिलते हैं।

अष्टम् अध्याय में दिनकर के गद्य-साहित्य की समग्र विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उनकी 'हिन्दी गद्य को देन' को प्रस्तुत किया गया है। दिनकर की चेतना एक समन्वयवादी कलाकार की चेतना है। काव्य में वे विद्रोही हैं और गद्य में विद्रोहीशास्त्र की रचना करते हैं। दिनकर के गद्य में करुणा के स्थान पर ओज ज्यादा है। आवेग के स्थान पर उत्साह अधिक है। दिनकर का गद्य न ठेठ गद्य है और न ललित गद्य, फिर भी उसमें दोनों का चमत्कार है।

अन्त में कहा जा सकता है कि दिनकर ने भारतेन्दु की बेतकुल्लफी को शीर्ष स्थान पर पहुँचाया और ऊहापोहात्मकता नहीं आने दी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की व्याकरण-बद्धता और इतिवृत्तात्मकता से हिन्दी गद्य को मुक्ति दिलायी। छायावादी अतिशय भावुकता एवं कल्पना से हिन्दी गद्य को निकालकर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। उनके ललित लवंगी किन्तु संतुलित गद्य ने हिन्दी-गद्य की सीमाओं का विस्तार किया है। वह एक ऐसे पथ का निर्माण कर गये हैं, जिस पर चलकर हिन्दी गद्य अपनी उन्नति कर सकता है।

जैनेन्द्र का जीवन दर्शन

शोधकर्ता—शिवचरण विद्यालंकार
निर्देशक—डॉ० प्रेमप्रकाश रस्तोगी
वर्ष—1982

विषय-क्रम

13. अनुभववाद

14. स्वच्छन्दतावाद

15. जैनेन्द्र का दार्शनिक सम्प्रदाय—समन्वयवाद अथवा अद्वैतवाद

तृतीय अध्याय—जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविज्ञान

1. मनःस्थिति
2. चेतन-अवचेतन
3. द्वन्द्व
4. (अ) कुण्ठा
   (आ) अतृप्ति
5. विद्रोही व्यक्तित्व
6. (अ) अहं
   (आ) आत्मोसर्ग
7. व्यक्तित्व की पूर्णता

चतुर्थ अध्याय—जैनेन्द्र और समकालीन विचारक

1. जैनेन्द्र और डा० डी० एच० लारेन्स
2. जैनेन्द्र और वर्जिनिया वुल्फ
3. जैनेन्द्र और गाल्सवर्दी
4. जैनेन्द्र और तुर्गनेव
5. जैनेन्द्र और टाल्सटाय
6. जैनेन्द्र और गांधी

पंचम अध्याय—जैनेन्द्र के साहित्यिक मानदण्ड और उनके उपन्यास

1. तटस्थतावादी विचार दर्शन
2. मनःस्तत्व और अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण
3. आत्मव्यथा और करुणा
4. सामाजिक और आध्यात्मिक उलझने
5. व्यक्तिवादी जीवन पद्धति और उसकी अभिव्यक्ति
6. निर्वैयक्तिक जीवनादर्श और साहित्यिक सत्य

षष्ठ अध्याय—जैनेन्द्र और समकालीन हिन्दी उपन्यासकार

1. प्रेमचन्द
2. भगवतीचरण शर्मा

3. अमृतलाल नागर
4. अज्ञेय
5. इलाचन्द्र जोशी
6. उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

उपसंहार—जैनेन्द्र एक विचारक (साहित्यिक)

सार-संक्षेप

हिन्दी साहित्य में जैनेन्द्र का पदार्पण एक नये युगप्रवर्तक के रूप में हुआ। यह हिंदी साहित्य की महान उपलब्धि थी। जैनेन्द्र आदर्शवादी और प्रतिभावान कथाकार है। उनके साहित्य में दर्शन और मनोविज्ञान का सामंजस्य उनकी अनूठी देन है। इस शोध प्रबन्ध में जैनेन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विशद विवेचन किये जाने का प्रयास किया गया है।

किस्से, तिलस्मि और ऐय्यारी जैसी चली आ रही परम्परा जो अब केवल किसी लकीर को पीटने मात्र था, जैनेन्द्र ने साहित्य को एक नया आयाम दिया। एक नया नारा दिया जो मनोविज्ञान और दर्शन से अनुप्राणित था। जैनेन्द्र का साहित्य मनोविज्ञान और दर्शन के सामंजस्य का साहित्य है। जैनेन्द्र ने मानव के समग्र रूप का, उनकी वृत्तियों का उसके अन्तर में निहित सत्यों का उद्‌घाटन किया है। प्रथम अध्याय में व्यक्तित्व के मूल्यांकन का आधार, जैनेन्द्र एवं युग बोध जैनेन्द्र की जीवन दृष्टि तथा जैनेन्द्र के आत्मचिन्तन पर प्रकाश डाला गया है।

'जैनेन्द्र के उपन्यासों में दर्शन' नामक द्वितीय अध्याय में परमात्मा, जगत, जीव, पुनर्जन्म, भाग्यवाद, भलाई-बुराई, सदाचार, सत्य, ईमानदारी, अहिंसा एवं आत्म पीड़न, यथार्थवाद, बुद्धिवाद, अनुभववाद, स्वच्छन्तावाद तथा जैनेन्द्र का दार्शनिक सम्प्रदाय-समन्वयवाद अथवा अद्वैतवाद आदि उनके उपन्यासों में प्रयुक्त दर्शन के विषयों पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में, जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविज्ञान के अन्तर्गत विस्तृत रूप से मनोविज्ञान से सम्बन्धित विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें मनः-स्थिति, चेतन-अचेतन, द्वन्द्व, कुण्ठा, अतृप्ति, विद्रोही व्यक्तित्व, अहं आत्मोसर्ग, व्यक्तित्व की पूर्णता आदि उनके उपन्यासों में प्रयुक्त मनोविज्ञान के विषयों पर चर्चा की गयी है।

'जैनेन्द्र और समकालीन विचारक' नामक चतुर्थ अध्याय में जैनेन्द्र के सम-कालीन भारतीय एवं पाश्चात्य विचार को जैसे डा० डी० एच० लारेन्स, वर्जिनिया

वुल्फ, जान गाल्सवर्दी, तुर्गनेव, टालस्टाय और गांधीजी आदि विद्वानों के विचारों से तुलना की गयी है।

पंचम अध्याय 'जैनेन्द्र के साहित्यिक मानदण्ड और उनके उपन्यास' में जैनेन्द्र के तटस्थवादी विचारदर्शन, मनःस्तत्व और अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण, आत्मव्यथा और करुणा, सामाजिक और आध्यात्मिक उलझनें, व्यक्तिवादी जीवन पद्धति और उसकी अभिव्यक्ति, निर्वैयक्तिक जीवनादर्श और साहित्यिक सत्य आदि पर विचार किया गया है।

षष्ठ अध्याय 'जैनेन्द्र और समकालीन हिन्दी उपन्यासकार' के अन्तर्गत प्रेमचंद, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा उपेन्द्रनाथ अश्क आदि की मुख्य-मुख्य रचनाओं से तुलना की गयी है।

उपसंहार के अन्तर्गत उनके सम्पूर्ण कृतित्व पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला गया है और उनके साहित्य का मूल्यांकन किया गया है तथा जैनेन्द्र के विचारक रूप को महत्ता प्रदान की गयी है। क्योंकि उनका विचारक रूप उनके कथाकार रूप से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। साथ ही जैनेन्द्र को प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में युगप्रवर्तक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नयी कविता की प्रबन्धात्मक रचनाओं की संवेदना और शिल्प विधान

शोधकर्ता—सोहनलाल शर्मा
निर्देशक—डॉ० प्रेमप्रकाश रस्तौगी
वर्ष—1982

सारांश

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सात परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। इस प्रबन्ध का मुख्य विषय नयी कविता की प्रबन्धात्मक रचनाओं की संवेदना और शिल्प विधान है।

प्रथम परिच्छेद है—नयी कविता का सामान्य परिचय। इसमें नयी कविता की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि, तत्कालीन साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक परि-स्थितियों का सर्वेक्षण है जिनको नयी कविता की समानांतर पृष्ठभूमि में देखा गया है। नयी कविता के स्वरूप को समझने के लिए अनेक कवियों, लेखकों व समा-लोचकों की परिभाषाएँ दी गयी हैं। नई कविता के नामकरण से लेकर 'तारसप्तक', 'दूसरा सप्तक', 'प्रपद्यवाद', 'तीसरा सप्तक', 'चौथा सप्तक' तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नयी कविता का विकास दर्शाया गया है। किसी प्रवृत्ति विशेष के कारण ही साहित्यिक विभाजन को न्यायसंगत माना गया है इसलिए नई कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों की सविस्तार चर्चा की गई है।

नई कविता के प्रमुख प्रबंधात्मक कवियों धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, दुष्यंतकुमार, कुँवरनारायण, नागार्जुन, अज्ञेय तथा रघुवीरशरण 'मिश्र' का संक्षिप्त जीवन वृत्त दर्शाते हुए उनकी प्रमुख साहित्यिक कृतियों का भी उल्लेख किया गया है। किसी प्रेरणा स्रोत के द्वारा ही कवि अपनी रचना को रचित करने के लिए तत्पर होता है, इसी दृष्टि से नये कवियों की प्रबंधात्मक रचनाओं के प्रेरक तत्वों को बतलाया गया है। कथानक को आधार बनाकर नये कवियों की प्रबंधात्मक रचनाओं —'अंधा युग', 'कनुप्रिया', 'संशय की एक रात', 'आत्मजयी', 'एक कण्ठ विषपायी'

'भस्मांकुर', 'महाप्रस्थान', 'असाध्य वीणा', 'उत्तर प्रियदर्शी' तथा 'भूमिजा' का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अंत में नई प्रबंधात्मक रचनाओं का संगठनात्मक अध्ययन किया गया है। चूंकि नई कविता की मूल संवेदना को स्पष्ट करने से पूर्व नई कविता की पूर्व परिस्थितियों व रचनाओं का सामान्य परिचय आवश्यक था इसीलिए प्रस्तुत परिच्छेद नई कविता की भूमिका के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है ताकि नई कविता को आत्मसात करने में सुविधा हो तथा समकालीन परिस्थितियों का उद्घाटन हो सके।

द्वितीय परिच्छेद 'जीवन मूल्य और संवेदना' के अंतर्गत सर्वप्रथम जीवन, मूल्य तथा संवेदना का अर्थ स्पष्ट किया गया है। परम्परागत जीवन मूल्य संवेदनाएँ तथा वर्तमान विघटित मूल्य और संवेदना की विस्तृत चर्चा की गई है, साथ ही प्रसंगवश उन परिस्थितियों का भी समावेश हो गया है जिनके कारण परम्परागत (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) जीवन मूल्य विघटित होते जा रहे हैं तथा किस प्रकार आधुनिक मनुष्य विघटित मूल्यों में जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य है। नई प्रबंधात्मक रचनाओं में जो स्वरूप उपस्थित है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। दार्शनिकता, युगबोध, क्षणबोध, मृत्युबोध तथा अस्तित्वबोध संबंधी धारणाओं का विशद् विवेचन हुआ है। संवेदना के अन्य स्वरूप संत्रासबोध, अपमानबोध आदि का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिए सामाजिक मूल्यों का उस पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। आज सबसे अधिक सामाजिक मूल्यों में विघटन हुआ है इसीलिए सामाजिक स्तर पर स्वीकृत संवेदनाएँ, अभिजातवर्गीय संवेदना, उच्च मध्यमवर्गीय संवेदना तथा निम्नवर्गीय संबंधी संवेदना को अभिव्यक्त किया गया है। इसी संदर्भ में 'श्रेष्ठ' व 'लघु मानव' की धारणा को भी स्पष्ट किया गया है। अस्तु संगठनात्मक दृष्टि से आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक और वैज्ञानिक संवेदनाओं को नयी प्रबंधात्मक रचनाओं के संदर्भ से उद्घाटित किया गया है।

तृतीय परिच्छेद 'नई कविता की प्रबंधात्मक रचनाओं की मूल संवेदना' के अंतर्गत सभी दस प्रबन्ध रचनाओं की मूल संवेदना का विस्तृत वर्णन किया गया है। यद्यपि इन रचनाओं में अनेक संवेदनाओं का मिश्रण है तथापि मूल संवेदना को शीर्षक के रूप में अन्य संवेदनाओं का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

1. 'अंधा युग' की मूल संवेदना—(क) पौराणिक (ख) युगीन और (ग) मानवीय स्तर पर।
2. 'कनुप्रिया' की मूल संवेदना—(क) मनोवैज्ञानिक (ख) वैयक्तिक तथा (ग) प्रेम की तन्मयता की अभिव्यक्ति।
3. 'एक कण्ठ विषपायी' काव्य-नाटक की मूल संवेदना—(क) वैयक्तिक, (ख) राजनैतिक (ग) सामाजिक और (घ) सांस्कृतिक स्तर पर।

4. 'संशय की एक रात' की मूल संवेदना—दुविधाग्रस्त राम की मनःस्थिति के माध्यम से आधुनिक मानव की मनःस्थिति का चित्रण।
5. 'आत्मजयी' की मूल संवेदना—(क) ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुखों के मध्य द्वंद्व का चित्रण (ख) नचिकेता के माध्यम से आज के संघर्षशील मानव की संवेदना का चित्रण।
6. 'महाप्रस्थान' की मूल संवेदना—व्यक्ति और राज्य की मूल धारणा तथा विश्वमानवतावादी दृष्टि का विश्लेषण।
7. 'भस्मांकुर' की मूल संवेदना—कामवृत्ति की चिरन्तनता की अभिव्यक्ति।
8. 'असाध्य वीणा' की मूल संवेदना—अंतस् और बाह्य जगत् की एकाकारता का चित्रण।
9. 'उत्तर प्रियदर्शी' की मूल संवेदना—करुणा द्वारा अहं के विसर्जन की अभिव्यक्ति। तथा
10. 'भूमिजा' की मूल संवेदना—सीता की चेतना के माध्यम से वर्तमान युग की चेतना तथा विश्वमानवतावादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति।

चतुर्थ परिच्छेद है—'नई कविता के प्रबंध काव्यों की शिल्प योजना।' इसको सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया गया है—

(अ) 'बिम्ब-विधान' के अंतर्गत बिम्ब के स्वरूप, परिभाषा और प्रकार से संबंधित पाश्चात्य और भारतीय वैचारिक धाराएँ प्रस्तुत की गयी हैं। नये कवियों के द्वारा बिम्ब-ग्रहण के माध्यम के रूप में जिन नवीन उपकरणों का चयन किया गया है उनका भी विवेचन 'नयी प्रबंधात्मक रचनाओं में उनका निर्वाह' में किया गया है। रूप बिम्ब, भाव बिम्ब तथा क्रिया बिम्ब के रूप में विभाजित कर उनके उपभेदों के अंतर्गत नई कविता के प्रबंध काव्यों में प्रयुक्त बिम्बों को प्रतिपादित किया गया है।

(आ) दूसरा विभाजन 'प्रतीक विधान' नाम से युक्त है। इसके अंतर्गत भी 'प्रतीक' के स्वरूप, वेद, महत्त्व आदि का निरूपण है। इसमे पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के विचारों का भी आश्रय ग्रहण किया गया है। प्रतीकों का नई प्रबंधात्मक रचनाओं में निर्वाह की दृष्टि से प्रयुक्त प्रतीकों को (क) प्रतीकात्मक प्रसंग (ख) प्रतीकात्मक पात्र तथा (ग) शब्द प्रतीकों के रूप में विभाजित कर वर्ण्य विषय बनाया गया है।

(इ) 'उपमान-योजना'—इसमें उपमानों का स्वरूप, भेद तथा काव्य के क्षेत्र में महत्व स्पष्ट किया गया है। नये कवियों ने उपमानों की नवीनता के लिए जिन नवीन उपकरणों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है उन्हें भी इसी भाग में अंकित करने का प्रयास किया गया है। इसी के अंतर्गत प्राकृतिक एवं परम्परागत उपमान, पौराणिक उपमान, ऐतिहासिक उपमान, नवीन उपमान, वैज्ञानिक उपमान के रूप

में वर्गीकृत करके विस्तृत सूची प्रस्तुत की गई है। इसी भाग के अन्त में नई प्रबंधात्मक रचनाओं में अलंकारों की स्थिति को भी शब्दालंकार, अर्थालंकार और नवीन अलंकारों के रूप में विभाजित कर इन्हें वर्णित किया गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि नये कवियों ने रीतिकालीन कवियों की भाँति अलंकारों का प्रयोग काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने की दृष्टि से नहीं किया है बल्कि इनका प्रयोग भावाभिव्यक्ति के लिए सहज रूप से ही हुआ है—क्योंकि काव्य-भाषा व्यापक अर्थ में अलंकृत ही होती है।

पंचम परिच्छेद है—'नई कविता की प्रबंधात्मक रचनाओं की भाषा'। इस परिच्छेद में सर्वप्रथम भाषाविषयक मान्यताएँ बताई गई हैं। सामान्य भाषा के पश्चात् काव्य-भाषा का रूप, विभिन्न विद्वानों के विचार प्रकट करते हुए प्रतिपादित किया गया है। इसी संदर्भ में नये कवियों के भाषागत विद्रोह की भी चर्चा है। भाषा की शक्ति को समृद्ध करने और उसमें नये अर्थ भरने की जिज्ञासा के कारण नये कवियों के शब्द स्रोत एवं चयन को भी ध्यान में रखा गया है। अभिव्यंजना की भाषा संबंधी नवीनता, शब्दों की तोड़-मोड़ अन्य भाषाओं के शब्दों के ग्रहण की उदारता तथा मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रयोगबहुलता को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित करके अलग से सभी प्रबंधात्मक रचनाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त शब्दों की विस्तृत सूची सम्मिलित की गई है, यथा—(क) तत्सम शब्दावली, (ख) अर्धतत्सम, (ग) तद्भव, (घ) देशज शब्द, (ङ) प्रचलित, (च) अप्रचलित, (छ) लाक्षणिक, (ज) आलंकारिक, (झ) नवनिर्मित, (ञ) परिवर्तित, (ट) अंग्रेजी, (ठ) उर्दू-फारसी और (ड) बँगला के शब्द, (ढ) मुहावरे तथा लोकोक्ति के प्रयोग को भी दर्शाया गया है। इसी बोलचाल की भाषा के प्रयोग के कारण ही नयी कविता की प्रबंधात्मक रचनाओं में स्वाभाविक रूप से सरलता आ गयी है तथा ये रचनाएँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए पठनीय हो गई हैं।

षष्ठ परिच्छेद—'नूतन प्रबंध रचनाओं की आत्मस्वीकृत कसौटी एवं विवेच्य रचनाएँ' के अन्तर्गत नये कवियों द्वारा भाषा तथा शिल्प के अन्य प्रतिमानों से सम्बंधित उनकी विचारधाराओं के अनुरूप उनकी प्रबंधात्मक रचनाओं को परखने का प्रयास किया गया है। 'अज्ञेय' व 'धर्मवीर भारती' जैसे कबि तो केवल कवि न होकर लेखक, उपन्यासकार, निबंधकार व समालोचक भी हैं इसलिए उनके ग्रंथों में उनकी मान्यताओं का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। 'सप्तकीय' परम्परा के कवियों की आत्मस्वीकृत कसौटी ही संबंधित सप्तक के वक्तव्य हैं। अन्य कवियों ने अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में इनका कहीं-कहीं उल्लेख किया है या फिर किसी भेंट-वार्ता व पत्र व्यवहार के माध्यम से। इस परिच्छेद के अंतर्गत नये कवियों की आत्म-स्वीकृत कसौटी का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् (1) धर्मवीर भारती, (2) नरेश मेहता, (3) दुष्यंतकुमार (4) कुंवर नारायण, (5) नागार्जुन (6) रघुवीर

शरण 'मिश्र' तथा (7) 'अज्ञेय' के प्रबंध काव्यों का उनके अपनी मान्यताओं के आधार पर परखने का प्रयत्न किया गया है। भाषा से सम्बन्धित उनके विचार उनकी रचनाओं के साथ मेल नहीं खाते। क्योंकि वे भाषा की सरलता व आम बोलचाल की भाषा का पक्ष लेते हैं जबकि उनकी रचनाओं में संस्कृतनिष्ठ शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। अधिकतर नये कवियों ने अज्ञेय द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं को ही स्वीकार किया है।

सप्तम परिच्छेद—यह अन्तिम परिच्छेद प्रस्तुत 'अध्ययन का मूल्यांकन और उपलब्धि' का है। इस परिच्छेद के अंतर्गत उपसंहार के रूप में नयी कविता के प्रबंध काव्यों की मूल संवेदना तथा शिल्प से संबंधित निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। जिन मूल संवेदनाओं की ओर नये कवियों ने अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया है उनकी ओर भी इंगित करने का प्रयास किया गया है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि समग्र रूप से नई कविता को प्रबंधात्मक रचनाओं का संवेदना और शिल्प की दृष्टि से यह विस्तृत अध्ययन नई कविता को आत्मसात् करने की दृष्टि से साहित्य जगत् में अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होगा।

हरिऔध के महाकाव्यों का सामाजिक एवं शास्त्रीय अध्ययन

शोधकर्ता—ज्ञानचन्द रावल
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1984

महाकवि हरिऔध खड़ीबोली के सर्वप्रथम महाकवि कवि हैं तथा उनका महाकाव्य प्रियप्रवास खड़ीबोली का सर्वप्रथम महाकाव्य है। वैदेही-वनवास उनका दूसरा महाकाव्य है। उक्त दोनों महाकाव्यों में कवि ने सामाजिक समस्याओं के भी नवीन समाधान प्रस्तुत किये हैं। इस हेतु उक्त महाकाव्यों पर किया गया सामाजिक अध्ययन नवीन निष्कर्षों को जन्म देगा जो साहित्य समीक्षा के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तावित अध्ययन का द्वितीय पक्ष उपर्युक्त महाकाव्यों की शास्त्रीयता का है। निःसन्देह इस पर पृथक्-पृथक् रूप से अनेक विद्वानों द्वारा अध्ययन किया जा चुका है और कवि की कला का मूल्यांकन भी हो चुका है तथापि तुलनात्मक अध्ययन के लिए पर्याप्त अवसर शेष है। तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष कृतियों की समीक्षा के लिए प्रायः उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध होते हैं। इसीलिए यह शोध-कार्य एक नवीन दृष्टि से किया गया है।

यह शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है, प्रथम अध्याय में हरिऔध की समस्त काव्य-रचनाओं का काल क्रमानुसार परिचय देते हुए यह देखने की चेष्टा की गयी है कि कवि की प्रतिभा का विकास किस प्रकार हुआ है और उसने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कितने अमूल्य काव्य-रत्न भेंट किये हैं।

द्वितीय अध्याय में सामाजिक अध्ययन की रूपरेखा के अन्तर्गत समाजशास्त्र के तत्त्वों का संक्षिप्त वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। समाजशास्त्र क्या है? उससे सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों के मत एवं व्याख्याएँ, उनके विविध अंगों आदि का एक सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक सभ्यता के अन्तर्गत हरि-औध द्वारा निर्देशित आदर्श समाज की सभ्यता का विवेचन है। महाकाव्यों में वर्णित सामाजिक परिवर्तनों पर सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत हरिऔध की पुरानी

मान्यताओं के प्रति आस्था और उन्हें नवीन बुद्धिवादी दृष्टिकोण से अपनाने का संकेत वर्णित है तथा महाकाव्यों में वर्णित सामाजिक संगठन, परिवार एवं सामाजिक नियन्त्रण आदि की सविस्तार व्याख्या की गई है। धर्म तथा नीति का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अन्तर तथा साथ ही हरिऔध के महाकाव्यों में वर्णित धार्मिक और नैतिक आदर्शों की विशद विवेचना की है। समाजशास्त्र के संकेत अनुकरण तथा सहानुभूति आदि तत्त्वों को लेकर हरिऔध के महाकाव्यों में वर्णित लोकाराधन लोक-कल्याण की भावना का संकेत तथा विश्वबन्धुत्व की भावना का अनुकरण करने और दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति रखने का सन्देश आदि की विवेचना की गई है। हरिऔध के महाकाव्यों में वर्णित भीड़ और भीड़ के व्यवहार के रूपों का मूल्यांकन भी किया गया है।

तृतीय अध्याय में महाकाव्य की परिभाषा एवं उसके स्वरूप विधायक तत्त्वों का विवेचन हुआ है। महाकाव्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों की तुलना करते हुए अन्त में महाकाव्य सम्बन्धी आधुनिक मान्यताओं पर समुचित प्रकाश डाला गया है। हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों की समीक्षा केवल परम्परागत भारतीय लक्षणों अथवा पाश्चात्य आदर्शों को ही ध्यान में रखकर नहीं की गई है वरन् इस विवेचन में महाकाव्य-विषयक भारतीय और पाश्चात्य दोनों मानदण्डों का समुचित सामंजस्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में हरिऔध के महाकाव्यों की शास्त्रीयता का विवेचन है। शास्त्रीयता के अन्तर्गत दोनों महाकाव्यों की कथावस्तु पर सांगोपांग विचार प्रकट किये गये हैं और यह भी बताया गया है कि 'प्रियप्रवास' एवं 'वैदेही-वनवास' में कितनी कथाओं एवं उपकथाओं का समावेश हुआ है, उनके मूल स्रोत कहाँ हैं तथा अपनी मूल कथाओं से दोनों महाकाव्यों की कथाओं में क्या अन्तर किया गया है। कवि ने अपनी इन कथाओं में कौन-कौन-सी नवीन उद्‌भावनाएँ की हैं और उन उद्‌भावनाओं में कवि को कहाँ तक सफलता मिली है।

महाकाव्यों के काव्यत्व पर विचार करते हुए उनकी प्रबन्धात्मकता एवं उनके महाकाव्यत्व पर विचार किया गया है, साथ ही प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उद्‌घाटन करते हुए प्रकृति-चित्रण एवं भाव निरूपण पर विस्तारपूर्वक सम्यक् दृष्टि से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त वियोग-शृंगार की करुण रस में किस प्रकार परिणति हुई है, इस पर विचार करते हुए भाव एवं रस-निरूपण में जिन नवीन उद्‌भावनाओं का समावेश हुआ है उनका भी यहाँ सांगोपांग उल्लेख विद्यमान है। कवि ने सौन्दर्य-निरूपण का अध्ययन करते हुए इन महाकाव्यों की महात्प्रेरणा एवं महान उद्देश्य, कला-पक्ष की सविस्तार विवेचना करते हुए सर्गबद्धता, शब्द-विधान, वर्णमैत्री, लोकोक्ति, मुहावरे आदि पर विचार प्रकट किये गये हैं। इनमें आये हुए विभिन्न प्रकार के शब्दों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया

गया है और शुद्ध एवं अशुद्ध प्रयोगों की ओर भी संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त हरिऔध के महाकाव्यों की भाषा, उनमें शब्द शक्तियों का प्रयोग गुण-रीति वृत्ति, वक्रोक्ति, अलंकार, छन्द आदि का स्वरूप यहाँ किस प्रकार मिलता है इसका भी समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में दोनों महाकाव्यों की तुलना करके अनेक नवीन निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

पंचम अध्याय 'उपसंहार' के अन्तर्गत प्रस्तुत अध्ययन का सार तथा महाकाव्यों के क्षेत्र में हरिऔध की सामाजिक पक्ष तथा साहित्यिक पक्ष की दृष्टि से देन की विशद् व्याख्या है। अन्त में महाकाव्यों के क्षेत्र में हरिऔध का स्थान निर्धारित करने का प्रयास किया है।

गोस्वामी तुलसीदास कृत गीतावली में काव्य, संस्कृति और दर्शन

शोधकर्ता—आभा तिवारी
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी,
डॉ० राजपति दीक्षित
वर्ष—1984

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत तुलसीकृत—'गीतावली' का अध्ययन काव्य, संस्कृत एवं दर्शन की आधार-शिलाओं पर किया गया है। इससे पूर्व उनके युग की परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है ताकि उस समय की परिस्थितियों को अधिकाधिक स्पष्ट किया जा सके। निस्सन्देह वह युग हिन्दू-जाति के लिए अत्यन्त संकट का समय था। हिन्दू-जाति की स्थिति के विश्लेषण से ही तुलसी के काव्य की प्रेरणा भी स्पष्ट होती है अतः इस अध्ययन के द्वारा व्यापक निष्कर्ष प्राप्त किये जा सके हैं।

सामाजिक परिस्थितियाँ किसी भी कवि के काव्य-निर्माण पर अवश्य प्रभाव डालती हैं। इसके लिए प्रस्तुत अध्ययन में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला गया है। कवि समाज का एक व्यक्ति होता है और व्यक्ति समाज की इकाई होता है। इस प्रकार कवि और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है।

सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विचारधाराएँ भक्त कवियों का अवलम्ब हैं। वह समाज से उतना ही ग्रहण करता है जितना वह भक्ति-मार्ग के हेतु उचित समझता है। अतः एक सन्त कवि समाज से केवल विचारधारा के हेतु सूत्र ग्रहण करता है। भक्त कवि देश की संस्कृति के लिए लिखता है तथा संस्कृति से ही रूपरेखा भी ग्रहण करता है। प्रश्न यह उठता है कि कवि किसके लिए काव्य लिखता है और किस उद्देश्य हेतु लिखता है? इन दोनों का उत्तर गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में दे दिया है। उनका उत्तर यह है कि जिस काव्य को पढ़ने से सभी का कल्याण होता हो उसे ही काव्य कहना चाहिए। यथा—

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहं हित होई ।।[1]

काव्य-सृजन में सर्वत्र तुलसी का यही लक्ष्य रहा है कि ऐसी काव्य-रचना की जाये जो सर्वजनहिताय हो । ऐसी रचना केवल भक्तिपरक ही हो सकती है जिसके द्वारा सभी को मानसिक पवित्रता प्राप्त हो सकती है । चूँकि मानसिक अपवित्रता ही मनुष्य को पतन की ओर ले जाती है अतः उससे मुक्ति प्राप्त कर लेने पर निष्पाप मनुष्य पुण्यपथ की ओर अग्रसर हो सकता है ।

गीतावली भक्तिपूर्ण उद्‌गारों के हेतु सुरसरि के समान पवित्र रचना है । कवि गीतों की उत्कृष्टता के साथ ही मानसिक उत्कृष्टता प्राप्त करने का लक्ष्य लेकर चला था, यथा—

जो सुखसिंधु-सकृत सीकरतें
सिव-बिरंचि—प्रभुताई ।
सोइ सुख अवध उमंगि रह्यो दसदिसि
कौन जतन कहौं गाई ।।[2]

कवि को गीतावली की रचना करते समय अपने समक्ष आनन्द सागर हिलोरें लेता हुआ दीख रहा था । वही आनन्द वह पाठकों को प्रदान करना चाहता था । ऐसा मानसिक आनन्द मनुष्य को सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला होता है । मनुष्य जो कर्म करता है उसके द्वारा वह सुख-प्राप्ति की कामना करता है । गीतावली के प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त सभी में सुख की भावना व्याप्त है । गीतों में संगीत की मधुरिमा होती है जो सुख की अनुभूति में सहायक होती है । चूँकि गीतावली में गीत ही हैं अतः उनके द्वारा सुख की भावना का प्रसार होना ही चाहिए ।

भक्तिपरक गीतों में दर्शन का समावेश होना भी स्वाभाविक है । यह दर्शन ही भक्तिमार्ग का रहस्य है। आत्मा जब तक अपने स्वरूप को न पहचानने तथा उसे परमात्मा के प्रति अपने सम्बन्ध का ज्ञान न हो तब तक उसे सच्चे भक्तिमार्ग की प्रतीति ही नहीं हो सकती । दर्शन के रहस्य को समझनेवाला विभीषण जब राम से मिलता है तो उसे विदेह की-सी स्थिति प्राप्त हो जाती है, यथा—

रामहि करत प्रणाम निहारिकै ।
उठे उमंगि आनंद-प्रेम-परिपूरन बिरद बिचारिकै ।।
भयो बिदेह बिभीषन उत, इत प्रभु अपनपौ बिसारिकै ।।
भलीभाँति भावते भरत-ज्यों भेट्यौ भुजा पसारिकै ।।[3]

---

1. रामचरितमानस : बालकाण्ड : 14/5
2. गीतावली : बालकाण्ड : 1/11
3. गीतावली : सुन्दरकाण्ड : गीत सं० 36/1-2

× × ×

जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि-महेस मन मारिकै ।।
तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि, कहत कहू न सँवारिकै ।।

विभीषण महान् विद्वान् तथा दार्शनिक था। वह अपने आपको तथा राम के महत्त्व को भली प्रकार समझता था। उसका यही दर्शन उसे रामभक्ति की ओर ले गया था।

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण कवितावली में भरे पड़े हैं। भारतीय संस्कृति तथा दर्शन दोनों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत अध्ययन में दोनों विषयों के सन्दर्भ में गीतावली के सम्बन्ध में जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है वह स्थान-स्थान पर कवि की तद्विषयक विशिष्टताओं का उद्घाटन करता है।

'गीतावली में 'संस्कृति' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत अध्यात्म, धर्म, नीति, समाज, नारी, प्रथाएं एवं संस्कार, प्राचीनता का महत्त्व, दाम्पत्य जीवन के चित्र, दाम्पत्य-जीवन के विनोद-चित्र, पारिवारिक सम्बन्ध, सास-बहू सम्बन्ध, भ्रातृ-प्रेम तथा अन्य सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय के अन्तर्गत वैदिक संस्कृति, तुलसी का सांस्कृतिक व्यक्तित्व, गीतावली के पात्रों यथा —राम, भरत, लक्ष्मण, सीता, दशरथ तथा उनकी रानियाँ, अन्य महत्त्वपूर्ण पात्र, राम के सहायक वानर पात्र एवं हनुमान आदि के विशिष्ट परिचय प्रस्तुत किये गये हैं। वास्तव में गीतावली के पात्रों में वही गरिमा है जो मानस के पात्रों में उपलब्ध होती है। यद्यपि प्रबन्ध काव्य के समान मुक्तक काव्य में स्थानाभाव के कारण वह सम्भव नहीं हो पाती तो भी गीतावली में उनका इस प्रकार उल्लेख किया गया है कि उनके गुणों का बोध भली प्रकार हो जाता है।

'गीतावली में दर्शन' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत अद्वैतवाद, वैष्णववाद, विशिष्टाद्वैतवाद, धर्म, भक्ति, सदाचार एवं अन्य सद्गुण, रामभक्ति तथा नाम-भक्ति, भक्ति का स्वरूप, माया एवं इन्द्रियनिग्रह जैसे शीर्षकों में विभाजित करके अध्ययन किया गया है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि दर्शन के इन विविध क्षेत्रों में किया गया अध्ययन गीतावली के दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट करने में सक्षम है।

'गीतावली में काव्य' शीर्षक अध्याय में विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आलोक में काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। इस प्रकार जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं उनके द्वारा नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं। उनके उदाहरणों के द्वारा काव्य-शास्त्रीय तत्वों का भी अवगाहन हो जाता है। उनके काव्य में भावपक्ष और कला-पक्ष दोनों को समुचित स्थान प्राप्त हुआ है। प्रत्येक दृष्टि से वह सफल रचना है।

गोस्वामीजी की चिन्तनधारा के विषय में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है

कि उनका आध्यात्मिक चिन्तन उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विचारों से अभिन्न है तथा उन दोनों को एक-दूसरे से विच्छिन्न कर देना न तो सम्भव है और न उचित ही। कवि तुलसी की सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि को हृदयांगम करने के लिए उनकी आध्यात्मिक साधना के स्वरूप की संक्षिप्त विवेचना के उपरान्त संक्षेप में उनकी दार्शनिक चिन्तन पद्धति और उसमें गीतावली में वर्णित प्रमुख पात्रों को किस रूप में ग्रहण किया गया है, इस तथ्य से परिचित कराना आवश्यक है। गोस्वामीजी की जीव, ब्रह्म, माया एवं जगत से सम्बन्ध रखनेवाली कतिपय विशिष्टताओं एवं मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में उनकी चिन्तन-पद्धति से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। यह भी विचारणीय है कि गोस्वामीजी की जीवन-दृष्टि मानव-समाज के लिए कहाँ तक ग्राह्य है? ब्रह्म, जीव एवं माया से सम्बन्ध रखनेवाली चिन्तनधारा में गोस्वामीजी ने ब्रह्म की सत्ता को ही सर्वोपरि माना है। इस रूप में कह सकते हैं कि हमारा प्राचीनतम साहित्य वेद है। वैसे प्राकृत, पालि एवं अपभ्रंश सभी में राम-साहित्य मिलता है, किन्तु तुलसीदास के अनुसार राम सगुण भी हैं और निर्गुण भी। दूसरी ओर आत्मा अथवा जीव तत्त्व भी इसी परमसत्ता का अभिन्न अंग है। इतना होने पर भी जीव मायामय संसार में जन्म लेता है तो वह परमसत्ता के अधीन हो जाता है।

माया एवं जगत् के सम्बन्ध में भी कवि तुलसी ने मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण किया है। उनके अनुसार मिथ्याभाषित होनेवाला जगत् तब सार्थक बन जाता है जब वह परमात्मा की दिव्य ज्योति से ज्योतित हो उठता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि गोस्वामीजी को इस जगत्-सम्बन्धी धारणा में व्यावहारिक उपयोगिता के तत्व को ही विशेष रूप से स्वीकार किया गया है।

गोस्वामीजी की दार्शनिक विचारधारा की परिधि के अन्तर्गत उनके द्वारा 'गीतावली' काव्य में वर्णित आदर्श एवं सामान्य पात्रों के स्वरूप एवं गुणों की विवेचना करना भी आवश्यक है। 'गीतावली' में प्रायः दो प्रकार के चरित्र हैं—(1) सज्जन एवं (2) दुर्जन। सज्जन चरित्रों में सभी समाज-सेवी चरित्र आ जाते हैं। दुर्जन चरित्रों में वे सभी राक्षस आ जाते हैं जो समाजविरोधी थे। इन्हीं में कुछ उच्चकोटि के थे तथा कुछ सामान्य। उदाहरण के रूप में तुलसी के राम श्रेष्ठ गुणों से युक्त दैवीय धीरोदात्त नायक है। इसके विपरीत तुलसी का रावण आसुरी वृत्तियों से युक्त होते हुए भी अनेक श्रेष्ठ गुणोंवाला खलनायक है।

अभिव्यक्त मनोविकार की संज्ञा उस तत्व को दी गयी है जिसको कवि पात्रों के माध्यम से उनके गुणों का उद्‌घाटन करके काव्य में वर्णित कथानक को आगे बढ़ाता है। इसी तथ्य का प्रकाशन एक अन्य विद्वान ने इसी प्रकार किया है—

"प्रत्येक महाकाव्य में घटनाचक्र के संकलनार्थ ही महाकवि को कतिपय पात्रों की सृष्टि करनी पड़ती है। इसी को चरित्र का तत्त्व कहकर अभिहित किया जा

सकता है। यह तत्त्व सर्ग, रचना, छन्द, वस्तु-व्यंजना एवं अलंकरण के बहिरंगी उपादानों की तुलना में महाकाव्य को प्राणशक्ति (उद्देश्य) के अधिक निकट है। महाकवि अपने व्यापक उद्देश्य को अपने जीवन्त पात्रों के माध्यम से ही व्यक्त करने में समर्थ होता है।"[1]

आदर्श स्वभाव का अर्थ है कि उस गुण से युक्त पात्र का अन्तरमन व्यष्टि एवं समष्टि का समन्वय हो। यह पात्र अपने द्वारा समष्टि की लक्ष्य-पूर्ति का साधक बने। आदर्श स्वभाववाले पात्रों में कवि ऐसे गुणों का समावेश करवाता है जिससे द्विधा की स्थिति में श्रेष्ठ गुणों एवं सात्विकी वृत्तियों के माध्यम से आदर्श की स्थापना की जा सके।

गीतावली में कवि ने राम को अपने कथानक में नायक के रूप में स्वीकार किया है। किसी भी जाति की काव्य-प्रतिभा ने कभी भी जिन उदात्त गुणों की कल्पना की होगी, कदाचित् हमें उनका एक महान् आदरणीय रूप राम के चरित्र में देखने को मिलता है। हिन्दू-जाति के आचार-विचार पर इस महान् आदर्श चरित्र का कितना प्रभाव पड़ा यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है। राम का आचरण एवं स्वभाव सर्वथा दैवीय चरित्र का मानवीय स्वरूप है। प्रधान पात्र होने के कारण जितनी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उनका जीवन दिखलाया गया है, उतना अन्य का नहीं।

वस्तुत: गोस्वामीजी के राम शक्ति, शील एवं दिव्य सौन्दर्य से युक्त, दयाशील, दीनदयाल, मानवीय एवं दैवीय दोनों प्रकार के गुणों से युक्त हैं।

---

1. डा० राजकुमार पाण्डेय : रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, पृ० 483

कवितावली में काव्य, समाज और संस्कृति

शोधकर्ता—अरुणप्रकाश वाजपेयी
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1984

प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र व्यापक है। इसके अन्तर्गत गोस्वामीजी तुलसीदास कृत 'कवितावली' में 'काव्य, समाज एवं संस्कृति' का विवेचन किया गया है। कवितावली में तुलसी के सरस मुक्तकों का कोष है। इससे पूर्व कवि ने अवधी भाषा में रामचरितमानस नामक प्रबंधकाव्य की रचना की थी। उससे काव्य की एक विधा (प्रबंध-काव्य) की पूर्ति हुई थी। कवि का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही समन्वयवादी था। अतः मुक्तक की ओर बढ़ना उसके लिए स्वाभाविक था। मुक्तक उस समय की व्रजभाषा की अत्यन्त प्रचलित काव्य विधा थी। समन्वयवादी कला के द्वारा कवि ने मुक्तक काव्य को भी प्रबंध काव्य का-सा सौष्ठव प्रदान किया। मुक्तक के विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो यहाँ तक लिखा है—"यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"[1]

अतः तुलसी का ध्यान भी मुक्तक की ओर गया होगा और उन्होंने अपनी राम-भक्ति को व्रजभाषा के सरस मुक्तकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्ययन इसी महत्वपूर्ण कृति की विशेषताओं का उद्‌घाटन करने हेतु किया गया एक प्रयास है।

प्रस्तुत शोधग्रंथ के अन्तर्गत पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में तुलसी के पूर्व एवं समसामयिक परिस्थितियों के साथ ही तुलसी कृत रचनाओं का परिचय दिया गया है। उनका युग विभिन्न आक्रमणकारियों के आगमन से घोर अराजकता एवं अशान्ति से पूर्ण था। इस विषय पर डा० केसरीनारायण शुक्ल ने लिखा है, "तुलसी-दास ऐसे समय में पैदा हुए जबकि उनका विशिष्ट एवं प्राचीन संस्कृति समन्वित देश

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 239

मुसलमानों से पदाक्रांत था।[1] इस अध्याय के अन्तर्गत विभिन्न दृष्टिकोणों से तुलसी के पूर्व एवं समसामयिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि कवि अथवा साहित्यकार पर अपने युग की परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसी अध्याय के अन्तर्गत तुलसी की रचनाओं पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है ताकि उनके सन्दर्भ में रखकर कवितावली को देखा जा सके।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत कविताओं में काव्य की समीक्षा की गयी है। कवितावली वास्तव में एक मुक्तावली है जिसका निर्माण बड़े कौशल के साथ किया गया है। जहाँ प्रबंधकाव्य में कवि ने रामकथा के भावपूर्ण दृश्यों का अत्यन्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है वहीं उसने मुक्तक काव्य में उन्हें संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है किंतु उनके मुक्तक रसवर्षा में किसी प्रकार भी प्रबंध काव्य से कम नहीं हैं। उनमें मधुरिमा एवं काव्य-सौष्ठव भी है। इस अध्याय में रस-सिद्धांत के आलोक में कवितावली पर विचार किया गया है। कवितावली की सरसता सर्वमान्य है। इस कृति में सभी रसों का उत्कर्ष मिलता है। श्रृंगार के निरूपण में कवि ने मर्यादा का पूर्ण निर्वाह किया है। कवि ने युद्ध प्रसंगों के वर्णनों में विशेष रुचि दिखायी है इसी कारण ऐसे स्थलों पर भयानक एवं वीर रस के साथ ही वीभत्स रस का भी समावेश हुआ है। ध्वनि-काव्य के गुण भी इस रचना में दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे अर्थपरिवर्तन हुआ है। इस कृति में कवि ने काव्य के तीनों गुणों (प्रसाद, माधुर्य एवं ओज) का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही इस रचना के अन्तर्गत रीति एवं वृत्ति का समुचित रूप भी उपलब्ध होता है। इसमें कोमलवृत्ति के प्रयोगवाले स्थल सर्वाधिक हैं। अलंकारविधान कवितावली की एक प्रमुख विशेषता है। यद्यपि अलंकार काव्य का सारभूत तत्व नहीं है फिर भी यह मानना होगा कि उचित रीति से प्रयोग होने पर भावों का उत्कर्ष बढ़ाने के साथ ही वस्तुओं के रूप, गुण एवं क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में अलंकार सहायक होते हैं। गोस्वामीजी को अलंकारों का सम्यक् ज्ञान था। उनके काव्य में प्रायः सभी परम्परागत अलंकार मिलते हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में कवि ने विशेष कौशल दिखलाया है। उनके काव्य में प्रयुक्त उपमाओं का महत्व किसी प्रकार भी कालिदास से कम नहीं है। उनमें कवि की नवीन कल्पनाशक्ति का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं पर प्रसिद्ध उपमानों को कवि ने बड़ी अद्भुत उद्भावनाओं के साथ विशेष प्रसंगों में प्रयुक्त किया है। तुलसी के काव्य में ऐसी उपमाएँ मिलती हैं जो एकमात्र उनके जड़ या चेतन जगत के अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण तथा आभ्यन्तरिक वृत्तियों की गम्भीरता अनुभूति पर आधारित हैं। इसके उपरांत रूपक अलंकार भी कवि को अत्यन्त प्रिय था। अन्य

1. डा० केसरीनारायण शुक्ल : तुलसी की रूसी भूमिका, पृ० 9

अलंकारों में अतिशयोक्ति के प्रयोग भी दृष्टव्य हैं।

गोस्वामीजी ने विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग भी बड़े कौशल के साथ किया है परन्तु कवि की रुचि इन प्रयोगों में अधिक नहीं थी। उपर्युक्त विवेचनों के द्वारा यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि तुलसी अलंकारवादी न थे और चमत्कार-प्रदर्शन उनके काव्य का लक्ष्य भी न था परन्तु रससिद्ध कवि होने के नाते उनके काव्य में अलंकार स्वाभाविक रूप से समाविष्ट हो गये हैं। कवितावली के अलंकारों का प्रयोग मुख्य वर्ण्य विषय को उत्कर्ष प्रदान करता है। इस प्रकार अलंकार उनके काव्य की शोभा में वृद्धि करनेवाले सिद्ध होते हैं।

काव्यशास्त्र के औचित्य-सिद्धांत की गरिमा को व्यक्त करने हेतु तुलसी का मर्यादावादी काव्य पूर्ण सक्षम है। कवितावली में उक्त सिद्धांत के हेतु अत्युत्तम सामग्री विद्यमान है। गोस्वामीजी के काव्य की प्रमुख विशेषता ही यही है कि उन्होंने सदैव मर्यादा तथा औचित्य दोनों की रक्षा की है। अस्तु उनके काव्य का प्रत्येक प्रसंग औचित्य का उदाहरण माना जा सकता है।

औचित्य और मर्यादा एक-दूसरे पर आश्रित हैं। बिना औचित्य के मर्यादा कैसी और बिना मर्यादा के औचित्य कैसा ? शब्द के समान ये दोनों भिन्न नामों से 'गिरा और अरथ' वास्तव में एक ही हैं। गोस्वामीजी की निम्नांकित पंक्ति इसे स्पष्ट करती है, यथा—

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"[1]

कवितावली में छन्दों की दृष्टि से नवीनता मिलती है। कवि ने कवित्त, सवैया, छप्पय, के प्रयोग में विशेष रुचि दिखायी है। इसका कारण यह है कि कवितावली मुक्तक रचना है जिसमें कवि ने परम्परा प्रचलित छन्दों का प्रयोग किया है। अन्य विशेषताओं के अन्तर्गत मुक्तक काव्य कवितावली के काण्डों में असमानता का भी नवीन दृष्टिकोण से विचार करना भी आवश्यक समझा गया ताकि उसका महत्व स्पष्ट हो सके।

तृतीय अध्याय कवितावली में समाज-विषयक विचारधारा का है। इसके अन्तर्गत प्रारम्भ में समाजशास्त्रियों के मतों का उल्लेख किया गया है ताकि समाज का अर्थ स्पष्ट हो जाये। यद्यपि समाज का अध्ययन जिस शास्त्र में किया जाता है वह 'समाजशास्त्र' केवल एक शताब्दी पूर्व का शास्त्र है परन्तु विशेष बात यह प्रकाश में आयी है कि तुलसी ने अपने समय की समाजविषयक जिन मान्यताओं को अपना आधार बनाया है उसमें आधुनिक समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये समाजशास्त्रीय अध्ययन को बल प्राप्त होता है। प्रस्तुत अध्ययन में विश्लेषण-पद्धति के द्वारा उन मतों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है ताकि नवीन निष्कर्ष प्राप्त हो

---

1. रामचरितमानस : बालकाण्ड : दोहा 18

सकें।

वस्तुतः तुलसी के मन में रामभक्ति के साथ ही समाज एवं संस्कृति का भी ध्यान था। उनके समस्त काव्य में इन तत्वों का दर्शन किया जा सकता है। प्रबंध काव्य के क्षेत्र में इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में विचार करने का अधिक अवसर था तभी तो कवि ने 'संकर चापु जहाजु सागर बाहुबल' लिखते समय 'बूड़ सो सकल समाजु'[1] भी लिख डाला। अतः समाज उनके काव्य का आलम्बन बना और सुसंस्कृत समाज की कल्पना में कवि संस्कृति-विषयक विचार प्रस्तुत हुए।

भारतीय समाज में बहुमत हिंदुओं का है और प्रजातन्त्र में तो बहुमत का ही राज्य है अतः बहुमत के सिद्धांत के आधार पर भारतीय-संस्कृति को हिंदू-संस्कृति का पर्याय भी माना जा सकता है। यह भी उल्लेखनीय है कि आजकल बहुमत का ही दूसरा नाम लोकमत भी है अस्तु तुलसी ने लोकमत, वेदमत, तथा साधुमत सभी को अपने काव्य में स्थान दिया है। कवितावली में तुलसी ने तत्कालीन सामाजिक दुरवस्था का चित्रण ही नहीं किया है वरन् अपने ढंग से समस्याओं के समाधान का मार्ग भी प्रशस्त किया है। तुलसी पौराणिक मान्यताओं की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि 'वर्णाश्रम धर्म' व्यवस्था की शिथिलता देखकर कवि का मन विक्षुब्ध हो उठा। तुलसी ने अपनी इस मानसिक पीड़ा को अपने काव्य में व्यक्त किया है। कवि अथवा साहित्यकार समाज का प्राणी होने के कारण उस परिवेश से प्रभावित होता है परन्तु उसका समाज के प्रति उत्तरदायित्व भी होता है। इस दृष्टि से तुलसी सफल कहे जायेंगे। उन्होंने जहाँ 'स्वांतः सुखाय' रचना की है वहाँ 'सुरसहि-सम सब कहं हित होई'[2] का भाव भी उनके काव्य में निहित है। सामाजिक क्षेत्र में कवि के काव्य में प्राचीन भारतीय ग्रंथों की मान्यताएँ भी उपलब्ध होती हैं। उनका नारी विषयक दृष्टिकोण भी भारतीय हिन्दू-संस्कृति से प्रभावित जान पड़ता है।

इस ग्रंथ का चतुर्थ अध्याय कवितावली में संस्कृति से सम्बन्धित है। इसमें प्रारम्भ में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक ढंग से संस्कृति की परिभाषा एवं उससे सम्बन्धित विषयों को स्पष्ट किया गया है तदुपरांत उन सभी का पृथक्-पृथक् विवेचन भी किया गया है। संस्कृति के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों के मतों की भी विवेचना का विषय बनाया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि संस्कृति की विस्तृत परिधि के भीतर दैनिक जीवन में पायी जानेवाली सभी वस्तुएँ आती हैं। यह अर्जित व्यवहारों की एक व्यवस्था है जिसका प्रयोग विशिष्ट समाज के साथ होता है। मानव भौतिक, मानसिक तथा प्राणिशास्त्रीय रूप से जो कुछ पर्यावरण से

---

1. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 261
2. वही, 14/5

सीखता है उसी को संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति के अन्तर्गत सभी रीति-रिवाज, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ आदि आती हैं।

भारतीय संस्कृति में भक्ति एवं उपासना तत्व की प्रधानता है। गोस्वामीजी ने अपने काव्य-ग्रंथ 'कवितावली' में संस्कृति-विषयक धारणाओं को स्पष्टता प्रदान की है। गोस्वामीजी ने धर्मभावना में आडम्बर का विरोध किया है। उनका स्पष्ट मत है कि जिस साधना में कृत्रिमता होगी वह कभी सफल नहीं हो सकती। उनकी उपासना सगुण रूप की है अतः उसमें किसी प्रकार के रहस्यवाद का समावेश अनुचित है। 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड में ही राम की भक्ति करने के साथ ही गोस्वामीजी ने शिव माहात्म्य पर भी अनेक छन्द लिखे हैं। कवि का दृष्टिकोण साम्प्रदायिकता के संकुचित दृष्टिकोण से परे है। कवि ने अपने काव्य में सभी देवी-देवताओं की स्तुति की है। 'कवितावली' में कवि ने भक्ति की सातों भूमिकाओं का समावेश किया है। गोस्वामीजी ने इस कृति में इष्टदेव के स्वरूप का बड़ा मनोयोग से वर्णन किया है। जहाँ अन्य देवता किसी कारण विशेष कृपा करते हैं और रुष्ट होने पर भक्त को हानि पहुँचाते हैं वहीं राम के व्यक्तित्व में उदारता की चरम सीमा है। वे नाम लेने मात्र से मोक्ष प्रदान करते हैं तथा भक्त का सदैव हित-सम्पादन करते हैं। अन्य ग्रंथों की भाँति ही कवितावली में भी राम की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की है। अन्य सभी पात्र उनके सहायक के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

इस कृति में गोस्वामीजी ने राक्षस-संस्कृति के कुछ प्रसंगों का भी वर्णन किया है। उदाहरणार्थ कवि ने मन्दोदरी के चरित्र में भी समस्त सात्विक भावनाओं का समावेश किया है। गोस्वामीजी के इस ग्रंथ में उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी व्यक्त हुआ है, उसमें भारतीय प्राचीन मान्यताओं का संकेत मिलता है जो जीवन को उत्कृष्ट बनाने में सहायक है। कवितावली मुक्तक-काव्य रचना है अतः इसमें विस्तार सम्भव न था परन्तु गोस्वामीजी ने अपनी विलक्षण काव्य-प्रतिभा से इस कृति में अपनी मान्यताओं एवं विश्वासों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। उनकी नीर-क्षीर-विवेकिनी कवि-दृष्टि ने उनके काव्य को अद्वितीय सफलता प्रदान की है।

पश्चिमी पहाड़ी की मण्डियाली बोली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

शोधकर्ता--मुरारीलाल शर्मा
निर्देशक—डॉ० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
वर्ष—1985

आज विद्वान इस बात से सहमत हैं कि हिंदी का वास्तविक स्वरूप, उसकी सत्ता उन बोलियों में है जो उत्तर भारत के करोड़ों लोगों द्वारा अपने-अपने स्थानों पर बोली जाती हैं। अत: यह आवश्यक है कि भाषाशास्त्री अपना ध्यान यहाँ बोली जानेवाली बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन पर केन्द्रित करें तथा बोलियों पर अधिक से अधिक अनुसंधान कार्य हो।

उत्तर प्रदेश के जौनसर बाबर से लेकर जम्मू काश्मीर के भद्रवाह तक की बोलियों को सामूहिक रूप से पश्चिमी पहाड़ी का नाम दिया जाता है। मण्डियाली, पश्चिमी पहाड़ी भाषा की एक बोली है जिसके बोलनेवालों की संख्या सात लाख के लगभग है। शोधकर्ता ने सुन्दरनगर जिला मण्डी के लोगों द्वारा बोली जानेवाली बोली को शोधकार्य का आधार माना है।

मण्डियाली बोली में पर्याप्त मात्रा में लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। इस बोली पर शोधकार्य का भी अभाव है। अत: प्रस्तुत शोधकार्य इस अभाव की पूर्ति करेगा। यह अध्ययन भाषाशास्त्र की नवीनतम पद्धति द्वारा किया गया है। स्वन-विज्ञान, रूपिमविज्ञान तथा रूपस्वनिमविज्ञान विषयक विश्लेषण की नव-विकसित पाश्चात्य प्रणालियों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है तथा भारत सरकार द्वारा निर्मित वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली तथा संकेतों का प्रयोग किया गया है। पाठ में प्रयुक्त प्रत्येक मण्डियाली शब्द तथा वाक्य का स्वनिक लिप्यंकन किया गया है। प्रत्येक खण्डात्मक संदर्भ के साथ-साथ उसका संवादी अधिखण्डात्मक अभिलक्षण दिया है। लम्बी परिभाषाओं तथा व्याख्याओं की अपेक्षा बोली के रूपों द्वारा अपनी बात प्रस्तुत करने को अधिक बल दिया है तथा सारे शोध-प्रबन्ध को एकसूत्र में बाँधा है जिसका मुख्य उद्देश्य है बोली की विशेषताओं को सामने लाना। हिन्दी में

कदाचित् ही ऐसा कोई ग्रंथ हो जिसमें भाषा-शास्त्र की नवीनतम पद्धति इस प्रकार अपनाई गयी हो।

शोध प्रबन्ध के चार अध्याय हैं जिनका विवरण निम्न है—

1. प्रस्तावना

अध्ययन का आरम्भ जिला मण्डी के भौगोलिक क्षेत्र, ऐतिहासिक परम्परा तथा सामाजिक व्यवस्था के वर्णन से है। ऐतिहासिक परम्परा में मण्डी के नामकरण और इतिहास की एक झलक है। भौगोलिक क्षेत्र में मण्डी क्षेत्र की स्थिति, क्षेत्रफल, जनसंख्या, पहाड़, नदियाँ, वर्षा, झीलें, वन, पेड़-पौधे तथा जंगली पशु-पक्षी वर्णित हैं। सामाजिक व्यवस्था में जातियाँ, खान-पान, पहनावा, आभूषण, घर और बस्तियाँ, उपज, विवाह, जन-स्वभाव, धार्मिक-विश्वास, सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचा, मेले और त्यौहार वर्णित हैं।

बोली की स्थिति, आधार सामग्री, लिखित साहित्य, उद्देश्य का विवेचन भी प्रस्तावना के अन्तर्गत किया है तथा अन्त में क्षेत्रीय कार्य, सूचक, सामग्री प्राप्ति के लिए साक्षात्कार, सामग्री का स्वरूप तथा उसका वर्गीकरण, संयोजन तथा निर्माण का दिग्दर्शन किया है।

2. स्वनप्रक्रिया

इस बोली में 30 व्यंजन तथा 10 स्वर हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—

व्यंजन—क् ख् ग् घ्
च् छ् ज् झ्
ट् ठ् ड् ड़् ढ् ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् ब् भ् म्
य् र् ल् व् स् ह्

विशेष : [न्] के दो उपस्वन (ङ्) तथा (ञ्) हैं जिनका आगमन क्रमशः कवर्ग तथा चवर्ग से पूर्व होता है।

स्वर—अ इ उ
आ ई ऊ
ए ओ
ऐ औ

अधिखण्डात्मक अभिलक्षण—

1. अनुनासिका [˙]
2. तान [`] निम्न [-] मध्य [´] उच्च ।
3. संहिता [∪] सन्निकृष्ट [+] विप्रकृष्ट ।
4. स्वराघात तल [1 2 3 4] क्रमशः निम्न, मध्य, उच्च और अतिरिक्त उच्च ।
5. अन्त्य परिरेखा [↙][↗] [॥] क्रमशः अवरोही, आरोही तथा सम ।

खण्डात्मक व्यंजनों और स्वरों के आद्य, मध्य तथा अन्त्य स्थानों में भेदात्मक युग्म-वैषम्य दर्शाया है । स्वरपार्थक्य के उदाहरण भी दिये हैं । स्वनिम और उसकी अनुपस्थिति में भी व्यतिरेक किया है । इसी प्रकार स्वनिम क्रम परिवर्तन वैषम्य दिया है । संयोगावस्था में बोली में चार व्यंजनों तथा चार स्वरों तक के उदाहरण उपलब्ध हैं । इनका मेल आदि, मध्य तथा अन्त्य स्थिति में तालिका रूप में स्पष्ट किया है ।

अधिखण्डात्मक अभिरचना में अनुनासिका वैविध्य में अल्पअनुनासिका का विवेचन भी है । निम्न, मध्य तथा उच्च तान की विशेषता का वर्णन भेदात्मक युग्मों से निर्दिष्ट है । सन्निकृष्ट संहिता तथा विप्रकृष्ट संहिता द्वारा ध्वनियों को मिलाने के उदाहरण दिये हैं । इसी प्रकार सुराघात तल के ऐसे अनेक कारण हैं जिनमें वक्ता का अभिप्राय सांकेतिक रूप में स्पष्ट है ।

आक्षरिक प्रणाली में स्वर आधारभूत है । एकाक्षर से पंचाक्षरी अभिरचना बोली में उपलब्ध है ।

3. रूपस्वनिमिकी

रूपिम और स्वनप्रक्रिया के अन्तर्गत प्रातिपदिक और प्रत्यय के संयोग में रूप या स्वनिम का जो परिवर्तन होता है, उसका अध्ययन किया गया है । ध्वनि विकार आगम तथा नाश के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं । प्रत्यय-संयोग से तान का परिवर्तन, विस्थापन, प्रतिस्थापन आदि दर्शाया गया है । द्रुत भाषण में मिलनेवाले शब्दों में घटित समीकरण भी दर्शाया गया है ।

4. रूपप्रक्रिया

रूपप्रक्रिया में खण्डात्मक रूपिमों और उनके द्वारा शब्द बनने की प्रक्रिया का अध्ययन किया गया है । इसमें व्युत्पत्तिमूलक तथा विभक्तिपरक कोटियों में रूप रचना का वर्णन है । केन्द्रक में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, धातुएँ तथा अव्यय विद्यमान रहते हैं । इनके साथ प्रत्यय जोड़कर परिणामी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, धातुएँ

तथा क्रियाविशेषण की रचना होती है। संज्ञा में प्रत्यय संयोग से रचना के उदाहरण अधिक संख्या में हैं। सर्वनामों के विविध रूप प्रस्तुत तालिका में संग्राह्य हैं। ध्वनि-विकार द्वारा धातु के सकर्मक से अकर्मक धातु होने तथा नाम रचना के उदाहरण प्राप्त हैं। अभ्यस्त शब्द रचना, व्यंजन तथा स्वर में विकार तथा अधिकार सहित सम्भव है। समास के परिणामी प्रातिपदिक संज्ञात्मक, विशेषणात्मक तथा क्रिया-विशेषणात्मक कोटियों में आते हैं।

विभक्तिपरक कोटियों में संज्ञाएँ तथा विशेषण वचन, कारक, लिंग, कारण विभक्ति प्रत्यय युक्त किये जाते हैं। बोली में दो वचन हैं—एकवचन और बहु-वचन। चार कारक हैं—कर्ता, कर्तृ, तिर्यक् और सम्बोधन। दो लिंग हैं—पुलिंग और स्त्रीलिंग।

क्रमवाचक, संख्यावाचक तथा भिन्नात्मक संख्यावाचक विशेषणों में रूप-विविधता है। सर्वनाम रचना में अनेक रूप निष्पन्न होते हैं। क्रियाओं के साथ बहुत सरल रूप से विभक्ति-प्रत्यय जुड़ जाते हैं। परन्तु कुछ क्रिया रूप नियमानुकूल नहीं हैं। कुदंतपरक रचना के विशेषण, संज्ञा और क्रियाविशेषण रूप बोली में उप-लब्ध हैं।

उपसंहार

उपसंहार में विवेचित सामग्री के आधार पर प्रमुख उपलब्धियों का संक्षिप्त वर्णन है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट में मण्डियाली बोली की कथा-वार्ता, मुहावरे और लोकगीत दिये गये हैं। तत्पश्चात् सन्दर्भ ग्रन्थ सूची है। शोध-प्रबन्ध की समाप्ति व्याकरणिक पदों से आबद्ध मण्डियाली-हिन्दी शब्दावली में की गयी है।

अध्ययन को पूर्ण, विश्वसनीय और सारगर्भित बनाने में शोधकर्ता ने पूर्ण प्रयास किया है और मण्डियाली बोली के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रामाणिक एवं विश्वस्त सामग्री दी गयी है। यह आशा की जाती है कि यह अध्ययन न केवल भाषा-शास्त्र तथा हिन्दी साहित्य के ज्ञान में वृद्धि करेगा वरन् प्रकृति की गोद में रहने-वाले लोगों को समझने में भी सहायक सिद्ध होगा।

महादेवी के काव्य में संस्कृति और दर्शन

शोधकर्ता—गजराजसिंह त्यागी
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश

महादेवीजी पर लगभग अठारह शोध-प्रबन्ध भारतीय विश्वविद्यालयों से पी० एच०डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुए हैं। इनमें प्रायः गीति योजना, गद्य साहित्य, प्रकृति-चित्रण, काव्य शिल्प, लालित्य-योजना तथा अप्रस्तुत विधान का अध्ययन मुख्य रूप से परिलक्षित होता है। दार्शनिक दृष्टि से तीन शोध-प्रबन्ध उल्लेखनीय हैं। इनमें एक प्रबन्ध रश्मि त्रिपाठी का है जो महादेवी का काव्य, कला और जीवन दर्शन शीर्षक से विक्रम विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ। दूसरा केशवदेवी का महादेवी के काव्य में दार्शनिक चेतना, लखनऊ विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ है। तीसरा उल्लेखनीय प्रबन्ध सुदेश का—महादेवी वर्मा जीवन, दर्शन और साहित्य शीर्षक से 1978 ई० में इन्दौर विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ है।

इन सभी शोध-प्रबन्धों में प्रायः अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध-दर्शन करुणावाद और क्षणभंगुरवाद की ही छाया देखने का प्रयत्न शोधार्थियों द्वारा हुआ है। डॉ० प्रेम-प्रकाश रस्तोगी ने छायावाद पर वैदिक प्रभाव ढूँढ़ते हुए वेद मन्त्रों के समानार्थक हिन्दी पद्यों का संकलन और विवेचन अपने शोध-प्रबन्ध में किया है, किन्तु इस प्रबन्ध में भी परम्परित दर्शनों की दृष्टि से विवेचन नगण्य ही है। यों जवाहरलाल सिंह ने छायावाद काव्य की आध्यात्मिक चेतना, सुषमा पाल ने छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा रामचन्द्र मिश्र ने आधुनिक छायावादी हिन्दी काव्य पर वेदान्त का प्रभाव शोध-प्रबन्ध में प्रसाद; पन्त और निराला के साथ महादेवी के काव्य की दार्शनिक विशेषताओं का उल्लेख किया है। तथापि सांख्य, न्याय वैशेषिक, योग और मीमांसा जैसे परम्परित दार्शनिक सरणियों का उपयोग इन आलोचकों द्वारा नहीं किया गया। अब तक के अध्ययन की दिशा में यह अभाव स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ता है।

महादेवीजी अध्ययन और मनन दोनों ही दृष्टियों से भारतीय परिवेश,

भारतीय चेतना, भारतीय साहित्य, भारतीय, भारतीय साधना और भारतीय दर्शन से पूर्णतया प्रभावित है। प्रस्तुत शोध संस्कृति-प्रबन्ध में महादेवीजी के काव्य में निहित विचार तत्त्व का समग्र दर्शनों के सन्दर्भ में मूल्यांकन का प्रयत्न किया गया है। महादेवी के काव्य की दार्शनिक चेतना के विविध पक्ष उजागर करने की दिशा में यह एक विनम्र प्रयत्न है। संस्कृत साहित्य की नियमित अध्येता तथा विदुषी होने के कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों से उनका निकट का सम्बन्ध रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 9 अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में उनके जीवनवृत्त और उनके संस्कृति विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है। जीवनवृत्त में—जन्म, शिक्षा, विवाह, काव्य रचना आदि तथा व्यक्तित्व में वाह्य एवं आन्तरिक व्यक्तित्व को उद्घाटित किया गया है। वाह्य व्यक्तित्व में आनुवंशिक परम्परा, वातावरण, द्वन्द्व, सन्तुलन और आन्तरिक व्यक्तित्व में संस्कार वैदुष्य एवं स्वाभिमान भारतीय नारीत्व, आदर्श गृहिणी तथा कलात्मक रुचि, देशभक्ति एवं स्पष्टवादिता, अध्यापन क्षमता। सफल प्रशासिका एवं नारी शिक्षा की प्रेरिका के रूप में मुखरित व्यक्तित्व का बिश्लेषण हुआ है। महादेवीजी का करुणा-बहुल व्यक्तित्व हमें उनकी भावुकता और उनके आस्थावती होने का प्रमाण देता है।

महादेवीजी के जीवन-दर्शन में उनकी काव्य-साधना का वाह्य एवं अन्तश्चेतना-मूलक स्वरूप निहित है। उनके तपोनिष्ठ तथा सेवा निरत व्यक्तित्व की छाप, कल्पना की कमनीयता और ऐकान्तिक आत्मसमर्पण की भावना, उनके काव्य की पृष्ठभूमि है। महादेवीजी के संस्कृति प्रेम की सरिता विभिन्न सांस्कृतिक स्त्रोतों के रूप में प्रस्फुटित हुई है जैसे—भोगवाद, वैराग्यवाद, सांस्कृतिक संस्थाएँ—गृह कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, विवाह, शिक्षा, देवतावाद, प्रकृतिवाद, शान्ति और युद्ध, वेशभूषा, मनोरंजन के साधन, सहअस्तित्व, वैराग्य-संन्यास तथा सर्वात्मवाद की दृष्टि से उनके काव्य का पक्ष समृद्ध हुआ है। इस पक्ष का विशद विवेचन इस प्रबन्ध में हुआ है।

दूसरे अध्याय में उनके काव्य में वेद-वेदांग एवं न्याय परम्परा के निर्वाह की भूमिका स्पष्ट की गयी है। वेद एवं वेदांग विषयक तत्त्वों के अन्तर्गत वेद—वेद का अर्थ, वेद के प्रकार, उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक, वेदों का महत्व तथा वेदांग में शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि का वर्णन किया गया है। महादेवी के काव्य में न्याय परम्परा का निर्वाह—प्रमाण, उपमान, अनुमान, आप्तो-पदेश, ऐतिह्य, स्मृति के साथ जगत, ईश्वर, आतमा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग आदि का निर्वाह यत्र-तत्र देखने को मिलता है। मेरी दृष्टि में 'विश्वासों का नीड़' कविता इसी पृष्ठभूमि पर विश्लेषित की जानी चाहिए।

तीसरे अध्याय में महादेवी के काव्य में बौद्ध दर्शन की छाया का विवेचन किया गया है। मैत्री और करुणा, दुःखवाद, महायान और हीनयान शाखाओं के तत्त्वों के साथ ही बौद्धों के अष्टांगिक मार्ग-सम्मा-दिठ्ठी, सम्मा-संकल्प, सम्मा-वाचा, सम्मा-कम्मान्त, सम्मा-जीव, सम्मा-वायाम, सम्मासीत तथा सम्मा-समाधि की झलक भी महादेवी के काव्य में मिलती है। बौद्धों के चार सत्य—दुःख, दुःख का हेतु, दुःख का निरोध, दुःख के निरोध का उपाय भी आलोच्य कवयित्री के काव्य में दृष्टि-गोचर होता है। करुणा से आप्लावित होकर कवयित्री की आस्था है कि हे दीपक तेरी लौ सतत स्निग्ध होकर सुकोमल प्रकाश फैलाती रहे, ताकि उसकी सहायता से सभी पक्षी अपने नीड़ों में तथा सभी यात्री अपने गन्तव्य पर सुरक्षित पहुँच जायें। किसी को दिग्भ्रम न हो, कोई अन्य मार्ग से भटक न जाये। किसी को दुःख न व्यापे। बौद्ध चिन्तन प्रसूत करुणावाद से प्रेरित हो महादेवीजी अपने प्रियतम से भी करुणा की याचना करती हुई कहती हैं कि—

"मेरे बिखरे प्राणों में, सारी करुणा ढुलका दो।
मेरी छोटी सीमा में, अपना अस्तित्व मिटा दो।"

चतुर्थ अध्याय में मीमांसा के प्रभाव का विवेचन है। यद्यपि मीमांसा कर्मकाण्ड विषयक दर्शन है और उत्तर मीमांसा में ही उसके विचारपक्ष का विस्तार मिलता है तथापि प्रमाण, सादृश्य तथा उपमान से जहाँ उनकी विचारधारा का विश्लेषण उन्हें मीमांसावादी सिद्ध करता है वहां रश्मि के अनेक गीतों की योजना में इसी दर्शन की झलक मिलती है। प्राण-दीप का जलना मीमांसा के यज्ञ प्रतीक का ही ग्रहण है जिसमें 'इदं न मम्' का स्वर छिपा है। यही त्याग महादेवी के जीवन-दर्शन का मुख्य आधार है।

पंचम अध्याय में महादेवी के काव्य में वैशेषिक दर्शन के बिखरे हुए बीजों की झलक हमें दृष्टिगोचर होती है। महादेवीजी ने पदार्थ विभाग—वायु, आकाश, काल, दिशा, मन, आत्मा, गुण, विशेष, शरीर, इन्द्रिय, विषय, अविद्यासंशय, विपर्यय, अन्ध्यवसाय और स्वप्न को अपने काव्य में यथोचित स्थान दिया है। वैशेषिक के कार्य—कारणवाद और शब्द की व्यंजनाएँ महादेवी के काव्य में उपलब्ध होती हैं। महादेवी को निर्वाण अथवा मुक्ति की अपेक्षा नहीं अपितु जीवन की शतबन्धनों से अनुरक्ति है ताकि दुःख ही सुख बन जाय। यही उनकी मुक्ति है। महादेवी में अंश-अंशी भाव है जिसके मूल में विशिष्टाद्वैतवाद झलकता है। वह यह मानती हैं कि सृष्टि की रचना हुई, एक से बहु हुए। यह भी मानती हैं कि वह महान हैं, अतः उपास्य प्रियतम है। पर उस निष्ठुर से प्रश्न करते समय इन बातों से आगे बढ़कर यह भी जानती हैं कि उसकी खोज अपनी ही खोज है—

निष्ठुर क्यों फैला दिया यह उलझनों का जाल।
आप अपने को जहाँ सब ढूंढते बेहाल ?

महादेवी में अवतारवाद जो वैष्णव परम्परा की आधारभित्ति है, के प्रति आस्था दिखायी नहीं देती लेकिन साथ ही महादेवी की भक्ति—कान्ताभाव की भक्ति है। कुल मिलाकर वैशेषिक के बीज ही महादेवी काव्य में उपलब्ध होते हैं। वैशेषिक दर्शन का विस्तार उनके काव्य में उपलब्ध नहीं।

षष्ठ अध्याय में सांख्य दर्शन, सत्कार्यवाद की प्रवाहित होती रमणीय धारा महादेवी-काव्य में मिलती है। द्वैत की नियोजना जड़-प्रकृति में चेतन-व्यक्तित्व का आरोप, ब्रह्म से सृष्टि की रचना, प्रकृति पर जड़ात्मिका शक्ति और पुरुष पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप महादेवी की रचनाओं में समाहित है। जड़-चेतन के बिना विकास शून्य है और चेतन जड़ के बिना आकाश शून्य। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है यथा—

चेतन से जड़ का बन्धन,
यही संस्कृति की हृत्कम्पन।

इतना ही नहीं, महादेवी में योग दर्शन के ध्यान, धारणा, समाधि का चित्रण तथा अहंता का विसर्जन और साधना के विकास की तीन प्रमुख अवस्थाओं, जिज्ञासा, विरह, मिलन को दर्शाया गया है। दुःख के द्वारा आत्मविस्तार तो महादेवी-काव्य की आधारभित्ति ही है। महादेवी की काव्य-मणि, त्याग एवं आत्म-त्याग ही तो है।

'दीप मेरे जल अकम्पित घुल अचंचल' से ही ज्ञात होता है कि साधना ही साधक का लक्ष्य है—'यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो' से अहंता का विसर्जन करते हुए दुःख के द्वारा ही आत्म-विस्तार आलोच्य कवयित्री का लक्ष्य है। यथा—

दुःख के पद छू बहते झर-झर
कण-कण से आँसू के निर्झर
हो उठता जीवन मृदु उर्वर,
लघु मानस में वह असीम जग को आमन्त्रित कर लाता।

इस प्रकार कामनाओं के अन्त से लेकर आत्म-त्याग तक उन सभी तत्त्वों को महादेवी ने अपनी साधना-पद्धति में स्थान दिया है जोकि सामान्यतः आत्मचेतना के परिष्कार, विस्तार एवं विकास के लिए उपयोगी है। अन्ततः अलौकिक पथ के पथिक को लौकिकता के बन्धनों से मुक्त होना पड़ता है। इस मुक्ति का साधन ही योग है जो महादेवी के काव्य की श्रीवृद्धि कर रहा है।

सप्तम अध्याय में महादेवी के काव्य में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की परम्परा को आलेखित किया गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आत्मा, जीव, सृष्टि, काव्य-नियतिवाद, स्वातन्त्र्यवाद, अभेदवाद, आभासवाद समरसता और आनन्दवाद यामा में परिलक्षितहोता है। यामा के प्रत्येक यामका लक्ष्य वही है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन का।

दोनों में चिदानन्द लाभ ही अन्तिम फल है और दोनों में समरसता को चिदानन्द प्राप्ति की अवस्था कहा गया है। पर दोनों के सन्दर्भ में कुछ अन्तर दिखायी पड़ता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रातिभज्ञान या विवेक को समरसता का साधन कहा गया है और यामा में यह दु:ख है। सम्भवत: प्रत्यभिज्ञा दर्शन के बुद्धि तत्त्व और प्रातिभज्ञान 'यामा' में क्रमश: 'उत्पीड़न जनित आक्रोश और दु:ख है। यामा का त्रिपुर भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का त्रितप ही है, पर महादेवी ने उसके एकत्व पर बल दिया है। यह विश्व उसी चिति रूप परमानन्दमय प्रकाशैक-धन परमशिव से अभेद रूप में स्फुरित है और उसी की शक्ति द्वारा स्वमेव प्रकाशित या उन्मीलित या आभासित है। यथा—

जाते रवि ने फिर देखा क्या भर चितवन में ?
मुख छवि बिम्बित हुई कणों के हर दर्पण में।

अत: महादेवी के काव्य में प्रत्यभिज्ञा दर्शन की परम्परा विद्यमान है।

अष्टम अध्याय में महादेवी के काव्य में वेदान्त के चरम सत्य का कमनीय चित्रण हुआ है। प्रत्येक जीव, प्राणी में ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है। निर्गुण ब्रह्म सर्व शक्तिमान होने के कारण सगुण है। जीव का स्वरूप, नित्य, अणु, वेदान्त, उपनिषद से अभिन्न, जीवात्मा, ब्रह्म, जगत का निरूपण महादेवी काव्य में निरूपित है। विराट मानवता की सेवा महादेवीजी का मूल मन्त्र है जो उन्होंने वेदान्त से अधिगृहीत किया है। समृद्धि, सान्त्वना तथा शान्ति का प्रस्फुटन महादेवी के काव्य में सुचारुपूर्ण ढंग से हुआ है। भगवत्प्रतीक कृष्ण की अप्रत्यक्ष रूप से आराधिका है—'वृन्दाविपिन वाले जाग' से अनुरोध करती हैं कि—'हे भगवान कृष्ण! तुम्हारे शंख में सृष्टि के विनाश का सन्देश है और तुम्हारी मुरली में एक विशिष्ट वरदान अन्तर्हित है अर्थात् तुम्हारा शंखनाद सृष्टि में व्याप्त अन्याय, अनाचार, अतिचार, अत्याचार, अधर्म और अनैतिकता के लिए विनाश स्वरूप है।" वेदान्त के व्यावहारिक उद्देश्य मानवता की सेवा, समृद्धि और सान्त्वना तथा शान्ति का पथ प्रशस्त करती हुई महादेवी लिखती हैं कि—

पथ न भूले एक पग भी
घर न खोये, लघु विहंग भी
स्निग्ध लौ की तूलिका से
आँक सबकी छाँह उज्ज्वल।

महादेवीजी ने वेदान्त दर्शन के प्रतिबिम्बवाद का ग्रहण भी कई स्थानों पर किया है। अत: हम कह सकते हैं कि उन पर वेदान्त का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। मूल रूप से वह अद्वैतवादी ही हैं।

नवाँ अध्याय उपसंहार का है जिसमें उनके दार्शनिक निष्कर्षों तथा नियति-

वाद, कर्मण्यतावाद, आनन्दवाद, मानवतावाद, सौन्दर्यवाद, संस्कृति प्रेम, स्वदेश प्रेम, अध्यात्मवाद, अन्तः प्रकृति का चित्रण आदर्शवाद, दर्शन-प्रेम, स्वच्छन्दतावाद, करुणावाद और सर्वात्मवादी जीवन सन्देश का उल्लेख किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि उनके काव्य में सभी दर्शनों की मान्यताएँ खण्ड-खण्ड रूप में चित्रित हुई हैं तथापि उनका पूर्ण झुकाव अद्वैतवाद की ओर ही है।

पुनर्जागरण एवं नवोत्थान की चेतना से अनुप्राणित होने के कारण वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अरविन्द तथा राधाकृष्णन से प्रभावित रही हैं। प्रथम तथा द्वितीय युद्ध की विभीषिका से त्रस्त जगत को आनन्द का उपदेश देने के लिए वे बौद्ध-दर्शन के प्रति असीम आस्थाशील बन सकी हैं। हिन्दी के आधुनिक कवियों में महादेवीजी के दार्शनिक संस्कार अधिक प्रौढ़ हैं। यदि प्रसाद प्रत्यभिज्ञावादी हैं, पन्त अरविन्द के नवचेतनावाद से प्रभावित हैं तो महादेवी के काव्य में सभी परम्परित दर्शनों की मान्यताओं का समुचित समावेश हुआ है। हर्बर रीड ने जैसे वर्ड्सवर्थ के बारे में कहा था कि वह बाह्य जगत और स्वयं में कोई भिन्नता नहीं मानता था, उसका चिन्तन उसकी संवेदनाओं पर ही आधृत था, वैसे ही महादेवी का दर्शन शास्त्र की अपेक्षा उनकी संवेदनाओं पर ही अधिक आधारित है। उनके मतानुसार भी जब कवि का वेदान्त ज्ञान अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भाव जगत् से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तभी उसके सत्य में जीवन का स्पन्दन मिलता है, बुद्धि की तर्क श्रृंखला नहीं। यामा की भूमिका में वह कहती हैं, "मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है। सप्तपर्णा की अपनी बात में उन्होंने टालस्टाय के प्रभाव का या समचिंतन से उत्पन्न संयोग का आभास भी दिया है। यह ठीक है कि महादेवी के काव्य में सभी दार्शनिक मूल्यों की स्वीकृति है पर आचार्य शंकर के मत और उसके सार्वजनीन संशोधन पर उनका जितना बल है, उतना अन्य सरणियों पर नहीं। इस दर्शन की सामाजिक उपयोगिता सर्ववाद के रूप में देखी जा सकती है और समन्वय की दृष्टि से यदि महादेवी के किसी एक दार्शनिक आयाम का उल्लेख करना हो तो हम कह सकते हैं कि वह 'सर्ववादी' हैं। उनमें प्रवृत्ति-निवृत्ति, आसक्ति-अनासक्ति, भौतिकता-आत्मिकता तथा बुद्धि और श्रद्धा का सामरस्य है और इसीलिए उनके काव्य का लक्ष्य मानव जाति की मूलभूत एकता और समानता का प्रतिपादन करना है। भारतीय दार्शनिकों का भी यही लक्ष्य रहा है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म और सृष्टि दोनों सत्य हैं, अतः जीवन इन्हीं दोनों की सत्ता की खोज है, व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व में यही खोज छिपी है। महादेवी ने इसी संवेदन-तथ्याश्रित एकता का प्रतिपादन अपने काव्य में किया है, उन्होंने आध्यात्मिक स्तर पर आत्मा और परमात्मा के द्वन्द्व के परिहार की चेष्टा की है और इस क्रम में भारतीय दर्शनों के

मन्तव्यों की छाया उनकी कविता में दिखायी पड़ने लगती है।

ब्रह्म और उसकी समग्र अभिव्यक्ति सृष्टि के प्रति उनके मन में एक आस्था है और तभी वह घोषणा करती हैं कि—

"मैं कण-कण में ढाल रही अलि,
आँसू के मिस प्यार किसी का"

दार्शनिक और कवि इस एकतामूलक आस्था को उजागर करने की चेष्टा करते हैं, महादेवी इसी विचार के प्रकाशन के कारण दार्शनिक कवयित्री हैं, मात्र कवयित्री नहीं। भारतीय दर्शनों के आलोक में महादेवी के काव्य का समग्र अध्ययन इस प्रबन्ध की मौलिक विशेषता है।

बच्चन के काव्य में जीवन-दर्शन और कला

शोधकर्ता—प्रतिभा शर्मा
निर्देशक—डॉ० विष्णुदत्त राकेश
वर्ष—1985

संक्षेपिका

बच्चनजी की रचनाओं का शोध सापेक्ष और शोध निरपेक्ष अध्ययन करने के बाद मुझे लगा कि बच्चन के काव्य का विकास उनके जीवन के समानान्तर हुआ है। इस दृष्टि से उनके जीवन में निक्षिप्त उनके व्यक्तित्व के सूत्रों को पकड़कर उनकी रचनाओं का उनके जीवन के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाना चाहिए। वैचारिक दृष्टि से भी उनके काव्यों में भारतीय और अभारतीय विचारों का समन्वय हुआ है। उनकी काव्य चेतना में भी दोनों काव्य प्रवृत्तियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः बच्चन के काव्य में जीवन-दर्शन और कला की खोज को मैंने शोध का विषय बनाया। बच्चनजी की आत्मकथा के अंशों के प्रकाशन के बाद मेरी उक्त धारणा और भी दृढ़ हो गई।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभाजित है। विषय प्रवेश में बच्चन विषयक हिन्दी के आलोचना साहित्य का सर्वेक्षण करते हुए विभिन्न आलोचकों के मन्तव्यों का उल्लेख किया गया है तथा प्रस्तावित शोध प्रबन्ध की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय में छायावादोत्तर हिन्दी काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए बच्चन की काव्य-चेतना का विवेचन किया गया है और उनके उस प्रस्थान को भी स्पष्ट किया गया है जो उन्हें उनके समानधर्मा कवियों से पृथक् करता है।

द्वितीय अध्याय में व्यक्तित्व की धारणाओं को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि कविता में व्यक्तित्व का निक्षेप उसे प्रभावी बनाता है। उनकी आत्मकथा के

प्रकाशित चार खण्डों के आधार पर उनके काव्य के क्रमिक विकास को स्पष्ट किया गया है तथा उन घटनाओं का उल्लेख किया है जिनकी प्रेरणा से कविता विशेष का निर्माण हुआ।

तृतीय अध्याय में बच्चन के काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है। युगबोध की स्वीकृति और उसका काव्य में प्रतिफलन बच्चन का लक्ष्य रहा है। सन् 32 में प्रकाशित 'तेरा हार' से लेकर 65 में प्रकाशित 'दो चट्टानें' रचनाओं तक का प्रवृत्तिमूलक अध्ययन, प्रेरणा, प्रयोजन और परिवेश की दृष्टि से किया गया है। यह भी बताया गया है कि उन पर कितना भारतीय और भारतीयेतर प्रभाव है। इस आक्षेप का भी उत्तर दिया गया है कि वे व्यक्तिवादी कवि हैं और राष्ट्रीय आन्दोलन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

चतुर्थ और पंचम अध्याय में क्रमश: बच्चन के काव्य की कलात्मक पृष्ठभूमि और काव्य भाषा का अध्ययन करते हुए बताया गया है कि हिन्दी कविता को छायावादी जटिल रचना विधान से निकालकर किस तरह उन्होंने सामान्य जनजीवन के साथ जोड़ा, उनकी शिल्प प्रक्रिया पर विचार करते हुए सुखात्मवादी और दुखात्मवादी संवेदनाओं के सन्दर्भ में उनकी काव्य-चेतनाओं का विश्लेषण किया गया है। रस, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार आदि का भी विवेचन किया गया है। बच्चन हिन्दी के एक श्रेष्ठ गीतकार के रूप में हमारे सामने आते हैं।

षष्ठ अध्याय में बच्चन की गीत-योजना पर विचार करते हुए उनके छन्द प्रयोगों का अध्ययन किया गया है तथा शास्त्रीय और लोक परम्परागत विविध छंदों के प्रयोग में उनकी दक्षता पर प्रकाश डाला गया है, मुक्त छन्द और मात्रा बद्ध छन्दों में लय योजना का समावेश कर उन्होंने गीत के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग किये हैं।

सप्तम अध्याय में उपसंहार के रूप में बच्चन की उन विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है जिससे उन्हें साहित्यिक युग का निर्माता कहा जा सकता है।

हिन्दी की स्वच्छन्द काव्यधारा में बच्चन एक ऐसे उन्मेष के साथ आये जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से जनजीवन के अधिक निकट था तथा छायावादी काव्य से जिसका प्रस्थान अलग दिखाई पड़ता था। जीवन के प्रेम और साहस जैसे दो अपराजेय तत्त्वों को लेकर उन्होंने काव्य की भूमि तैयार की तथा संघर्ष की राह से गुजरते हुए, समस्याओं और विपरीत परिस्थितियों से घिरकर भी वह अमृत, मधु और गरल के पान के लिए तत्पर रहे। मधुशाला, आकुल अन्तर तथा सतरंगिनी में मधु, गरल और अमृत के प्रतीकों से उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। 'जो भोगा सो गाया' के अनुसार उनका जीवन उनकी रचनाओं में घुला-मिला है। उनकी आत्मकथा के माध्यम से हमने उनकी रचनाओं की प्रेरक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि उनकी काव्य-

चेतना उनके जीवन के परिवर्तनों और पड़ावों में प्रतिबिम्बित है। जीवन के प्र
निराशा, कुण्ठा, विरक्ति आदि त्रासद और पलायनवादी भावों की जो छा
बच्चन के काव्य में—आरम्भिक काव्य में मिलती है, वह कल्पित नहीं, स्वाभावि
है। भोगवाद, भाग्यवाद की प्रवृत्ति का आगमन आलोचक योरप से मानते रहे हैं
फारस से मानते रहे हैं पर दो महायुद्धों से गुजरते हुए पराधीन भारत के अवसाद
और निराशापूर्ण जीवन में निराशावाद अन्दर से उपजा। मधु-विहार की कामना
इसी अभाव की उपज थी। परिस्थितियों के सामने सिर झुकाकर कन्धे डाल देना
बच्चन के काव्य में है पर उनके जीवन में नहीं। निशा निमन्त्रण में अवसाद चरम
सीमा पर है पर भोर के आगमन के साथ उस रचना की समाप्ति से कवि यह
सूचित करते हैं कि वह आशावान है तथा जीवन को समग्रता में देखना चाहते हैं।
दीपक के प्रतीक से उन्होंने अपनी जीवनास्था को बार-बार व्यक्त किया है।

पारिवारिक दृष्टि से मृत्यु-त्रास उन्होंने निकट से देखा। अतः एकाकीपन की
अनुभूति का उनसे अधिक सटीक चित्रण इस धारा के किसी अन्य कवि ने नहीं
किया। अरमणीय भावों की व्यंजना में बच्चन सिद्धहस्त हैं। उनकी शोक गीतियाँ
उनकी काव्यात्मक आत्मकथा हैं, छोटे-से-छोटे जीवन के भोगे हुए क्षण को उन्होंने
शोकगीतियों में व्यक्त किया है। भावों की तीव्रता, उनकी एकता और उनकी
गेयता की समन्वित कसौटी पर बच्चन के गीत खरे उतरते हैं।

एक बात यह भी लक्षित करने योग्य है कि बच्चन से पूर्व भारतेन्दु, बालकृष्ण
शर्मा नवीन तथा भगवतीचरण वर्मा ने मदिरा, प्याला के प्रतीकों का उपयोग
कविता में किया था पर जीवन के प्रति विद्रोह की व्यंजना इन प्रतीकों के माध्यम
से पहले बच्चन ने ही की। संसार की अपूर्णता का बोध करवाकर काव्य और कला
से उसकी पूर्णता का प्रयत्न कवि का लक्ष्य है, कलाकार का प्रयोजन है, यह धारणा
बच्चन की है और इसीलिए संचित वेदना और अन्धकार से लड़ते हुए कवि टूटकर
नष्ट नहीं होता, वह प्रकाश की ओर मुड़-मुड़कर जीवन के जीतने की घोषणा करता
रहता है। वह जलने को वरदान मानता है तथा ठण्डक की कसौटी भी स्वीकार
करता है। बच्चन के काव्य का यह सही दर्शन है, उसके कर्म-योग को अनदेखा
कर उस पर निराशा और पलायन का आरोप लगाना तर्कसंगत नहीं। वह तो
साहित्य का लक्ष्य मनुष्य को मानते हैं। अपनी अपूर्णताओं और पूर्णताओं से घिरे
हुए मनुष्य को उसकी सच्चाई के साथ कवि ने कविता का विषय बनाया है। अतः
कवि का जीवन-दर्शन मानवतावादी कहा जा सकता है। बच्चन कहते भी हैं—

'मैंने जीवन देखा जीवन का गान किया।'

इस अध्ययन में हमने बच्चन पर लगाये गये उस आरोप को भी निराधार
बताया है कि वह व्यक्तिवादी कवि हैं। सामाजिक चेतना से उनका कोई सरोकार
नहीं है। हिंदू-मुस्लिम संघर्ष, छुआछूत, नारी-मुक्ति, सत्याग्रह, सांस्कृतिक विघटन,
समाजवाद, मानव मूल्यों की स्थापना, पाश्चात्य संस्कृति का खोखलापन, स्तर
वैषम्य, नास्तिकता, पलायन, सांस्कृतिक समन्वय तथा सर्वोदय के स्वर भी बच्चन
की कविता में मिलते हैं। क्या भूलूँ क्या याद करूँ, कटती प्रतिमाओं की आवाज,

बुद्ध और नाचघर, धार के इधर-उधर, त्रिभंगिमा, दो चट्टानें तथा आरती और अंगारे के उद्धरण देकर हमने बच्चन की सामाजिक चेतना का उद्घाटन किया है। कांग्रेस आन्दोलन तथा गाँधी के साथ उनका कवि कितना चल सका है? इसका विवरण भी दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि बच्चन ने भारतीय इतिहास को विस्मृत नहीं किया। वह बराबर भारतीय समाज, संस्कृति और राष्ट्रोत्थान के आन्दोलनों के साथ प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से कविताओं के माध्यम से जुड़े रहे।

बच्चन की रचना-प्रक्रिया के सूत्रों को पकड़कर उनके नये-पुराने झरोखे तथा टूटी छूटी कड़ियाँ जैसी रचनाओं के माध्यम से प्राप्त वार्ताओं और साक्षात्कार सम्बन्धी टिप्पणियों के जरिये बच्चन के काव्य-सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है तथा उसी कसौटी पर उनकी रचनाओं का मूल्यांकन किया है। क्षिप्रगामी और दूरगामी स्मृतियों, गीत की शैलियों, भाव की तीव्रताओं तथा आध्यात्मिक-दार्शनिक विचारों के आधार पर उनकी परिपूर्ण कृतियों का विवेचन सही हो सकता है—इस सोच के आधार पर बच्चन के काव्य की समीक्षा ने सिद्ध कर दिया है कि बच्चन के काव्य भाव तथा विचार दोनों ही दृष्टियों से प्रौढ़ हैं। बच्चन की भाषा, शैली, बिम्ब योजना, प्रतीक योजना, रस योजना तथा मनोभाव योजना का विवेचन कर हमने यह पाया है कि बच्चन उत्कृष्ट कोटि के कवि और गीतकार हैं। भावघनता और संगीतात्मकता की उन्हें सही परख है। संगीत के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से वह भाव की सूक्ष्मता और तीव्रता को व्यक्त करते हैं तथा सिद्ध करते हैं कि छायावादोत्तर प्रगीतकारों में राग-रसिकता तथा शब्द योजना, वर्ण मैत्री एवं पदावली का गठन बच्चन में अधिक कलात्मक और प्रभावक रूप में उपलब्ध है।

सृजन से वह कभी सन्तुष्ट नहीं हुए। यही बोध उनसे निरन्तर लिखवाता रहा। उनका कथन है—

> आह, रोना और पछताना इसी का
>
> एक भी विश्वास को, पूरी तरह मैं जी न पाया
>
> जिया जिसको जान भी उसको न पाया।

बच्चन के काव्य का बड़ा प्रदेय यह है कि मानव मन के आस्था-अनास्था के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्तर उनकी कविता में व्यक्त हुए हैं। कल्पना से यथार्थ तक, विश्वास से अविश्वास तक, भाव से अभाव तक, सम से विषम तक जीवन का हर पहलू बच्चन के काव्य में है। बच्चन की लोकप्रियता का यही रहस्य है। इसीलिए बच्चन ने आत्मकथा के चार खण्ड 'नीड़ का निर्माण फिर, क्या भूलूँ क्या याद करूँ, बसेरे से दूर तथा दश द्वार से सोपान तक' लिखकर जब बताया कि उनकी कविता और उनकी जीवन-यात्रा में पूर्ण समानता है तो आलोचकों के अनुमान धराशायी हो गये। हमने बच्चन की कविता का मूल्यांकन उनकी आत्मकथा के सन्दर्भों में कर बच्चन की कविता के साथ न्याय किया है। बच्चन की आत्मकथा भी उनकी कविता के समान लोकप्रिय हुई। इसका कारण यह कि बच्चन ने अपनी पहचान आत्मकथा में बतायी और पाठकों ने इस पहचान से एक बार फिर उनकी कविता को पहचाना। उनकी कविता के तीन स्वर हैं—

1. जिजीविषा और निर्माण मानव-स्वभाव के अनिवार्य अंग हैं। 2. काल के प्रवाह में दृष्टि बदलती है और दृश्य भी। 3. हर प्राप्ति में निराशा है और कामना में उल्लास। शैली और काव्य-योजना के बदलाव का अध्ययन इन्हीं तीन दिशाओं में होना चाहिए। विचार का जैसा प्रचार कला या कविता के माध्यम से स्थायी रूप में हो सकता है, वैसा अन्य साधनों से नहीं।

'चार खेमे और चौंसठ खूँटों' की भूमिका में बच्चन ने प्रकारान्तर से लिखा है कि उनके कवि का जीवन सफर विविध आयामी है, अत: उनके काव्य में जीवन के विविध रूप और अनुभव मिलते हैं। लोकधुनों पर आधारित गीत भाव और शिल्प की दृष्टि से सर्वसाधारण के मन में अधिक गहराई के साथ उतर सकता है, इसलिए बच्चन ने लोकधुनों पर आधारित साहित्यिक गीतों की रचना की। प्रयोगवादी काव्यान्दोलन के उत्तर में कविता के तकनीक को जनजीवन के साथ सहज रूप से उतार देने का यह मौलिक प्रयास था। साहित्य के लिए यह नयी देन है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार तथा मध्य प्रदेश के लोक गीतों की प्रचलित धुनों पर साहित्यिक शैली के गीत उनसे पूर्व इतने प्रौढ़ और प्रचुर रूप में नहीं लिखे गये। बच्चन का परवर्ती काव्य लोकधुनों की रक्षा, मुक्त लयबद्ध लघु रचना तथा लय लालित्य की दृष्टि से बेजोड़ है।

बच्चन ने अपने काव्य में छोटे-बड़े छन्दों के इतने विविध प्रयोग किये हैं कि अब तक अध्ययनों में उन पर कोई विचार नहीं किया गया। पहली बार इस प्रबन्ध में विस्तार के साथ बच्चन की छन्द-योजना पर प्रकाश डाला गया है। भविष्य में केवल इसी विषय पर शोध कार्य सम्पन्न हो सकता है। बच्चन ने शुद्ध और मिश्रित छन्दों के प्रयोग किये हैं। विषय, भाव और रूप की दृष्टि से यदि उनका विवेचन किया जाय तो पता चलेगा कि बच्चन की छन्द-योजना की मौलिकता क्या है?

बच्चन का सर्जक गीतकार जहाँ प्रथम सोपान में इतिवृत्तात्मक प्रणयगीत लिखता है, अवसाद, मधु और बाह्य परिवेशमूलक रचनाएँ निर्मित करता है, वहाँ द्वितीय सोपान पर समकालीन जीवन और राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा दार्शनिक सन्दर्भों को लक्ष्य करके तत्कालीन इतिहास की प्रक्रियाओं को भी स्वर देता है। बच्चन लगभग 50 वर्ष तक हिंदी में अनवरत लिखते रहे हैं। विभिन्न काव्यान्दोलनों के बीच इनकी कविता फूटती रही है।

निष्कर्ष यह कि अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से बच्चन के काव्य का स्थायी महत्त्व है और तात्विक तथा गवेषणात्मक विश्लेषण से यह सिद्ध हो गया है कि वह स्वच्छन्दतावाद के व्यक्ति प्रधान गीतकार ही नहीं हैं, उनकी सामाजिक चेतना बड़ी प्रखर है तथा राष्ट्रीय काव्यधारा और गाँधीवादी काव्यधारा में भी उनकी रचनाओं को सगर्व रखा जा सकता है। भाषा की अकृत्रिमता तथा भाव की सघनता उनकी अन्य विशेषता है। बच्चन के काव्य की यह महत्तर उपलब्धि है।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग के शोध कार्य

शोध छात्र / छात्रा	विषय, निर्देशक, वर्ष
1. किशनसिंह सैनी	शूरसेन जनपद का इतिहास; निर्देशक : डॉ० रूपचन्द जैन
2. प्यारेलाल	छठी शताब्दी ई० पूर्व से प्रथम शताब्दी ई० तक भारत में राज्य शासन द्वारा शान्ति और राज्य की आन्तरिक सुरक्षा के उपाय, डॉ० रूपचन्द जैन
3. विजयेन्द्र कुमार शर्मा	प्राचीन भारत में जनमत, डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय, 1976
4. श्यामनारायण सिंह	अहिच्छत्रा का इतिहास, डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा, 1977
5. विशालमणी बहुगुणा	प्राचीन भारत में सामन्तवाद, डॉ० विनोद-चन्द्र सिन्हा, 1977
6. राजपालसिंह	प्राचीन भारत में फौजदारी कानून का विकास, डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा, 1978
7. मांगेराम आर्य	हरयाणा के प्राचीन गणराज्य, विनोदचन्द्र सिन्हा, 1978
8. जबरसिंह सैंगर	भारत और कम्बुज के सम्बन्ध, विनोदचन्द्र सिन्हा, (300 ई० से 1200 ई० तक), 1982
9. ललित पाण्डेय	मौर्यकाल में नौकरशाही, विनोदचन्द्र सिन्हा, 1982

10. महराजकृष्ण नारद	ए हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल स्टडी आफ प्रतिहार इन्सक्रिप्शन्स, विनोदचन्द्र सिन्हा, 1983
11. उषा भसीन	उत्तर भारत की शासन संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन, (चौथी शती ई० पू० से पाँचवीं शती ई० तक), विनोदचन्द्र सिन्हा, 1983
12. राकेश कुमार	प्राचीन भारत में सम्प्रभुता का विकास, डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा, 1984
13. साधना सिपाहा	मौर्यकालीन राजनीतिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ऋषि दयानन्द के राजदर्शन का अध्ययन, डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा, 1984
14. आई. गुस्टी पुतू फलगुनादि	दी इवोलूशन आफ इण्डियन कल्चर इन बाली, डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा, 1984
15. अंजली मेहरोत्रा	प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन, डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा, 1985
16. अरुणा मिश्रा	प्राचीन भारतीय नारी शिक्षा एवं महर्षि दयानन्द का योगदान, डॉ० जबरसिंह सैंगर, 1985
17. केवल कृष्ण तुली	पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक संस्थाएँ, डॉ० काश्मीर सिंह भिंडर, 1986

शूरसेन जनपद का इतिहास

शोधकर्ता—किशनसिंह सैनी
निर्देशक—डॉ० रूपचन्द जैन

सारांश

यह 'शूरसेन जनपद का इतिहास'—शोध प्रबन्ध के रूप में प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। अभी तक इस सम्बन्ध में इस रूप में कोई भी उल्लेखनीय मौलिक अध्ययन और अनुसन्धान कार्य नहीं हुआ है। श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी ने 'ब्रज का इतिहास' दो खण्डों में (1955-1958 ई०) में प्रकाशित कर श्रमसाध्य कार्य अवश्य किया है, परन्तु उनकी शूरसेन जनपद सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में समाहित सामग्री द्वारा उजागर हुए तथ्यों के प्रकाश में अमान्य ठहरती हैं। विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने श्री वाजपेयीजी के उक्त ग्रन्थ की भूमिका लिखने के नौ वर्ष उपरान्त भी 23 फरवरी, 1964 ई० को अपनी कृति 'मथुरा कला' की भूमिका में इस कटु सत्य को व्यक्त किया है कि 'मथुरा' के साथ आज तक पूरा न्याय नहीं हो सका है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध से उनकी दिवंगत आत्मा को कुछ सन्तोष अवश्य होगा, ऐसा विश्वास है। इसमें अनेक ऐसे नवीन तथ्यों और विषयों का मौलिक रूपेण, तर्कसंगत और आलोचनात्मक ढंग से समावेश किया गया है, जो अभी तक अज्ञात-प्राय थे और प्रकाश में नहीं आये थे।

उदीच्य और प्राच्य जनपदों की लम्बी श्रृंखला के मध्य शूरसेन जनपद की भौगोलिक स्थिति वृत्त में केन्द्र के समान रही है, जिसमें स्वतन्त्र लोक-जीवन, प्राकृत लोकभाषा, स्थूल रूपेण लोकधर्म, लोक संस्कृति, सर्वसमता एवं सार्वभौम बन्धुत्व की समन्वय प्रधान भावना पूरे राष्ट्र को एक गण-शंख मुख्य के नेतृत्व में गूँथकर रखती हुई मिलती है। शिक्षा, पशु-पालन, कृषि, शिल्पों, वाणिज्य—उद्योगों की प्रयोगशाला के रूप में भी इस जनपद का अद्वितीय योगदान रहा है। सचमुच भारतीय इतिहासकारों एवं शोधार्थियों के लिए यह अत्यन्त अश्रेयस्कर स्थिति है कि जहाँ एक ओर यूनानी पौर राज्यों का व्यापक अध्ययन हुआ है और उनकी

उपलब्धियों के योगदान को इतिहास में बड़ा महत्त्व दिया गया है, वहाँ दूसरी ओर भारत में, जहाँ जनपदों का विस्तार अधिक व्यापक क्षेत्र में हुआ था, उनके बहुमुखी योगदान का कोई सन्तुलन एवं अन्वेषणात्मक अध्ययन और ऐतिहासिक मूल्यांकन नहीं हुआ है। यह शोध-प्रबन्ध इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति में कुछ सहायक सिद्ध हो सकेगा, ऐसी आशा है।

एक वाक्य में, प्राचीन काल से लेकर, पतंजलि के महाभाष्य तक की साहित्यिक सामग्री में, अब तक उपलब्ध पुरातत्त्वीय अवशेषों में, राष्ट्रीय एवं बाह्य मनीषियों की ऐतिहासिक कृतियों में शूरसेन जनपद की भूमि के लोगों से व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा प्राप्त जानकारी में निहित ऐतिहासिक तथ्यों के यथाशक्ति, यथायोग्यता अध्ययन और मन्थन के आधार पर दिक्काल क्रम से इस ब्रह्मर्षि देश—शूरसेन जनपद के राजन्य वंश (सोमवंश और उसके उपवंश—शूरसेन वंश) के अपरिमित विस्तार का, भूतल के इस प्रथम और आदि जनपद की भौगोलिक स्थिति एवं संपदा का, इसके राजन्यों और लोगों के आदर्श सदाचारों का, उनकी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन पद्धति की सामूहिक एवं समन्वय-प्रधान विशेषताओं का इस मध्यदेशीय जनपद की कल्याणकारी रज में परिवर्द्धित हुए सर्व धर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों का, इसकी आदर्श, राष्ट्रीय, राज्यीय भाषा, शौरसेनी प्राकृत का, इसकी कला के वैशिष्ट्य की बहुमुखी सृजनात्मक प्रवृत्तियों का, इसकी नगर, ग्राम, समन्वित संस्कृति की समृद्धियों का, उनके बाह्य वंशीय सर्वराज्यीय सम्बन्धों का, उसकी प्रभुसत्ता के ह्रास के कारणों का सुबोध रूप में अन्वेषणात्मक अध्ययन, विश्लेषण और ऐतिहासिक मूल्यांकन करना इस प्रबन्ध का प्रधान लक्ष्य है। शूरसेन जनपद के राजन्यों, मेधावी जनों एवं सुगढ़ शिल्पियों की चिरकाल संचित ये उपलब्धियाँ मानव मात्र की महती धरोहर हैं, जिनके अन्तराल में अनेकानेक नैतिक और मानवीय मूल्यों और अभ्युदयकारी मणि-मुक्ताओं की प्राप्ति हुई है। इन सबको और इनसे सम्बन्धित नवीन तथ्यों को सरल रूप में प्रस्तुत करना भी अभिप्रेत है, जिससे उन्हें सामान्य बुद्धि से समझा जा सके और उनके सम्बन्ध में प्रचलित विवादों एवं भ्रमों के सहज, तर्कसंगत और इतिहाससम्मत समाधान होने में आवश्यक सहायता मिल सके।

छठी शताब्दी ई० पूर्व से प्रथम शताब्दी ई० तक भारत में राज्य शासन द्वारा शान्ति और राज्य की आंतरिक सुरक्षा के उपाय

शोधकर्ता—प्यारेलाल
निर्देशक—डॉ० रूपचन्द जैन

सारांश

यह संसार प्राकृति सुषमा से परे व्यवस्था और विचारों का संसार है। मानवीय जीवन बिना विचार और व्यवस्था के पाषाण से भी बदतर होता है। इसी दृष्टि से संसार को विचारकों की देन माना जाता है। व्यवस्था और विचार आदि को विकसित होने का अवसर तब ही मिल सकता था जबकि जन-जीवन सुरक्षित और शान्त होता था। समाज में उन विघटनकारी तत्त्वों का अभाव नहीं, जो मात्स्य-न्याय का समर्थन कर व्यवस्था में गतिरोध पैदा करते थे। अतएव उद्दण्ड, दुराचारी एवं अराजक तत्त्वों का शमन कर लोक समाज को व्यवस्थित व आरक्षित करने हेतु 600 ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० तक शान्ति और सुरक्षा को आवश्यक समझा गया था। प्रशासन की सम्पूर्ण शृंखला का गठन, पदाधिकारियों की नियुक्ति, अन्य व्यवस्थाओं की स्थापना आदि के पीछे शान्ति और सुरक्षा का रहस्य छिपा था। जीवन की व्यक्तिगत इकाई से लेकर विशाल से विशाल संगठन के लिए रक्षात्मक दृष्टिकोण को प्राथमिकता प्रदान की जाती थी। हिन्दू साहित्य में देव जगत् के शासन के आदर्श स्वरूप (ब्रह्मा विश्व के निर्माता, विष्णु पालन-पोषणकर्त्ता तथा शिव संहारक हैं) को लेकर आलोच्यकालीन विधि निर्माताओं ने प्राचीन भारत को शान्ति और सुरक्षा के दृष्टिकोण से सँवारा था। अनारक्षण की समाप्ति हेतु शासन तन्त्र रूपी रथ के पहियों के नीचे शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा की लीक बनायी जाती थी।

शान्ति और सुरक्षा को आधार मानकर वैदिककालीन ऋषियों द्वारा ऋचाओं के माध्यम से अनेक देवताओं की प्रार्थना की गयी है। यह भावना आदिकाल से ही उद्भूत हुई होगी। परन्तु 600 ई० पू० से लेकर 300 ई० पू० तक का युग

अव्यवस्था, अराजकता, विप्लव तथा परिवर्तन का युग रहा था। शान्ति और सुरक्षा की वास्तविक महत्ता का बोध इसी युग में हुआ। 300 ई० पू० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक के काल में शान्ति व आन्तरिक सुरक्षा की व्यवस्था को आलोच्यकालीन नृपों ने स्थापित किया था।

विषय का आधार आलोच्यकालीन मूल ग्रन्थ सूत्र, 'रामायण', 'महाभारत', भाष्य, स्मृति, कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' तथा शिलालेख व स्तम्भलेख आदि हैं। 600 ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० तक की वास्तविक दशा इन ग्रन्थों के अन्तराल में निहित है। शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा की स्थापना कहाँ तक मौलिक रूप में साकार हो सकी? इसका वास्तविक मापदण्ड और निर्णायक उक्त मूल साहित्य ही है। इसके अतिरिक्त आलोच्यकाल से पूर्व के वैदिक ग्रन्थ, उपनिषद् इत्यादि का अवलम्ब इस दृष्टिकोण के साथ किया गया है कि वैदिक काव्य का प्रभाव आलोच्य काल पर अवश्यभावी रूप में पड़ा था। प्रथम शताब्दी ई० के बाद के ग्रंथ सूत्र, स्मृति, पुराण आदि को उस आधार पर टटोलकर विषय से सम्बन्धित सामग्री को एकत्र करने का प्रयास किया है कि आलोच्यकाल का प्रभाव उत्तरकाल पर अनिवार्यतः पड़ा था।

राज्यों में शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा की भावना कहाँ तक विकासोन्मुख हो सकी थी? यह राजा हितार्थ होती थी या जन-कल्याण के निमित्त? तत्कालीन युग में शान्ति व सुरक्षा की स्थापना के निमित्त किन साधनों और उपायों का क्यों और कहाँ तक अवलम्ब लिया जाता था? आलोच्यकालीन नृप इस व्यवस्था में कहाँ तक सफल हो सके? नृपगण शान्ति और सुरक्षा के निमित्त सतर्क रहते थे या उदासीन? वर्तमान युग के समान बेरोजगारी, अनुशासनहीनता, कर्त्तव्य-च्युति, महँगाई तथा अनैतिकता थी या नहीं? शासन तन्त्र की विभिन्न इकाइयों ने शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा की स्थापना में कहाँ तक योग प्रदान किया था? शासन-तन्त्र की आवश्यकता क्यों हुई थी? राज्यों का विस्तृत और लघु रूप क्यों रहा? तत्कालीन विधि साहित्य में किस भावना ने योग दिया था? अपराध और उद्दण्डता का उच्छेद कर शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा की स्थापना में न्यायालय कहाँ तक सफल हो सके थे? यह सब शोध का लक्ष्य है।

इतिहास जगत के साहित्य में नृप, मंत्री, प्रशासन संगठन पर पर्याप्त रूप में सामग्री मिलती है। परन्तु राज्यों में शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा के उपायों को लेकर लिखी गयी सामग्री का नितान्त अभाव है। दूसरे वे लोग जो प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति से अनभिज्ञ हैं, यह व्यंग्य करते सुने जाते हैं कि नृपगण राज्य का संगठन स्व-रक्षार्थ करते थे। राज्य की सम्पूर्ण सामग्री उनकी सुख-सुविधा के निमित्त होती थी। अपनी इच्छापूर्ति हेतु वे शमन और दमन सबकुछ करते थे। उनकी राज्यलिप्सा ने ऐसे आतंकवादी युग का निर्माण कर दिया था जिसे देखकर

मानवता सिहर उठती थी। यह कथन वास्तविकता से परे है। आलोच्यकालीन नृपों में प्रजा-रक्षा, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना हेतु अपनी इच्छाओं का परित्याग कर दिया था। उनकी सम्पूर्ण गतिविधियाँ प्रजा-रक्षार्थ होती थीं। नृपों की राष्ट्र मंगलकारी उदात्त भावना ने मुझे इस विषय पर शोध की प्रेरणा दी है।

गवेषणात्मक कार्य में अनेक कठिनाइयों का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि आलोच्यकालीन शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा को मानकर विवेचन भी नहीं हुआ है। आलोच्यकालीन मूल ग्रन्थों के आधार पर ही विषय की सामग्री एकत्र कर प्रस्तुत कर सका हूँ। खण्डन-गण्डन का सतर्कता से ध्यान रखते हुए प्रस्तुत विषय पर भरसक सामग्री देने का प्रयास किया है। इस पर भी यदि मेरे द्वारा गुरु या लघु भूल हो गयी हो तो उसके लिए मैं क्षमापात हूँ।

सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 600 ई० पू० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक की राजनैतिक दशा का उल्लेख है। शान्ति और सुरक्षा की उपादेयता का आधार यही राजनैतिक दशा रही थी। शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकता को द्वितीय अध्याय में स्पष्ट किया गया है। तृतीय अध्याय को 'क' और 'ख' दो भागों में विभक्त करके क्रमशः शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा की स्थापना हेतु शासनतन्त्री इकाइयों को तथा उन उपायों को दर्शाया गया है, जिनके माध्यम से राज्य में शान्ति व आन्तरिक सुरक्षा स्थिर हो सकी थी। चतुर्थ अध्याय में न्याय-व्यवस्था को स्पष्ट किया गया है। शोध-प्रबन्ध के अन्तिम—पंचम अध्याय में तत्कालीन अपराधों के शमनार्थ व्यवस्था पर संकेत किया गया है।

विषय का अध्ययन करते हुए अनुभव किया गया कि प्राचीन इतिहास के कलेवर में ऐसे अनेक विषय सुप्त अवस्था में पड़े हैं, जिन्हें अब तक स्पर्श भी नहीं किया गया है, जैसे—(1) प्राचीन भारत की गुप्तचर व्यवस्था, (2) अपराध और उनका परिमार्जन, (3) प्राचीन भारतीय दण्ड विधि, (4) प्राचीन भारतीय प्रशासन में मंत्रिमंडल तथा (5) प्राचीन भारत की विदेश नीति, उक्त विषयों को प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध में यथास्थान निर्देशित किया गया है, परन्तु विस्तारभय के कारण उनका विशद विवेचन नहीं किया गया है तथा शोध-प्रबन्ध को विश्वकोश भी नहीं बनाना था, क्योंकि प्राचीन भारतीय इतिहास उस रत्नाकर के समान है, जिसमें प्रत्येक गोते पर अमूल्य रत्न, माणिक्य आदि ही मिलते हैं, शंख और घोंघे नहीं।

शोध-प्रबन्ध को लिपिबद्ध कर प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सतर्कता बरती गयी है। नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से यह मेरा प्रथम गवेषणात्मक प्रयास है। परीक्षा में पड़कर स्वर्ण भी पिघल जाता है, फिर मेरी तो स्थिति ही क्या है।

प्राचीन भारत में जनमत

शोधकर्ता—विजयेन्द्र कुमार शर्मा
निर्देशक—डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय
वर्ष—1976

सारांश

प्रस्तुत शोध निबन्ध में शासन को संचालित करनेवाली अदृश्य अभूतपूर्व शक्ति को 'जनमत' का विवेचन करने का प्रयास किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि इस शक्ति के आधार के अभाव में प्रत्येक शासन मात्र अस्थिरता को उत्पन्न करता है। यदि प्रशासन जनमत के आधार पर संचालित किया जाता है तो वह लोककल्याण का माध्यम बनता है। अन्यथा स्थिति में अर्थात् जनमत का अनादर करने पर शक्तिशाली से शक्तिशाली शासक भी अपने शासन को अधिक समय तक स्थिर रखने में सफल नहीं हो पाते।

हमारा यह स्वल्प प्रयास रहा है कि वर्तमान काल में लोकप्रिय तथा सर्वाधिक प्रचलित इस शब्द के समानान्तर स्थिति को प्राचीन भारत में भी देखने का प्रयास करें। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी राजनीतिविज्ञान विशारदों द्वारा प्रतिपादित इस संज्ञा के समानार्थक शब्द ढूंढ़ना या इसके कार्यक्षेत्र को प्राचीन भारत के अन्तर्गत ढूंढ़ना मात्र हठधर्मिता ही है। परन्तु यहाँ पर मैं अत्यन्त ही विनम्र शब्दों में कहना चाहूँगा कि ऐसा कदापि नहीं है। कतिपय पाश्चात्य विचारकों का यह मत तो प्रायः अस्वीकार ही हो चुका है कि प्राचीन भारत में मात्र स्वेच्छाचारी निरंकुश राजतंत्र के अन्य कोई शासन व्यवस्था नहीं थी। भारतीय मनीषियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह कथन एकदम आधारहीन व सारहीन है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था व राजनीति व्यक्ति को केन्द्र मानकर चलती रही है। व्यक्ति का सर्वत्र विकास, उसका चतुर्मुखी विस्तार हो इसका ध्येय रहा है। व्यक्ति को आध्यात्मिक व भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में अग्रसर करना प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों तथा नीतिविशारदों का उद्देश्य रहा है।

व्यक्ति की इच्छा को सर्वाधिक महत्व देना राज्य व शासन ने अपना आधारभूत कर्त्तव्य समझा है।

आपके लोकतांत्रिक राज्य के समान ही प्राचीन भारत में लोकमत को अत्यधिक आदर दिया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पहले अध्याय में भूमिका के अन्तर्गत लोक शब्द अथवा जनशब्द की व्याख्या स्पष्ट की गयी तथा इसके समानान्तर प्रचलित अन्य इसी प्रकार के शब्दों जैसे जनता, संघ, समाज से उसके भेद को स्पष्ट किया गया है। साथ ही मत को अन्य समानान्तर संज्ञाओं तथा विश्वास, इच्छा, निश्चय आदि से अलग करके उसकी वैशिष्टता को प्रतिपादित किया गया। तत्पश्चात् जनमत अथवा लोकमत के वास्तविक आशय को बतलाने का प्रयास किया गया, प्रस्तुत अध्याय में पश्चिमी विचारकों तथा भारतीय विचारकों दोनों के विचारों को प्रस्तुत किया जिससे कि वर्तमान व प्राचीन विचारधाराओं को स्पष्ट किया जा सके और साथ ही दोनों में कितना तादात्म्य है इस ओर भी इंगित किया जा सके। लोकमत एक अत्यन्त ही व्यापक शब्द है, और इसके अन्तर्गत समस्त प्राणियों का मत सम्मिलित किया गया है जिसका समादर शासक द्वारा करना है।

द्वितीय अध्याय में इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता को सिद्ध किया गया है। एक आलोचनात्मक विवरण वर्तमान लोकमतों में प्रचलित स्थिति को दर्शाते हुए दिया गया है। यदि लोकमत सिद्धान्त को व्यावहारिक में कतिपय विचारकों को सन्देह हो सकता है परन्तु अन्ततः यह दर्शाया गया है कि इस सिद्धान्त को स्वीकारने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं है क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में अराजकता ही आयेगी। इसी अध्याय में प्राचीन भारत में प्रचलित राजतन्त्रों व जनतन्त्रों के कार्य संचालन में इसके योगदान के भी उदाहरण दिये गये हैं कि चक्रवर्ती सम्राटों के भी वश की बात नहीं थी कि वे जनमत का अनादर कर सकें। यदि वे स्वयं कोई व्यक्ति इच्छा की पूर्ति करना भी चाहते थे तो पहले जनमत को अपने पक्ष में करके ही सफल हो सकते थे। लोकतंत्रों में भी जनमत को सदैव जागरूक रखे जाने के उपाय काम में लाये जाते थे। भारतीयों ने 'लोकेच्छा ही देवेच्छा है' इस सिद्धान्त को प्रशासन के लिए एक प्रकाशस्तम्भ के रूप में स्थापित कर दिया था।

तृतीय अध्याय में उन तत्वों का दिग्दर्शन किया है जो कि जनमत के निर्माण में सर्वाधिक योगदान देते थे। प्राचीन भारत में आज के विज्ञान के आधुनिक उपकरण नहीं थे कि वे रेडियो, टेलीविजन, अखबार, प्रोपैगण्डा आदि के द्वारा जनमत को निर्माण किया जाता था। अपितु मनीषियों ने कुछ शाश्वत तत्वों का चयन किया था, जिनके विपरीत जाना शासक तो क्या जनसाधारण भी नहीं सोच सकता था। धर्म, पुरोहित, शैक्षिक व्यवस्था तथा राजपद के नैतिक-दर्शन इस प्रकार के तत्व थे जिनसे कि जनमत का निर्माण किया जाता था। यद्यपि कौटिल्य

के समान राजशास्त्री कुछ आधुनिक प्रकार के तत्वों का भी उल्लेख करते हैं परन्तु मुख्यतः यही तत्व थे जो कि शासक तथा शासित के बीच एक मधुर सम्बन्ध कायम रखवाते थे, यदि शासक इनके विपरीत जाने का प्रयास करता था तो जनता में विद्रोह का मंत्र फूँकने की शक्ति रखते थे। इनका अतिक्रमण कोई भी शासक करने का साहस नहीं कर सकता था।

चतुर्थ अध्याय में उन संस्थाओं का उल्लेख किया है जिनके माध्यम से शासक जनमत को जान पाता था। वैदिक काल से लेकर राजपूत काल तक इन संस्थाओं का रूप बदलता रहा है परन्तु समाज ने अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए तथा शासकों पर अंकुश लगाये रखने के लिए इन संस्थाओं की रचना समयानुसार की है। वैदिककालीन राज्य छोटे-छोटे थे इसलिए जनप्रतिनिधित्व पर आधारित संस्था, सभा-समिति शासकों पर नियंत्रण रखती थी। राज्य का क्षेत्र विस्तार होने के कारण शासकों को इस प्रकार के बन्धनों में बाँधने का प्रयास जनता द्वारा किया जाता रहा है जिससे कि वह निरंकुश व स्वेच्छाचारी न हो सके तथा जनमत का समुचित आदर करके उसके अनुरूप कार्य करे।

पंचम अध्याय में उन उपायों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है जिनके माध्यम से शासन लोकप्रिय जनमत को जान पाता था। शासक के लिए भी यह आवश्यक माना जाता है कि वह उन उपायों का अवलम्बन करे जिनसे कि जनमत के वास्तविक रूप को जाना जा सके तथा उसी के अनुरूप जनता को संतुष्ट रखना प्रत्येक शासक का प्राथमिक धर्म है। उसकी मनोभावनाओं का वह पता लगाये, तदनुरूप वह प्रशासन को संगठित करे यह उसके लिए आवश्यक है। जो शासक प्रजा के दर्शन नहीं करता उसका पतन अवश्यम्भावी है।

छठे अध्याय में विभिन्न तन्त्रों के स्वरूप को स्पष्ट किया है। यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि चाहे जो भी तन्त्र हो, वह स्वयं को जनमत के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयास करता है। प्राचीन भारत में इस ओर शासक सदैव चिन्तित रहा है कि वह जनता के मनोनुकूल रहे। शासक पर इस प्रकार के उत्तरदायित्वों को निर्वाह करने का भार रहता था कि वह जन-सेवक बनकर ही उनके प्रति न्याय कर पाता था। समयानुसार जनता अपनी आकांक्षाओं, इच्छाओं को मुखरित स्वरूप देने हेतु किसी-न-किसी माध्यम को संरचित करती थी जिनका कार्य शासक को सचेत करना रहता था कि वे जनमत के अनुरूप ही कार्य करें। प्रत्येक तंत्र में विधि की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया गया था।

सप्तम अध्याय में जनमत के प्रभाव को न्यायपालिका पर प्रदर्शित किया गया है। न्यायालयों का गठन इसी प्रकार से किया जाता था कि जनता को कम-से-कम कष्ट उठाना पड़े तथा साथ ही शीघ्र ही न्याय प्राप्त किया जा सके। न्याय वितरण के सिद्धान्त ही विधि निर्माताओं ने इस प्रकार से निर्मित किये थे कि निरंकुश शासक

भी उनके उल्लंघन का साहस नहीं कर पाते थे। जन परम्पराओं में राज्य का हस्तक्षेप निषेध था। इसी प्रकार उन संस्थाओं जिनके अपने आचार व व्यवहार थे, न्यायपालिका (राज्य) न्याय करते समय उन्हीं के अनुरूप न्याय देने का प्रयत्न करती थी।

अष्टम अध्याय में उन आधारभूत संस्थाओं का उल्लेख है जिनके क्रिया-कलाप ही वास्तविक स्त्रोत थे। प्राचीन भारत में विशाल साम्राज्यों के निर्माण के साथ-साथ जनमत इस पक्ष में होता था कि अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण की ओर उन्मुख हुआ जाये। चक्रवर्ती सम्राटों ने भारत की एकता के प्रयास किये फलस्वरूप हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और द्वारिका से लेकर पुरी तक के विशाल क्षेत्र को एक ही शासन के अन्तर्गत लाने के अनथक प्रयास किये गये। विजिगीष, सम्राटों ने इसे प्राप्त भी किया। ये साम्राज्य इतने विशालकाय थे कि कुछ पश्चिमी विद्वान यह मानने के लिए तत्पर प्रतीत नहीं होते कि इनका अस्तित्व भी था। वस्तुतः भारतीय जनमानस ने जहाँ एक ओर इन विशाल साम्राज्यों के प्रति अपनी आस्था को व्यक्त किया वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपनी आदिम स्वतन्त्रता की अदम्य भावना के लिए कायम रखने का प्रयास किया। जनमत सदैव इस स्वतंत्रता के प्रति समर्पित रहा। उसका सजीव व जीवन्त चित्र इन स्वायत्तशासी संस्थाओं के माध्यम से ही हमारे सम्मुख मुखरित हो उठता है। ग्राम वह इकाई रहा है जो कि किसी भी शासन द्वारा अनुवंछनीय माना जाता रहा है। कोई भी व्यवस्था आयी हो, उसकी मर्यादाओं और टीकाओं के राज्य का हस्तक्षेप प्रायः नहीं रहा है क्योंकि शासक इस ओर सदैव सचेत रहा है कि इस स्वायत्तशासी संस्थाओं के स्वरूप को पूर्वरूप से ही चलते रहने देने में ही कल्याण है अन्यथा इनके क्रिया-कलापों में हस्तक्षेप से असंतोष व्याप्त होगा। जनमत विरुद्ध होगा और क्रान्ति होने की सम्भावना प्रबल हो उठेगी।

नवम अध्याय में करप्रणाली के सिद्धान्त व व्यवहार को स्पष्ट किया गया है कि राजा कर लगाने में स्वतन्त्र नहीं था। जनता उसको कर देती थी क्योंकि वह उनकी सेवा करता था। राजा यदि सेवा के कर्त्तव्य को ठीक प्रकार से नहीं निभा सकता तो जिस प्रकार से स्वामी को अपने भृत्य हटा देने का अधिकार है वह अधिकार प्राचीन भारत में जनता के पास था। जनता इसका प्रयोग भी करती थी। राजा को वेतन दिया जाता था। प्राचीन भारत में राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि कम-से-कम कर ले, तथा घाटे की वित्त व्यवस्था को न लागू करे। लोभी सम्राटों को जनता समुचित दण्ड देती थी।

दशम् अध्याय में उन दृष्टान्तों का संक्षेप में उल्लेख किया गया जिनके द्वारा एक आततायी शासक को जनता ठीक राह पर लाने का प्रयास करती थी। प्राचीन भारत में जनमत की इच्छा को मनवाने के लिए विभिन्न एजेंसियाँ थीं जो कि

शासक पर दबाव डालती थीं । यदि शासक इन एजेंसियों के दबाव को नकार देता था तो जनता अन्तिम भस्म अर्थात् प्रतिरोध के मार्ग का अवलम्बन करती थी। उग्र प्रतिरोध में हिंसा के मार्ग को भी न्यायसंगत माना गया है। विभिन्न काल के अनेक उदाहरणों से जनमत की इस शक्ति को दर्शाया गया है कि शासक के समक्ष इस जनइच्छा को मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं था क्योंकि अन्यथा स्थिति में जनता न केवल सत्ताच्युत कर देती थी, उसे तथा उसके परिवार को भी नष्ट कर देती थी।

अन्तिम अध्याय में समीक्षा की गयी है कि सबल जनमत के अभाव में भारतीय स्वतन्त्रता के अन्त होने की स्थिति को चित्रित किया गया है।

अहिच्छत्रा का इतिहास

(प्रारम्भ से 1200 ई०)

शोधकर्ता—डॉ० श्यामनारायणसिंह
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1977

सारांश

प्राचीन भारतीय इतिहास में पंचाल जनपद का अपना एक विशेष महत्त्व है। वैदिक साहित्य में पंचाल नरेशों के शौर्य का जो विवरण उपलब्ध होता है उससे इस जनपद के प्राचीन गौरव की झलक मिलती है। महाभारत काल में यह जनपद दो भागों में विभाजित हो गया। एक भाग उत्तर पंचाल तथा दूसरा दक्षिण पंचाल कहलाया। अहिच्छत्रा उत्तर पंचाल की राजधानी थी।

सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध, उपसंहार को छोड़कर, छः अध्यायों में विभाजित है। इस शोधकार्य में साहित्यिक स्रोतों के साथ-साथ पुरातात्त्विक स्रोतों का भी यथा-स्थान उपयोग किया गया है। प्रथम अध्याय में पंचाल की भौगोलिक स्थिति, अहिच्छत्रा के नाम, स्थिति तथा विस्तार पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय पंचाल जनपद की स्थापना, उसमें सम्मिलित विभिन्न जन तथा नरेशों से सम्बन्धित है। तृतीय अध्याय में महाभारत काल में अहिच्छत्रा की स्थिति, महा-जनपद काल तथा मौर्य काल में अहिच्छत्रा के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में क्रमशः मौर्येत्तरकालीन अहिच्छत्रा तथा मध्यकालीन अहिच्छत्रा की स्थिति की विवेचना की गयी है। षष्ठ अध्याय में अहिच्छत्रा के सांस्कृतिक गौरव यथा धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला की उन्नति पर प्रकाश डाला गया है। सप्तम अध्याय उपसंहार है।

अहिच्छत्रा का उल्लेख महाभारत काल से मिलना प्रारम्भ होता है जब पंचाल जनपद के विभाजन के पश्चात यह उत्तर पंचाल की राजधानी बनी। अहिच्छत्रा का समीकरण वर्तमान बरेली (उ० प्र०) जिले के आँवला तहसील में स्थित रामनगर ग्राम से किया गया है जिसकी पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा पुष्टि हो

चुकी है। इस वैभवशाली नगर के ध्वंशावशेष रामनगर ग्राम के उत्तर-पूर्व में लगभग एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित टीले में दबे पड़े हैं। महाभारत तथा अन्य साहित्यिक ग्रंथों में इस नगर को अहिच्छत्र, क्षत्रवती, अहिच्छत्र तथा ह्वेनसांग व टालेमी द्वारा क्रमशः अहिचितालो और अदिसद्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। शेरगढ़ (राजस्थान) के एक शिलालेख, रामनगर से प्राप्त एक अभिलेख-युक्त यक्ष प्रतिमा तथा गुप्तकालीन मुद्रा, पभोसा अभिलेख, बाँसखेड़ा अभिलेख आदि में इसे अधिछत्रा, अहिच्छत्रा के रूप में सम्बोधित किया गया है। स्थानीय अनुश्रुति तथा जैनग्रंथ विविधकला तीर्थ में वर्णित कथा से आभास होता है कि इस नगर का अहिच्छत्रा नाम बाद में प्रचलित हुआ। शतपथ ब्राह्मण में पंचाल के एक नगर परिचक्रा का उल्लेख है जहाँ क्रैव्य पांचाल ने अश्वमेध यज्ञ किया था। सम्भवतः यही नगर कालांतर में अहिच्छत्रा के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ऋग्वेद में पंचाल शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पंचाल का प्राचीन नाम क्रिवि था। अतः स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में पंचाल पृथक् जनपद के रूप में अस्तित्व में नहीं था। पंचाल में, जैसाकि इसके नाम से ध्वनित होता है, पाँच जन सम्मिलित थे। क्रिवि जन उनमें से एक रहा होगा जिन्हें ऋग्वेद में सिन्धु तथा आस्किनी नदी के तट पर स्थित बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में पंचाल को मध्यदेश में अवस्थित बताया गया है। साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर पंचाल की सीमा उत्तर में हिमालय से, दक्षिण में चंबल नदी तथा पूर्व में गोमती तक विस्तृत प्रतीत होती है। इस प्रकार पंचाल जनपद में प्रमुख रूप से वर्तमान बरेली, फर्रुखाबाद, बदायूं तथा इसके निकटवर्ती जिले सम्मिलित रहे होंगे। उत्तरवैदिककालीन साहित्य तथा पुराणों आदि में पंचाल के अनेक शक्ति-शाली नरेशों का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य में पंचाल का उल्लेख प्रायः कुरुओं के साथ मिलता है जो इनके मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का द्योतक है।

वस्तुतः अहिच्छत्रा का उत्कर्ष महाभारत काल में हुआ। महाभारत में वर्णित एक कथा के अनुसार इस काल में पंचाल दो भागों यथा उत्तर पंचाल तथा दक्षिण पंचाल में विभाजित हो गया जिसका प्रमुख कारण आचार्य द्रोण द्वारा पंचाल के शासक द्रुपद को परास्त कर अपने अपमान का प्रतिशोध लेना था। दोनों राज्यों की विभाजन रेखा गंगा नदी थी।

उत्तर में हिमालय, पूर्व में गोमती, पश्चिम में शूरसेन जनपद तथा पश्चि-मोत्तर गंगा के उत्तरवर्ती भाग में कुरु जनपद के मध्य का भू-भाग, उत्तर पंचाल तथा गंगा तट से चम्बल नदी का भूभाग दक्षिण पंचाल कहलाया। दोनों राज्यों की क्रमशः अहिच्छत्रा तथा कम्पिल राजधानियाँ बनीं। उत्तर पंचाल आचार्य द्रोण तथा दक्षिण पंचाल का भाग द्रुपद के आधीन हो गया। महाभारत (आदि पर्व) में द्रुपद का अहिच्छत्रा में निवास करने का उल्लेख मिलता है जो इस बात का

प्रतीक है कि पंचाल के विभाजन से पूर्व भी अहिच्छत्रा इसकी राजधानी थी। महाभारत युद्ध के पश्चात् तथा महापद्मनन्द के पूर्व पंचाल में 26 राजाओं द्वारा शासन करने का उल्लेख है। किन्तु इन शासकों के शासन काल तथा नाम आदि के विषय में स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। जातक ग्रंथों में कतिपय शासकों के नाम मिलते हैं परन्तु उनमें विरोधाभास अधिक है तथा इनमें अधिकांश शासक वैदिक कालीन प्रतीत होते हैं। महाजनपद काल में पंचाल की गणना सोलह जनपदों में की गयी है और इसके दो भाग बताये गये हैं। जातक ग्रन्थों में पंचाल के विषय में जो विवरण उपलब्ध होते हैं उनसे विदित होता है कि कुरु जन तथा पंचाल में उत्तर पंचाल पर सत्ता स्थापित करने हेतु प्रायः संघर्ष होते रहते थे। महात्मा बुद्ध के समय तक केवल चार प्रमुख जनपद अस्तित्व में रह गये थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से विदित होता है कि पंचाल ने इस समय संघ शासन अपना लिया था।

नन्द वंश के शासक महापद्मनन्द को पुराणों में सर्वक्षत्रांतक कहा गया है। इसके शासन काल में पंचाल इसका अंग रहा, मौर्यकाल में भी यही स्थिति रही। कौटिल्य अर्थशास्त्र से विदित होता है कि इस काल में अहिच्छत्रा मनकों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। उत्खनन में प्रचुर संख्या में विभिन्न प्रकार के मनके का मिलना इस बात की पुष्टि करते हैं। तदुपरांत पुष्यमित्र शुंग के शासन काल तक पंचाल शुंग वंश के आधीन था। इलाहाबाद के निकट 2 शताब्दी ई० पू० के प्रभोसा अभिलेख से अहिच्छत्रा के भागवत, आषाढ़सेन आदि शासकों के नाम मिलते हैं। कतिपय गुप्त घोष, सेन तथा मित्र नामांतक सिक्के भी अहिच्छत्रा से उपलब्ध हुए हैं। सिक्कों की लिपि के आधार पर इनका शासन काल 2 शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० तक निर्धारित किया जा सकता है, अहिच्छत्रा के मित्रवंशीय शासकों के सिक्के शुंगवंशी तथा अयोध्या, कौशाम्बी एवं मथुरा के मित्रवंशी शासकों की मुद्राओं से भिन्नता लिये हुए थे तथा गंगा के दक्षिण में बहुत कम मिले हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र की शक्ति क्षीण होते ही अहिच्छत्रा के शासकों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। अहिच्छत्रा से कुषाणवंशी शासकों के सिक्के उपलब्ध होना यह प्रमाणित करते हैं कि यह इस काल में पुनः कुषाणों के अधीन हो गया। कालान्तर में गुप्त वंश के उदय होने तक भारत की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। पद्मावती तथा मथुरा नागों के प्रमुख केन्द्र थे। अहिच्छत्रा से अच्यु नामक राजा के सिक्के मिले हैं जो निःसन्देह समुद्रगुप्त द्वारा पराजित नागवंशी शासक अच्युत ही था। अतः गुप्तवंश के आधीन होने के पूर्व अहिच्छत्रा पर नागवंश का आधिपत्य था। अहिच्छत्रा से उपलब्ध एक मिट्टी की मुहर पर अंकित अभिलेख में इसे गुप्त साम्राज्य की 'मुक्ति' बताया गया है। कतिपय पुरातात्त्विक साक्ष्य यह प्रमाणित करते हैं कि गुप्तकाल के पश्चात् भी

अहिच्छत्रा क्रमशः भैरवी, हर्षवर्द्धन, यशोवर्मन, आयुधवंश, प्रतिहार तथा गहड़वाल वंश के आधीन रहा। बदायूँ से प्राप्त ग्यारहवीं शताब्दी के एक लेख से विदित होता है कि इस काल में पंचाल की राजधानी बदायूँ स्थानान्तरित हो गयी थी। रामनगर के उत्खनन में 1100 ई० के पश्चात के कोई अवशेष भी उपलब्ध नहीं होते। इससे अनुमान होता है कि इस काल में अहिच्छत्रा का पतन हो गया जिसमें मुस्लिम आक्रमणों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की होगी।

राजनीतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र होने के साथ-साथ अहिच्छत्रा ने एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में भी ख्याति अर्जित कर ली थी। साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों से इसकी पुष्टि होती है। शतपथ ब्राह्मण में पंचाल भूमि भाषा की जननी तथा दूसरे प्रदेशों के लिए आदर्श बतायी गयी है। अनेक प्राचीन गाथाओं का निर्माण यहीं हुआ। वेदों के क्रम निर्धारण का श्रेय बाभ्रव्य पांचाल तथा गालव को दिया जाता है। कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन ने स्वीकार किया है कि उनका ग्रन्थ बाभ्रव्य पांचाल के ग्रन्थ पर आधारित है। जातक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि उत्तर पंचाल के राजा साहित्य सृजन में विशेष रुचि लेते थे। राजशेखर ने पंचाल के कवियों की प्रशंसा में लिखा है कि उनकी रचनाएँ मधुर एवं कर्णप्रिय होती थीं। वे उच्चस्तर के शास्त्रीय एवं लौकिन अर्थों को भव्य उक्तियों द्वारा ग्रन्थित करते थे। उनकी काव्य पाठ प्रणाली सर्वोत्कृष्ट थी। पाठ स्वर काव्य रीति के अनुसार तथा वर्णों का उच्चारण समुचित ढंग से किया जाता था।

साहित्य के अतिरिक्त अहिच्छत्रा दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन का भी प्रमुख केन्द्र था। उपनिषदों में यहाँ के राजा प्रवाहण जैवालि को महान दार्शनिक तथा विद्या का संरक्षक बताया गया है। इसकी पंचाल परिषद ज्ञानचर्चा का विशेष केन्द्र थे जिसमें दूर-दूर से ऋषि मुनि तत्त्व चिन्तन में भाग लेने आते थे यथा उद्यालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु। प्रवाहण के अतिरिक्त शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य, बाभ्रव्य गालव पंचाल आदि विद्वान एवं तत्त्ववेत्ता इसी जनपद के निवासी थे।

रामनगर अवस्थित टीलों के समय-समय पर हुए उत्खनन में जो अवशेष मिले हैं उनसे अहिच्छत्रा के निवासियों की धार्मिक रुचि के साथ-साथ उनकी कलाप्रियता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। वैदिक साहित्य से विदित होता है कि यहाँ के निवासी वैदिक-धर्म के अनुयायी थे। उनकी यज्ञ प्रणाली श्रेष्ठ कही गयी है। ह्वेनसांग ने भी लिखा है कि यहाँ के निवासी धार्मिक प्रवृत्ति के तथा सत्यनिष्ठ थे। रामनगर (अहिच्छत्रा) के उत्खनन में उपलब्ध अवशेषों से अहिच्छत्रा के गेरू मृद्भाण्ड संस्कृति (स० 1900 ई० पू०) से 1100 ई० तक के क्रमिक इतिहास एवं संस्कृति पर प्रकाश पड़ा है। हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्मों से सम्बन्धित मूर्तियाँ, मन्दिरों तथा स्तूपों के भग्नावशेष जहाँ एक ओर यहाँ के शासकों की धार्मिक

सहिष्णुता की परिचायक हैं वहीं दूसरी ओर यहां के कलात्मक गौरव पर भी प्रकाश डालती हैं। वस्तुतः अहिच्छत्रा का अतीत अत्यन्त गौरवशाली था। प्रारम्भ में उच्च राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेने पर भी कालान्तर में इसे विभिन्न राज-वंशों की आधीनता झेलनी पड़ी किन्तु फिर भी विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण बनाये रखना अहिच्छत्रा की विलक्षण उपलब्धि कही जा सकती है।

प्राचीन भारत में सामन्तवाद

शोधकर्ता—विशालमणी बहुगुणा
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1977

सारांश

महात्मा बुद्ध के समय उत्तरी भारत अनेक राज्यों में बँटा हुआ था। बौद्ध साहित्य से 16 महाजनपदों की सत्ता का परिचय प्राप्त होता है। इन महाजनपदों में शनैः-शनैः मगध राज्य विकसित होने लगा और कुछ समय पश्चात् उसने एक साम्राज्य की स्थिति को प्राप्त कर लिया। 330 ई०पू० में पारलोक साम्राज्य को ध्वस्त करके यूनानी विजेता सिकन्दर जब भारत की ओर बढ़ा तो उस समय इस देश में मगध के नाम से एक बड़ी शक्ति विद्यमान थी। कुछ सीमावर्ती छोटे-छोटे राज्यों के जीतने के बाद सिकन्दर वापस लौट गया। वह आगे न बढ़ सका क्योंकि शक्तिशाली मगध सम्राट से लोहा लेना सरल नहीं था। ग्रीक विद्वानों का कहना है कि व्यास नदी तक पहुंचने के बाद अपने सैनिकों के आग्रह के कारण सिकन्दर को वापस लौटना पड़ा। यह बात कुछ तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती, यदि आगे बढ़ सकने में समर्थ था तो अवश्य ही आगे बढ़ता। वास्तविकता तो यह है कि मगध की प्रबल शक्ति का वह सामना करने में असमर्थ था। पाश्चात्य इतिहास-वेत्ता डा० स्मिथ ने भी स्वीकार किया है कि यदि सिकन्दर आगे बढ़ने का साहस करता तो उसकी सेना प्रतिद्वन्द्वी की सेना की संख्या मात्र से ही आतंकित हो जाती, अतः उसकी सेना को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि उसने मैसोडोनिया की सेना को विनाश से बचा लिया।

सिकन्दर के वापस लौटने के बाद भारतीय इतिहास में एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण घटना घटित हुई। चन्द्रगुप्त ने नन्द वंश का विनाश करके एक विशाल मौर्य साम्राज्य का शिलान्यास किया। प्राचीन भारतीय इतिहास के रंग-मंच पर अचानक ही उभरकर इस महान् पुरुष ने जो कार्य किया वह गौरवपूर्ण है, अपने सफल पराक्रम

से उसने देश को राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँध दिया, यह चन्द्रगुप्त की बहुमुखी प्रतिभा का ही परिणाम था कि मौर्यों की पताका उत्तर-पश्चिम में हेरात से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक फहराने लगी। इस सम्बन्ध में डा० स्मिथ ने लिखा है कि दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए जब भारत के प्रथम सम्राट ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त किया जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे।

मौर्यों के पश्चात् देश की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। भारत पर विदेशी जातियों के आक्रमण पुनः प्रारम्भ हो गये। देश के विविध प्रदेशों पर विदेशियों ने अपने-अपने राज्य कायम कर लिये। उन राज्यों की स्थापना के कारण मगध साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी किन्तु चौथी सदी के प्रारम्भ में मगध में गुप्त वंश का उत्कर्ष हुआ। इस राजवंश ने एक बार फिर राजनैतिक शक्तियों को एक सूत्र में संगठित करके भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस काल की शासन संस्थाओं के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के लिए हमारे पास वैसे साधन उपलब्ध नहीं हैं जैसे मौर्य साम्राज्य के समय के थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र जैसा कोई ग्रंथ इस युग के सम्बन्ध में नहीं; मैगस्थनीज जैसा कोई विदेशी यात्री भी नहीं आया। चीनी यात्री फाहियान अवश्य आया, परन्तु उसकी यात्रा का प्रयोजन बौद्ध धर्म और साहित्य का अनुशीलन करना था। उसके यात्रा विवरण से शासन संस्थाओं के सम्बन्ध में कोई भी महत्वपूर्ण बात नहीं ज्ञात होती। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि गुप्तकालीन शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं हैं। गुप्तकालीन प्राप्त साहित्यिक व नीतिशास्त्र विषयक ग्रंथ इस काल की राज-संस्था पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। शिलालेखों और सिक्कों के रूप में हमारे पास ठोस पुरातत्वीय प्रमाण भी हैं।

गुप्त युग की शासन संस्थाओं के विषय में जब हम पढ़ते हैं तो उस समय हमारा ध्यान सहज ही सामन्त पद्धति की ओर आकर्षित होता है।

मौर्यों के समय में इस पद्धति का अस्तित्व नहीं था। साम्राज्य के अन्दर विविध जनपदों की सभा थी और वे आन्तरिक दृष्टि से काफी सीमा तक स्वतन्त्र थे। किन्तु गुप्त युग की दृष्टि से इस देश में सामन्त पद्धति का उदय हो गया। शासन की दृष्टि से गुप्त साम्राज्य का स्वरूप इस प्रकार का था कि गुप्त वंशी सम्राट को अपना स्वामी स्वीकार करते हुए अनेक राजा अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होकर शासन करते थे। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है, जिस ढंग से सामन्त पद्धति यूरोप के मध्यकालीन इतिहास में पायी जाती है वैसा ही अब भारत में विकसित होनी आरम्भ हो गयी थी। इसका कारण सम्भवतः यह था कि विदेशी जातियों के आक्रमण से भारत में अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। शक और कुषाण शासकों ने अपने-अपने क्षेत्र में अनेक क्षत्रियों की नियुक्ति की थी जो स्वतन्त्र शासक

की हैसियत रखते थे। समाज में एक प्रकार ने मत्स्य न्याय का बोलबाला था। ऐसी स्थिति में गुप्त सम्राटों के लिए यह आसान न था कि वे इन्हें समूल रूप से नष्ट करके अपना एकाधिपत्य भारत में स्थापित कर सकते अतः इन्हें आधीन करके ही उन्होंने सन्तोष कर लिया।

गुप्त शासकों के शिलालेखों में बहुत से ऐसे राजाओं और महाराजाओं के नाम आते हैं जो उनकी आधीनता स्वीकार करते थे। इनकी स्थिति सामन्त और महा-सामन्त की थी। गुप्तकाल के अनेक दानपत्र पाये गये हैं, इसमें किसी ब्राह्मण या अन्य किसी व्यक्ति को दी गयी जागीर का या अन्य दान का उल्लेख है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि ये लेख केवल गुप्त नरेशों द्वारा ही उत्कीर्ण नहीं कराये गये, अपितु उनके अधीनस्थ राजाओं और महाराजाओं ने भी कराये। महाराजा हस्तिन एक ओर अपने सम्राट के प्रति अपनी आधीनता प्रदर्शित करते हैं दूसरी ओर अपने अधीनस्थ सामन्तों का भी उल्लेख करते हैं, अनेक महासामन्तों का अभिषेक भी सम्राट द्वारा किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाराज द्रोणसिंह के एक शिलालेख में सम्राट द्वारा उसके अभिषिक्त किये जाने का वर्णन है। इससे विदित होता है कि एक विशेष क्षेत्र के अन्दर सम्राट अपने आधीन सामन्त के अधिकार क्षेत्र को स्वीकार करता था। जो सामन्त विशेष शक्तिशाली होता था उसे 'सामन्त-चूड़ामणि' जैसी उपाधियाँ सम्राट की ओर से प्रदान की जाती थीं।

ये सामन्त अथवा महासामन्त विशेष अवसरों पर सम्राट के बराबर में उपस्थित होकर अपनी वफादारी प्रदर्शित करते थे, ऐसा प्रतीत होता है कि जिस सम्राट के दरबार में सामन्तों की संख्या जितनी अधिक होती थी वह उतना ही भव्य लगता होगा। सम्राट स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में बड़े आलंकारिक रूप से यह लिखा गया है कि अभिवादन के लिए झुकते नृपतियों द्वारा वायु के जो झोंके उत्पन्न हुए उनके कारण सारी उपस्थान भूमि हिल गयी। इस प्रकार का वर्णन संस्कृत काव्य में सम्भवतः गुप्तकाल से ही आरम्भ हुआ, गुप्त सम्राटों के राजदरबार में बहुत से राजा और महाराजा उपस्थित रहा करते थे। मध्यकालीन यूरोप में पवित्र रोमन सम्राटों की आधीनता में भी अनेक राजाओं और महाराजाओं की सत्ता थी।

गुप्त वंश के समय में जो सामन्त पद्धति प्रारम्भ हुई वह प्राचीन भारत के सम्पूर्ण मध्यकालीन इतिहास में कायम रही। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि प्रथम दो गुप्त नरेश भी सामन्त की स्थिति ही रखते थे। अपने वंश को इस स्थिति से मुक्त करने का कार्य चन्द्रगुप्त प्रथम ने किया। सातवीं सदी में जब वर्द्धन वंश का अभ्युदय हुआ तो उसके भी प्रारम्भ के शासक पहले सामन्त की ही स्थिति रखते थे बाद में अन्य राजाओं से अधीनता करा लेने के बाद ही उन्होंने महाराजाधिराज पद प्राप्त किया।

सामन्त पद्धति के कारण ही भारत में राजा शब्द का अर्थ अब अधिक व्यापक हो गया। सम्राट के आधीन जितने भी महासामन्त, सामन्त और उपसामन्त थे वे सब ही अब राजा कहे जाने लगे थे। शक्तिशाली सामन्तों की अपनी सेनाएँ होती थीं, ये कर वसूल करते थे और अपने आन्तरिक मामलों में प्रायः स्वतन्त्र थे। गुप्तकाल में ऐसे अनेक सामन्त थे। प्रतापी गुप्त सम्राटों ने इन्हें अपने आधीन तो कर लिया किन्तु इनकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं किया था। अतः गुप्त नरेश जब निर्बल पड़ने लगे तो उन्होंने पुनः अपना सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया। गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों में सामन्ती प्रथा भी एक थी। यह गुप्तकाल में सामन्त पद्धति का ही परिणाम था कि भारत में यशोवर्मन और हर्षवर्धन जैसे सम्राट तो उत्पन्न हो गये किन्तु स्थिर रूप से वे किसी विशाल साम्राज्य की स्थापना न कर सके।

गुप्तकाल में जिस सामन्त पद्धति का जन्म हुआ वह सातवीं से बारहवीं सदी तक कायम रही, इस काल में विविध सामन्त और महासामन्त अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुए भी अपने अधिपति के साथ एक विशेष प्रकार के सम्बन्ध में बँधे हुए थे। इस सम्बन्ध का आधार उनकी अपनी शक्ति तथा अपने अधिपति की शक्ति होती थी, अधिपति के निर्बल पड़ते ही सामन्त स्वयं अधिपति बनने की चेष्टा में रत हो जाता था।

सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक सामन्तवाद का इतिहास हमारे शोध का विषय है। अपने अध्ययन को हमने उत्तर भारत की सामन्ती प्रथा तक सीमित रखा है। विषय की पुष्टि के लिए ही कहीं दक्षिण भारत से भी उदाहरण दिया गया है।

उक्त विषय चुनने का एक कारण है इतिहास से अगर हम कुछ सीख नहीं ले सके तो इसका अध्ययन ही निरर्थक बन जायेगा। आज देश स्वतन्त्र है। भारत एक विशाल देश है, इसकी राजनीतिक एकता को बनाये रखना एक कठिन कार्य अवश्य ही होगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि केन्द्र के निर्बल पड़ने पर देश की राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न हुई है। प्राचीन काल में सामन्ती प्रथा ने केन्द्र के निर्बल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वैसे तो नैतिक दृष्टि से केन्द्र को सबल बनाना इसका कर्तव्य था लेकिन अनुकूल अवसर पाते ही सामन्त स्वतन्त्र होने का प्रयास करके केन्द्र को निर्बल बना देते थे। वर्तमान युग के सामन्तवाद की तुलना क्या प्रचीनकाल में सामन्तवाद से नहीं की जा सकती। हमें इस प्रश्न का उत्तर केन्द्र को मजबूत बनाकर देना होगा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को 6 अध्यायों में विभक्त करके पूर्ण किया गया है। पहले अध्याय में सामन्तवाद के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डाला गया है। इस स्थल पर सामन्तवाद की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न प्रचलित मतों के विषय में विभिन्न प्रचलित मतों से समीक्षा की गयी है। मेरी दृष्टि में गुप्तों का काल ही वह समय है

जब अपने देश में सामन्त पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ, इसी अध्याय में भारतीय सामन्त पद्धति की योरोपीय सामन्त पद्धति से तुलना की गयी है।

दूसरे अध्याय में गुप्तोत्तरकालीन सामन्ती व्यवस्था का विवरण दिया गया है। गुप्तकाल तथा उसके पश्चात् हर्ष के समय में सामन्त पद्धति का कैसे विकास हुआ इसकी पूर्ण रूप से समीक्षा की गयी है।

तीसरा अध्याय 'विकेन्द्रीकरण' का युग है। इस अध्याय में देश की राजनैतिक अनेकताओं की ओर संकेत किया गया है कि भिन्न-भिन्न छोटे-छोटे राज्यों ने केन्द्र निर्बल बनाकर देश का द्वार बाह्य आक्रमणों के लिए खोल दिया, असंख्य लघु और दुर्बल राज्य सामन्ती प्रथा के परिणामों के प्रतीक बन गये थे।

चौथे अध्याय में सामन्तवाद में चरमोत्कर्ष पर प्रकाश डाला गया है। 1000 ई० से 1200 ई० तक का समय प्राचीन भारतीय इतिहास में सामन्तीय पद्धति की पराकाष्ठा है जो नहीं होना चाहिए था। वही हुआ बहुत कुछ अंशों में इस सामन्ती प्रथा ने ही केन्द्र को दुर्बल बनाकर देश को गुलाम बना दिया था। सामन्त अपने को बड़ा समझता था। दर्प में भूला रहा और जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ तो उनका गर्व चूर हो गया।

पाँचवें अध्याय में सामन्ती प्रथा से हानि और लाभ पर विचार किया गया है। इस पद्धति के लाभ तो कुछ सैद्धांतिक रूप से अवश्य ही गिनाये जा सकते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि व्यवहार में इनसे हानियाँ हुई हैं। कहीं-कहीं पर कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं जबकि अपने सामन्तों की सहायता से सम्राट ने शत्रुओं का दमन किया था।

अन्तिम अध्याय उपसंहार है।

प्राचीन भारत में
फौजदारी कानून का विकास

(ऋग्वैदिक काल से गुप्तकाल तक)

शोधकर्ता—राजपाल सिंह
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1978

सारांश

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। ये क्रम से निम्न प्रकार हैं—

1. सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि
2. वैदिककालीन दण्ड व्यवस्था
3. मौर्यकाल में फौजदारी कानून का विकास
4. गुप्तकालीन दण्ड व्यवस्था
5. उपसंहार

यह एक सनातन सत्य है कि मानव समाज का विकास धीरे-धीरे हुआ। प्रारंभ में मनुष्य बर्बर एवं असभ्य जीवन व्यतीत करते थे। उनमें सामाजिक तथा आर्थिक विकास नहीं पाया था। किन्तु मनुष्य की खोज प्रवृत्ति ने उसको सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के पथ पर अग्रसर किया। सामाजिक विकास के साथ-साथ स्वार्थों का टकराव भी होने लगा। फलस्वरूप समाज में झगड़े और उपद्रव भी होने लगे। ऐसी स्थिति में भारत में फौजदारी कानून का विकास हुआ।

प्रथम अध्याय में प्राचीन भारत की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया गया है। कारण यह है कि इनका फौजदारी कानूनों के विकास के साथ अटूट सम्बन्ध है। यदि हम गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार करें तो विदित हो जायेगा कि प्राचीन भारत में नाना प्रकार के अपराधों के पीछे सामाजिक और आर्थिक कारण रहे हैं। इस सन्दर्भ में राजनीतिक कारणों की भी अवहेलना नहीं की जा

सकती किन्तु व्यापक अर्थों में उनका समावेश सामाजिक कारणों में किया जा सकता है। मार्क्सवादी विचारक तो इतिहास की समस्त घटनाओं की व्याख्या आर्थिक दृष्टि से ही करते हैं। इस कथन में सत्यता का अंश तो स्वीकार किया जा सकता है किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है।

दूसरे अध्याय में वैदिक कालीन दण्ड व्यवस्था पर विचार किया गया है। आधुनिक काल में कानून का अर्थ बाह्य आचरण के ऐसे सामान्य नियम से होता है, जिसे राजसत्ता लागू करती है। वर्तमान समय में विधि निर्माण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्रोत विधायिका है। अन्य श्रोतों में प्रथाओं, न्यायालयों के निर्णय तथा वैज्ञानिक टीकाओं की गणना की जा सकती है। वैदिक काल में विधि की धारणा ऐसे नियमों के समूह से की जाती थी जिसे मानव के मार्ग दर्शन हेतु उचित स्वीकार किया जाता था। इस समय कानून के प्रमुख श्रोत वेद तथा धर्मशास्त्र थे। अन्य श्रोतों में प्रथाएँ, शिष्ट पुरुषों के आचरण, शास्त्रीय टीकाएं तथा राजशास्त्र की गणना की जा सकती है। यह तो सत्य है कि वैदिक काल में कानून निर्माण के लिए आधुनिक ढंग की विधायिका सभा नहीं थी। इस सन्दर्भ में विद्वान अल्तेकर ने लिखा है कि प्राचीन भारत में न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित किये जाने वाले विधि नियम किसी विधानसभा अथवा संसद द्वारा स्वीकृत कानून नहीं थे। वे प्रायः सदाचार तथा रूढ़ियों पर आधारित थे। इस सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वैदिक काल में कानूनों को पवित्र और धर्म पर आधारित माना जाता था। धर्म पर आधारित कानून के समक्ष राजा को भी नत होना पड़ता था।

तीसरे अध्याय में मौर्यकाल में फौजदारी कानून के विकास पर प्रकाश डाला गया है। प्राचीन भारतीय इतिहास में प्रथम बार एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई जिसके अन्तर्गत लगभग सम्पूर्ण देश आ गया था। शासन व्यवस्था की दृष्टि से भी इस काल का अपना एक विशिष्ट स्थान है। मौर्यों की शासन प्रणाली को बाद में आने वाले भारतीय शासकों ने ही नहीं वरन् मुसलमान तथा कुछ परिवर्तन के साथ अंग्रेज शासकों ने भी स्वीकार किया।

मौर्यकालीन न्याय व्यवस्था को आचार्य कौटिल्य ने दो क्षेत्रों में विभाजित किया है। प्रथम है 'व्यवहार' तथा दूसरा 'कण्टकशोधन' है। प्रथम के अन्तर्गत नागरिकों के पारस्परिक संघर्षों का समाधान होता था और दूसरे के अन्तर्गत प्रजा को शोषण तथा उत्पीड़न से सुरक्षित रखने की व्यवस्था की जाती थी। कौटिल्य ने विधि के निम्न चार प्रमुख श्रोतों का वर्णन किया है—

1. धर्म
2. व्यवहार
3. चरित्र
4. राजशासन

कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा को विधि का प्रशासन धर्म, व्यवहार, लोकाचार तथा न्याय के अनुसार करना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विधि का स्रोत न्याय पर आधारित समझा जाता था।

चतुर्थ अध्याय में गुप्तकालीन दण्ड व्यवस्था का चित्रण किया गया है। गुप्त अभिलेखों तथा चीनी यात्री फाहियान के विवरण से गुप्तकालीन शासन पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्णयुग की संज्ञा प्रदान की गयी है। इसके पीछे मूल भावना यही है कि उस समय प्रजा बहुत सुखी व समृद्ध थी तथा न्याय को अपना यथोचित स्थान प्राप्त था। निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि गुप्तकाल ने न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। इस काल में न्याय सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों ने दीवानी और फौज-दारी कानून को अलग-अलग क्षेत्रों में विभाजित किया। मोटे रूप से कानून के प्रमुख स्रोत धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन बने रहे। विभिन्न शास्त्रकारों ने अपराधों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करके उनके लिए समुचित दण्ड की व्यवस्था की। इस प्रसंग में वृहस्पति के दण्ड विधान की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। प्रथम महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उसने अपराधी को वर्ण के अनुसार दण्ड देने का विधान बनाया और दूसरे ब्राह्मण को कुछ अर्थों में क्षमादान दिया। उनका विचार था कि वध के अतिरिक्त ब्राह्मण को अन्य दण्ड दिया जा सकता है। न्याय के क्षेत्र में वृहस्पति द्वारा अपनाये गये इस पक्षपात का कोई औचित्य नहीं है। उनके विधान के अनुसार महापातकी ब्राह्मण को पापसूचक चिह्न से अंकित कर सिर मुड़ा कर निष्कासित करने के अतिरिक्त अन्य कोई दण्ड विधान नहीं है। अन्य अपराध के लिए वाग्दण्ड, पूर्व साहस के लिए धिग्दण्ड, उत्तम साहस के लिए अर्थ-दण्ड तथा राजद्रोह के लिए कारावास में डाल देना ही ब्राह्मण के लिए पर्याप्त दण्ड था।

आधुनिक दण्डविधान, दण्ड के तीन सिद्धान्तों को विशेष महत्व प्रदान करता है। प्रथम प्रतिशोध की भावना से दिया गया दण्ड, द्वितीय अपराध की गुरुता के अनुसार दिया गया दण्ड और तृतीय सुधार की भावना से दिया गया दण्ड। इन सिद्धांतों में से प्राचीन काल में सुधार की भावना से दिये गये दण्ड को विशेष महत्व प्रदान किया गया। यह बात गुप्तकाल में विशेष रूप से देखी जा सकती है। प्राचीन एथेन्स में सामाजिक विवादों के न्याय का कार्यान्विकरण विजयी पक्ष पर छोड़ दिया जाता था, वह उसे बन्दी नहीं बना सकता था किन्तु उसकी सम्पत्ति का अधिग्रहण कर सकता था। वृहस्पति की न्याय व्यवस्था इस प्रकार की न्याय प्रणाली को मान्यता प्रदान नहीं करती। उनके अनुसार न्याय का आदर्श सत्य की खोज और अपराधी को दण्ड देना था।

अन्तिम अध्याय उपसंहार का है। जब हम प्राचीन भारत में फौजदारी

कानून के विकास पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि हिन्दू फौजदारी कानून में विद्वानों की केवल शैक्षिक रुचि रही है, क्योंकि प्राचीन फौजदारी कानून का आधुनिक समाज में कोई प्रचलन या महत्व नहीं रह गया है। ठीक इसके विपरीत दीवानी कानूनों के विकास में विद्वानों ने अधिक परिश्रम किया है क्योंकि उनका आधुनिक समय में भी काफी महत्व है। यहाँ पर यह कहना उचित होगा कि प्राचीन भारत में फौजदारी कानून का विकास, प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए एक विशेष महत्व रखता है। कारण यह है कि कानून का विकासात्मक अध्ययन उनको प्राचीन काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक अवस्थाओं से अवगत कराता है। जब हम फौजदारी कानून के विकास का अध्ययन करते हैं तो हमें यह पता चलता है कि उसका विकास साधारण स्थिति से होकर एक पूर्ण तथा सक्षम रूप में विकसित हुआ।

यह निर्णय करना कठिन है कि प्राचीन कानून के ग्रन्थ जिस काल में लिखे गये। किन्तु जब हम कानून के विकास का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं तो हमें एक आन्तरिक तारतम्य मिल जाता है जिससे हम विभिन्न ग्रन्थों के काल का निर्धारण कर सकते हैं। कानून के ग्रन्थ सभ्यता के विकास में विभिन्न स्तरों को दर्शाते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जो अपराध सम्बन्धी कानून गौतम, वशिष्ठ और बौधायन ने बनाये, वे मनु द्वारा निर्धारित नियमों से बहुत पहले के हैं। उन ग्रन्थों में हमें फौजदारी कानून का कुछ आभास मिलता है।

कभी-कभी कानून और दण्ड के नियमों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। किन्तु मनु ने फौजदारी कानून और दण्ड के नियमों में स्पष्ट भेद दर्शाया है। उसने विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्ड का विधान दिया है। दण्ड कभी-कभी बड़े अमानुषिक ढंग से दिये जाते थे, किन्तु वे बड़े प्रभावी होते थे और उनके द्वारा अपराधों को पूर्णतया समाप्त करना ही लक्ष्य होता था। मनु के ग्रन्थ में कानून की सुन्दर ढंग से व्याख्या की गई।

विष्णु ने तो यह प्रयत्न किया है कि दण्ड द्वारा अपराधों को कम किया जाय और साधारण प्रकार के अपराधों में मृत्युदण्ड को समाप्त कर अंग विच्छेद की व्यवस्था हो। इसमें बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विष्णु पहला व्यक्ति था जिसने मनु के अमानुषिक कानूनों के प्रति विद्रोह किया और उनके मानवीकरण का प्रयत्न किया।

फौजदारी कानून के विकास में दूसरा काल याज्ञवल्क्य और कौटिल्य से प्रारंभ होता है। इस समय फौजदारी विषयक कानूनों की विस्तृत रूप में व्याख्या की गई। संभव है कि जब याज्ञवल्क्य के नियमों का निर्धारण हुआ तो उस समय भारत के कुछ भागों में मनु के नियमों का प्रचलन रहा हो। किन्तु याज्ञवल्क्य के नियमों ने समाज तथा राज्य की बढ़ती हुई माँग को देखते हुए मनु के कानून का स्थान ले

लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय कानूनी व्यवस्थाकारों में नारद, वृहस्पति और कात्यायन अन्तिम माने जाते हैं। कुछ पुराणों ने भी कानून की व्याख्या की है किन्तु यह उनका मुख्य विषय नहीं रहा है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारत में फौजदारी कानूनों का पर्याप्त रूप से विकास हो चुका था। इन फौजदारी कानूनों को यदि आधुनिक काल के फौजदारी कानूनों की आधारशिला समझी जाय तो कोई भी अतिरंजना नहीं हागी।

हरयाणा के प्राचीन गणराज्य

शोधकर्ता—माँगेराम आर्य
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1978

सारांश

हरयाणा का इतिहास अति प्राचीन है। यद्यपि हरयाणा का पृथक् राज्य के रूप में निर्माण भारतीय गणतन्त्र में प्रथम नवम्बर 1966 को ही हुआ है। इससे पूर्व 1857 से 1966 तक हरयाणा का राजनीतिक मानचित्र पर नाम नहीं रहा परन्तु 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के पूर्व तक हरयाणा प्रदेश का महत्वपूर्ण स्थान था तथा प्राचीन भारतीय इतिहास में इस प्रदेश का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्राचीन भारत का इतिहास हरयाणा क्षेत्र की वैदिक संस्कृति (सरस्वती एवं दृष्टि-वती नदियों का क्षेत्र) से ही प्रारम्भ होता है। दूसरे शब्दों में भारत के प्राचीन इतिहास को बनाने वाले ऋषि-मुनियों ने सर्वप्रथम विश्व प्रसिद्ध वैदिक संस्कृति को हरयाणा की सरस्वती दृष्टवती आदि नदियों के तटों पर अपने आश्रमों, आरण्यकों और गुरुकुलों (विश्वविद्यालय) में ही जन्म दिया था।

'दृषद्वत्या मानुष आययायां सरस्वत्परिवेदग्नैदिदीहि,'

ऋग्वैदिक काल के दास राज्य युद्ध से 1857 तक के महत्वपूर्ण निर्णायक युद्ध इसी भू-भाग में लड़े गये। दूसरे शब्दों में ऋग्वेद में उल्लेखित दास राज्य युद्ध से ही यहाँ के लोगों ने राजनीतिक इतिहास को अपने रक्त से (लिखना) रचना आरम्भ कर दिया था और इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए भरत (कुरु) जन ने सरस्वती गंगा के मध्यवर्ती भू-भाग को अनेक युद्धों में विजित करके कुरु जनपद का उत्तरी भारत पर आधिपत्य स्थापित किया तथा महाभारत का विश्व प्रसिद्ध युद्ध भी इसी भू-भाग के धर्मक्षेत्र (कुरुक्षेत्र)में ही लड़ा गया था। तराईन और पानीपत के मैदानों में जहाँ अनेक बार कई राजवंशों के भाग्य का निर्णय हुआ तो भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (1857) का श्रीगणेश भी हरयाणा की मेरठ और अम्बला छावनियों से हुआ था।

प्राचीन भारतीय इतिहास में इस भू-भाग के विशेष महत्व को दृष्टिगत रखकर मैंने हरयाणा के प्राचीन इतिहास पर अनुसंधान करने का विचार बनाया तथा डा० सत्यकेतु विद्यालंकार तत्कालीन कुलपति विश्वविद्यालय, हरिद्वार गुरुकुल कांगड़ी ने मुझे विचार-विमर्श के समय 'हरयाणा के प्राचीन गणराज्यों' पर अनुसंधान करने का परामर्श दिया। इस विषय पर अभी तक इतिहासकारों ने बहुत कम कार्य किया है। अधिकांश इतिहासकार और राजनीतिशास्त्रज्ञ गणराज्यों का साहित्य और मुद्राशास्त्र एवं अभिलेखों में उल्लेख के आधार पर उत्तर वैदिक काल के बाद महाजनपदकाल के समय में राजतन्त्रों से ही उत्पन्न हुए मानते हैं। ये विद्वान लोग वैदिक जन और उत्तर वैदिक जनपद के स्वरूप एवं संगठन को राजतन्त्रात्मक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह वर्ग जनपद को महाजनपद में विकसित होने के बाद ही गणराज्यों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु मैं विद्वानों के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हूँ—मैं वैदिक जन का स्वरूप एवं संगठन गणतंत्रात्मक मानता हूँ। मैंने हरयाणा के प्राचीन गणराज्य विषय के अन्तर्गत प्रथम बार निम्नलिखित विषयों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। मैंने इस शोध प्रबन्ध में हरयाणा शब्द को प्राचीन काल के उस भौगोलिक क्षेत्र के लिए प्रयुक्त किया है जो मुख्यत: ऋग्वैदिक काल से ही वैदिक संस्कृति का केन्द्र रहा है। और मनु महाराज ने जिसे ब्रह्मर्षि नाम दिया है आगामी पृष्ठों में प्राचीन हरयाणा या हरयाणा इसी भौगोलिक क्षेत्र के लिए प्रयुक्य किया जाएगा।

1. हरयाणा नाम की प्राचीनता पर प्रथम अध्याय में विचार किया गया है।
2. हरयाणा के नामकरण पर विभिन्न मतों की समीक्षा करके 'हर' के नाम से हरयाणा नामकरण की उत्पत्ति की पुरातात्विक और जनश्रुतियों के आधार पर पुष्टि की गई है।
3. प्रथम अध्याय के सीमा प्रकरण में प्राचीन काल में हरयाणा की विभिन्न भौगोलिक सीमाओं की समीक्षा की गई है तथा ऋग्वैदिक काल में प्राचीन हरयाणा क्षेत्र सप्त-सैंधव का मुख्य भाग रहा है जिसे मैंने सारस्वत-मण्डल नाम दिया है। ब्रह्मर्षि देश, कुरु देश, यौधेय देश, मध्य देश और दिल्ली मण्डल के रूप में हरयाणा की प्राचीन सीमाओं को पुरातात्विक और साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया गया है।
4. वैदिक 'जन' को गणतन्त्रात्मक रूप में सिद्ध किया गया है। जन और गण शब्दों को समानार्थी रूप में ग्रहण किया गया है। जन से ही गण की उत्पत्ति हुई है।
5. वैदिक जन से जनपद के रूप में विकसित होने पर ही 'राजतन्त्र' स्वरूप की उत्पत्ति हुई है।
6. वैदिक काल के हरयाणा क्षेत्र के महत्वपूर्ण जनों की भौगोलिक स्थिति निश्चित

की गई है।

7. उत्तर वैदिक काल के शाल्व, भद्रान (भारद्वाज) युगन्धर, बोध जांगल, पट्टचर आदि जनपदों की भौगोलिक पहचान की गई है।
8. हरयाणा के गण राज्यों ने महाजनपद काल से प्रथम शताब्दी ईसवी तक बाह्य एवं साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष किया है। मैंने इस काल को हरयाणा के गणराज्यों का संघर्ष काल नाम दिया है।
9. कुषाणोत्तर काल से गुप्त के उदय से पूर्व के काल को मैंने हरयाणा के गण-राज्यों का स्वर्गकाल (उत्कर्ष काल) नाम दिया है।
10. हरयाणा के गणराज्यों का ह्रास (पतन) तीन चरणों (अवस्थाओं) में हुआ है। प्रथम अवस्था में जन या जनपद के राजतन्त्रात्मक रूप में परिवर्तित होने से गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली को प्रथम आघात लगा, दूसरी अवस्था में छोटे-छोटे गणराज्य बाह्य एवं महाजनपदों के आक्रमणों से समाप्त हो गए तथा तीसरी अवस्था में अन्तिम रूप से गणराज्यों को गुप्त सम्राटों की साम्राज्य-वादी नीति ने समाप्त कर दिया।
11. प्राचीन भारतीय इतिहास को हरयाणा के गणराज्यों का विशेष योगदान रहा है।

उपर्युक्त विषयों पर मैंने मौलिक रूप से सभी प्रकार के पूर्वाग्रह से रहित होकर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया है तथा उपर्युक्त निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ।

भारत और कम्बुज के सम्बन्ध

(300 ई० से 1200 ई०)

शोधकर्ता—जबरसिंह सैंगर
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1982

सारांश

कम्बुज देश में भारतीय संस्कृति का प्रवेश और प्रसार भारतीय इतिहास का स्वर्णिम अध्याय है। भारतीयों ने सदैव 'वसुदैव कुटुम्बकम' और 'इदन्न मम' में विश्वास रख कर कार्य किया है। इसीलिए अति प्राचीन काल से ही भारत ने बदले में कुछ न लेकर विश्व को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने का कार्य किया है। मार्ग की कठिनाइयों की तनिक परवाह न करते हुए भारतीय पण्डित दूर-दूर तक गये। बृहत्तर भारत का निर्माण उन्हीं के अपूर्व त्याग और साहस की कहानी है। कम्बुज में तो भारतीय संस्कृति की छाप इतनी गहरी पड़ी कि वह लघु भारत ही बन गया।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में मैंने भारत और कम्बुज के प्राचीन सम्बन्धों का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्राचीन काल में कम्बुज की भौगोलिक स्थिति एक उजड़े हुए जंगल की थी। वहाँ के निवासी भीलों की भाँति असभ्य और जंगली थे। उनको सभ्य और सुसंस्कृत बनाने का श्रेय भारतीयों को ही है। भारत की सांस्कृतिक धारा धीरे-धीरे कैसे प्रवाहित हुई, यही अध्ययन, प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का विषय है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में कम्बुज का भौगोलिक परिचय दिया गया है जिसके अन्तर्गत कम्बुज के प्राचीन मार्ग, कम्बुज को समुद्र की देन तथा वहाँ के जंगलों का योगदान दर्शाया गया है। भीषण एवं दुर्गम मार्गों को भी पार कर भारतीयों ने अपने जीवन की परवाह न करके जिस प्रकार कम्बुज पहुँचे, यह उनके साहस का प्रतीक है।

दूसरे अध्याय में स्रोत सामग्री का वर्णन है। परम्परा, साहित्य, पुरातत्त्व तथा विदेशी विवरणों के आधार पर ही कम्बुज का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सका है।

तीसरे अध्याय में भारतीय उपनिवेशन के श्रीगणेश की चर्चा है। धार्मिक, आर्थिक, एवं राजनैतिक स्थिति का यथानुसार वर्णन किया गया है। फूनान में पांचवीं शती ईसवी में भारतीय उपनिवेशकों की दूसरी धारा का भी वर्णन किया गया है। उपनिवेशन में सफलता, हिन्दू राज्य की स्थापना, फूनान की समाप्ति, चैन-ला के राज्य का आरम्भ तथा कम्बुज के दो राज्यों आदि का वर्णन किया गया है।

चौथे अध्याय में अंकोर राज्य की स्थापना का अध्ययन किया गया है। कम्बुज के इतिहास में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल था। इस अध्याय में कम्बुज का राज्य विस्तार, प्रशासनिक व्यवस्था, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति आदि की विस्तृत व्याख्या की गयी है। राजाओं की वंशावली एवं उनके काल को भी दर्शाया गया है। अंकोर राज्य में जिन प्रमुख शासकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। उसका विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। यशोवर्मा के कार्यों और उपलब्धियों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

पांचवें अध्याय में कम्बुज में हिन्दू और बौद्ध धर्म की विशद व्याख्या की गयी है। विष्णु और शिव की उपासना, वर्ण व्यवस्था, आश्रम पद्धति के अन्तर्गत तीनों आश्रमों (वैष्णवाश्रम, शैवाश्रम और सौगताश्रम) की विशद व्याख्या की गयी है। बौद्ध धर्म का प्रवेश, तान्त्रिक प्रयोग का प्रार्दुभाव आदि विषयों पर भारतीय प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। भारतीय धर्म ग्रन्थों और साहित्य से प्राप्त उद्धरण जो कम्बुज के अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं—उनकी विशद व्याख्या की गयी है। 'देवराज' सम्बन्धी अवधारणा की विस्तृत समीक्षा भी की गयी है।

छठे अध्याय में भारतीय साहित्य और कला का वर्णन है। तत्कालीन सम्राट विद्यानुरागी थे। संस्कृत साहित्य का सृजन हो रहा था। भारतीय लिपि को अपनाया जा चुका था। विद्वानों का पर्याप्त आदर होता था और राजा भी उनका सम्मान करता था। आश्रम शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी। वेद, वेदांग पुराण, महाकाव्य, बौद्ध ग्रन्थ तथा व्याकरण का अध्ययन प्रचलित था। कला एवं वास्तुकला के क्षेत्र में भारतीय लक्षण अपनाये जा रहे थे। भारतीय मन्दिरों का अनुसरण, बियोन, अंकोरवाट, अंकोरथोम, तथा लोले आदि के मन्दिरों में किया जा रहा था। साहित्य और कला के क्षेत्र में भारतीय योगदान की चर्चा शब्दों के माध्यम से नहीं की जा सकती है।

अन्तिम अध्याय उपसंहार है। इसके अन्तर्गत भारत और कम्बुज के सम्बन्धों को दर्शाया गया है। कम्बुज में शैव धर्म, वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म की समीक्षा की गयी है। धार्मिक क्षेत्र में कम्बुज की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि समन्वय की भावना है। अन्त में आधुनिक कम्बुज की स्थिति संक्षिप्त रूप से चित्रित की गयी है। भारत के शाश्वत मूल्य आज भी वहाँ जीवित हैं। उन्हें केवल प्रगाढ़ करने की आवश्यकता है। उपसंहार के पश्चात सहायक ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गयी है।

मौर्यकाल में नौकरशाही

शोधकर्ता—ललित पाण्डेय
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1982

सारांश

सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात प्राचीन भारत में अनेक ऐसे परिवर्तन हुए जिसके फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। इस काल को भारतीय इतिहास में नव-यौवन का काल कहा जा सकता है। इस काल में चन्द्रगुप्त मौर्य, कौटिल्य व अशोक जैसे व्यक्ति हुए जिन्होंने अपने काल की समस्त राजनीतिक व सामाजिक क्रान्तियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने अपने तर्कसंगत व व्यावहारिक चिंतन के फलस्वरूप प्रशासन सम्बन्धी अनेक उन सामान्य नियमों की स्थापना की जो भारतीय प्रशासन तन्त्र के लिए वर्तमान में भी उपयोगी हैं। इन्हीं कारणों से प्रभावित होकर इस शोध प्रबन्ध में मैंने मौर्यकालीन नौकरशाही का विस्तृत व गहन अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में श्रोत-सामग्री का वर्णन किया गया है। श्रोत-सामग्री के अन्तर्गत इतिहास सम्बन्धी प्राचीन दर्शन की व्याख्या करते हुए प्राचीन भारत में इतिहास व राजशास्त्र के महत्त्व को दर्शाया गया है। इसके उपरान्त मौर्यकालीन साहित्यिक व पुरातात्विक साक्ष्यों का वर्णन करते हुए नौकरशाही से सम्बन्धित आधुनिक यूरोपीय ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय के अन्त में मौर्यकाल की तिथि-मीमांसा की गयी है। तिथि मीमांसा के अन्तर्गत अशोक के राज्यारोहण की तिथि का निर्धारण अशोक के काल में हुए सूर्य ग्रहण के आधार पर किया गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत नौकरशाही की अतीत और वर्तमान के सन्दर्भ में व्याख्या की गई है। अध्याय के प्रारम्भ में प्राचीन भारतीय नौकरशाही सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या है। इसके पश्चात प्रमुख यूरोपीय नौकरशाही सम्बन्धी

सामाजिक प्रतिमानों का वर्णन किया गया है। इन प्रतिमानों के अन्तर्गत मैक्स वेबर के आदर्श प्रतिमान, राबर्ट के० मर्टन के कार्यात्मक प्रतिमान तथा कार्ल मार्क्स के वर्गीय प्रतिमानों की विशद् व्याख्या की गयी है।

तीसरे अध्याय में प्राक्-मौर्यकाल में नौकरशाही के स्वरूप की व्याख्या की गई है। इस अध्याय के अन्तर्गत प्राक्-मौर्यकाल में दोनों प्रकार की शासन व्यवस्थाओं, राजतन्त्रों व गणतन्त्रों में विद्यमान नौकरशाही का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में यह धारणा निश्चित की गयी है कि मौर्यकाल से पूर्व नौकरशाही के विकास के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था तथा इस काल में विद्यमान नौकरशाही प्राचीन रोम या मिश्र की नौकरशाही से अधिक विकसित थी।

चौथे अध्याय के अन्तर्गत सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि मौर्य-कालीन राजनीतिक अवस्था में हुए परिवर्तनों के लिए कोई एक कारक उत्तरदायी नहीं था, अपितु अनेक कारक परस्पर जुड़े हुए समान रूप से उस महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे थे जिसके फलस्वरूप मौर्यकाल में केन्द्रीभूत नौकरशाही का विकास सम्भव हो सका। इस काल में अनेक ऐसे आर्थिक परिवर्तन हुए जिन्होंने समाज में एक ऐसी आर्थिक एकता को जन्म दिया जो सामाजिक व राजनैतिक एकता के अभाव में असम्भव थी।

पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत मौर्यकाल में नौकरशाही के विकास की व्याख्या वेबरीय सिद्धान्त के आधार पर की गई है। इस अध्याय में सर्वप्रथम उन पूर्व-आवश्यकताओं की व्याख्या की गयी है जो किसी भी शासन में नौकरशाही के विकास के लिए आवश्यक मानी जाती है। इसके पश्चात मौर्यकालीन प्रशासन तंत्र का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया गया। मौर्यकालीन प्रशासन तन्त्र के पश्चात यह मत प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है कि इस काल में शासन का नौकरशाहीकरण हो चुका था तथा नौकरशाही का स्वरूप केन्द्रीकृत था। केन्द्रीयकरण की प्रधानता के साथ-साथ इस काल में विकेन्द्रीयकरण के तत्त्व भी विद्यमान थे, परन्तु उनका स्थान गौण था। मौर्यकाल में विकसित नौकरशाही का स्वरूप न्यूनाधिक रूप से मैक्स वेबर के आदर्श-प्रत्यय के समान ही था।

अन्तिम अध्याय उपसंहार है। इस अध्याय के अन्तर्गत नौकरशाही के ऋणात्मक पक्ष का अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले प्रथम विद्वान राबर्ट के० मर्टन के सिद्धान्तों के आधार पर यह मत निर्मित करने का प्रयत्न किया गया कि मौर्यकाल में राबर्ट के० मर्टन के उस चिन्तन का विकास हो चुका था, जो नौकरशाही के कार्यात्मक पक्ष से सम्बन्धित है। कौटलीय अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राबर्ट के० मर्टन के समान कौटिल्य भी नौकरशाही के इस पक्ष से

परिचित थे कि किस प्रकार से इस संगठन के कर्मचारी अपने लक्ष्य से विस्थापित हो जाते हैं तथा मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के विपरीत अपने ही हितों को पोषित करना प्रारम्भ कर देते हैं। इस अध्याय के अन्तर्गत मार्क्स के विलगाववाद की भी समीक्षा की गयी है। मार्क्स व कौटिल्य के चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह मत प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है कि कौटिल्य का चिन्तन मार्क्स के चिन्तन से अधिक पूर्ण तथा कल्याणकारी था। अन्त में मौर्यकालीन नौकरशाही के वर्तमान समय तक निरन्तर रूप से न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ विद्यमान रहने की व्याख्या करते हुए यह मत प्रतिपादित किया गया है कि मौर्यकाल में नौकरशाही संगठन के उस स्वरूप का विकास हो चुका था जो किसी काल और शासन पद्धति के लिए शाश्वत रूप से उपयोगी था। अतः इस नौकरशाही संगठन के अध्ययन और अनुकरण की वर्तमान समय में भी उपयोगिता है। इसका पालन करने से वर्तमान संगठन की अनेक बाधाओं को समाप्त किया जा सकता है जो कि ब्रितानी साम्राज्यवाद के फलस्वरूप उत्पन्न हो गयी हैं।

उपसंहार के पश्चात सहायक ग्रन्थों की सूची दी गयी है।

A HISTORICAL AND CULTURAL STUDY OF PRATIHARA INSCRIPTIONS

Submitted by :
M.K. Narad
Under the Guidence of :
Dr. B. C. Sinha
Year—1983

SUMMARY

The present work is a historical and cultural study of Pratihara Inscriptions. It has not been possible to include all the inscriptions in the present work. Only twenty seven inscriptions of the Pratiharas of Mandor, Broach and Kanauj branches have been selected. The work is based on the comparative study of contemporary evidences such as Inscriptions, Literature and accounts of foreign travellers. Quite a good number of works have been published on the Gurjara Pratiharas ; but, the present work treats the subject in a different way.

This work has been divided into seven chapters. The first chapter which deals with the origin of rise of the Pratiharas clearly shows that they were connected with the Gurjaras. That is why they are called the Gurjar-Pratiharas. The researcher has arrived at a conclusion that the word, 'Gurjara' does not mean that it was an imigrating tribe. On the contrary, it refers to a territory, as found in many epigraphic as well as literary records Gurjaras were not connected with the Hunas, the Khazaras or the other Central Asian tribes who invaded India during the 6th Century A.D. The frequent references of Laksmana, Meghanada and Iskvaku in certain inscriptions also force us to believe that Pratihara too maintain the culture

traditions and heritage of Ancient India. These references do prove that the Pratiharas were a strong and bold people.

Chapter second deals with the inscriptions of the Mandore Branch. In these inscriptions the Pratihara Kings trace their descent from the epic hero, Laksmana the brother of Rama. The Pratiharas of Mandore were the feudatories of the Pratiharas of Kanauj. In the Jodhpur record of Bauka, Kakka the father of Bauka is stated to have given assistance to the Pratiharas of Kanauj and defeated the Gaudas at Mudgagiri. From the date of the record, it is evident that Kakka must have been a contemporary ruler of Nagabhata II. The mention of this struggle is also preserved in the Gwalior Inscription of Bhoja. Common names in the Jodhpur and Ghatiyala Inscriptions as well as in the Gwalior record of Mihirbhoja such as Kakkuka, Nagabhata and Bhoja, clearly show that they were having relations with each other. The original seat of the Pratiharas was Mandayapura. Later on, it was shifted to Bhillamala and finally a permanent capital was established at Medantaka.

The third chapter, which deals with the records of Branch, testifies that Brgukachchha was under the Pratiharas and Dadda I was the progenator of this branch. Most probably, Dadda I was the son of Harichandra of Mandore Branch. Dadda II (Samant) gave shelter and protection to the Valabhi King Dhruvasena II against the mightly emperor Harsa of Kanauj. Dadda II was helped by his lords also. It was the period of Jayabhata IV, when Junaid, the Arab General, marched towards India. Ranagraph, mentioned in Sankheda grant, appears to be either brother or cousin of Dadda II, who was appointed as Incharge of some part of Dadda's II kingdom. Ahirola has been mentioned in the Prince of Wales Museum Inscription as the son of Jayabhata III, who has not been mentioned in any other inscription. It seems Ahirole was the title of Dadda IV, who succeeded Jayabhata III, as Prasantraja and Bahusahaya were the titles of Dadda II and Dadda III respectively. Jayabhata IV was the last ruler of this branch.

In the fourth chapter, a conclusion has been drawn that inspite of the factional fights and the tripatite struggle among

the Palas, Pratiharas and Rastrakutas, the Pratiharas kept united the Northern India. The greatest contribution of Nagabhata I was to check the Tajjikas invasion with the help of Yasovarman. During the period of Mihirbhoja, the Pratihara expire became infested with riches and wealth. However, the Muslim travellers of that time also confirm this statement, though some historians regard Vatsaraja of Osia Temple inscription as Vatsaraja II ; but, the researcher has tried to prove that he was Vatsaraja I, the son of Devasakti of the imperial line of Kanauj.

The fifth chapter deals with the inscriptions of later Pratihara rulers. After Mahendrapala I, his son Bhoja II succeeded him, who was born from Dehangadevi. Bhoja II was succeeded by Mahipala, the another son of Mahendrapala II. Mahipala is also known by his various names in different inscriptions such as Vinayakapala, Herambapala and Kshitipala. The name of the Mahipala's mother is not given anywhere. Mahipala was succeeded by his son Mahendrapala II as depicted in the Pratabgarh stone inscription. After the Mahendrapala II. Devapala and Vinayakapala II succeeded him respectively. Afterwards Vijayapala, Rajyapala and Trilocanpaladeva ascended the throne one by one.

The Sixth Chapter which deals with the cultural history, is based on the inscriptions and literature of the contemporary period. The researcher has drawn conclusion that the society was becoming rigid day by day. In the field of the administration, it was a big achievement of the Gurjara Pratiharas to maintain a strong hold on a vast empire. Administration was also quite sound. The Pratihara kings were very tolerant rulers. Though they had a strong faith in Brahmanism, but never showed any disrespect towards any other religion. Art and literature also flourished during the Pratihara rule. During this period Buddhism was on the decline, but Islam could not get a firm footing in Northern India.

उत्तर भारत की शासन संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन

(चौथी शती ई० पू० से पाँचवीं शती ई० तक)

शोधकर्ता—उषा भसीन
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1983

सारांश

जिस प्रकार वृक्ष का वैभव पुष्प की सुरभि, फलों के माधुर्य एवं काष्ठ की लाभान्विता में निहित है, मानव की महानता उसके चारित्रिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों से आभासित होती है, ठीक उसी प्रकार किसी वंश, काल या राज्य का वैभव उसके राजनीतिक संगठन, सामाजिक आदर्श, साहित्यिक एवं कलात्मक विकास पर अवलम्बित होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के पृष्ठों में झाँककर ऐसा ही युग, जो सब युगों से भिन्न था, मौर्यकाल से गुप्तकाल का दृष्टिगत होता है। मौर्ययुग के संस्थापक के विषय में विन्सेट-स्मिथ ने लिखा था कि—

"दो हजार से भी अधिक वर्ष हुए, भारत के प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था, जिसके लिए ब्रिटिश उत्तराधिकारी आहें भरते रहे व मुगल सम्राटों ने सोलहवीं एवं सत्रहवीं शती में कभी पूर्णता को प्राप्त न किया।" भारत के ज्ञात ऐतिहासिक कालों में मौर्य सम्राटों ने ही सर्वप्रथम सार्वभौम सत्ता की स्थापना की तत्पश्चात गुप्त सम्राटों ने अपनी साधारण सैनिक शक्ति द्वारा शस्त्रों की विजय का संकल्प छोड़कर भारतीय धर्म, संस्कृति, सभ्यता के प्रसार एवं सम्वर्द्धन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगाकर स्वर्णयुग की संज्ञा को प्राप्त किया।

वर्तमान संघर्षमय युग में आकस्मिक राजनीतिक परिवर्तनों को दृष्टिगत करते प्राचीन शासन पद्धति से आधुनिक शासन-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। चौथी शती ई० पू० से पाँचवीं शती तक के सम्राटों ने विश्व

की तत्कालीन समस्याओं का निराकरण कैसे किया और किस प्रकार सुदृढ़ शासन की स्थापना की, इस प्रकार के सभी प्रश्नों का उत्तर उस युग की शासन संस्थाओं के व्यवस्थापन में निहित है। यदि उस युग की समस्त शासन संस्थाओं का अध्ययन आधुनिक परिवेश की स्थापित शासन संस्थाओं के साथ किया जाये तो ज्ञात होगा कि आधुनिक शासन-पद्धति का आधार पुरातन शासन पद्धतियाँ और शासन संस्थाएँ ही हैं, फलतः प्रस्तुत शोधकार्य में मौर्ययुग से—गुप्तयुग की उन्हीं शासन संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य को सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय में मौर्यकाल से गुप्तकाल तक के प्रमुख राजवंशों तथा सम्राटों का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय, उत्पत्ति, विकास, महत्त्व व तदोपरान्त पतन का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में इस युग के केन्द्रीय शासन के स्वरूप पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए विभिन्न राजवंशों में सम्राट की स्थिति व मन्त्रिपरिषदों की आवश्यकता, स्वरूप एवं ऐतिहासिक महत्त्व का विवेचन किया गया है। इस युग में राजाओं द्वारा गौरवशाली और बड़े-बड़े पद धारण करने की प्रवृत्ति थी। मौर्ययुग के अन्य शासक व अशोक केवल राजा की उपाधि से ही सन्तुष्ट है, किन्तु इस युग में कनिष्क आदि राजाओं ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण। अशोक ने स्वयं को देवताओं का प्रिय कहा, लेकिन कनिष्क ने स्वयं को देवपुत्र की उपाधि द्वारा देवताओं की सन्तान होने का दावा किया। यह देवत्व की कल्पना इस युग की नवीन देन थी। अधिकांश स्मृतिकारों व मनु ने स्वयमेव राजा की विद्वत्ता को प्रतिपादित करते हुए राजा की निरंकुश सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाये। व राजा के परामर्श हेतु मन्त्रिपरिषद के अस्तित्व को आवश्यक बताया।

तृतीय अध्याय में प्रांतीय शासन एवं उससे सम्बन्धित प्रमुख अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। साम्राज्यों की विशालता के कारण शासन संचालन की सुविधा की दृष्टि से इस युग में सत्ता का विकेन्द्रीयकरण प्रान्तों में किया गया था व पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।

चतुर्थ अध्याय में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का विशद् विवरण प्रस्तुत किया गया है इस युग में भारत में राज्यों के केन्द्र में चाहे जिस प्रकार की भी प्रशासनिक स्थिति रही हो, चाहे राजतन्त्र हो, कुलीनतन्त्र हो, ध्वनितन्त्र हो, अथवा जनतन्त्र हो, परन्तु स्थानीय स्तरों पर निश्चित रूप से जिस प्रकार के शासन का उल्लेख हमें विभिन्न नीतिशास्त्र एवं अभिलेखों द्वारा प्राप्त होता है वह जनता द्वारा शासित व्यवस्था ही थी। इन स्थानीय संस्थाओं का महत्त्व अक्षुण्य रहा, साम्राज्यों के बनने या बिगड़ने का इन पर प्रभाव नहीं पड़ा इन संस्थाओं की रचना, कार्यों व

क्षेत्र में केन्द्रीय शासन किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करता था।

पंचम अध्याय में न्यायिक व्यवस्था का अध्ययन किया गया है। उस समय न्याय के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रचलित थे, वह पूर्णतः मानवीयता, औचित्य, सामाजिक परम्परा और सबसे ऊपर धर्म पर आधारित था। यद्यपि समस्त न्याय सम्राट के नाम पर किया जाता था, किन्तु स्वयं सम्राट भी कानून के अधीन था। यद्यपि राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था तथापि नीतिशास्त्रों में बार-बार यह लिखा है कि राजा को न्याय करते समय स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए। न्याय देने की शक्ति राजा सहित न्याय सभा नें होती थी। कानून बनाने की शक्ति राजा के पास न के बराबर थी, वह पराश्रित था, वह धर्म के अधीन था। न्यायिक क्षेत्र में उसकी सहायतार्थ अन्य महत्वपूर्ण न्यायालयों व केन्द्र से लेकर स्थानीय स्तर तक की संस्थाएँ थीं।

षष्टम अध्याय में मौर्यकाल से गुप्तकाल तक के प्रमुख गणतन्त्रों व उनकी शासन-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। यद्यपि इन गणराज्यों को विजिगोषू व साम्राज्यवादी सम्राटों ने विजित किया परन्तु इनमें व्याप्त स्वतन्त्रता व प्रथकता की भावना का अन्त न कर सके। ये गणराज्य मौर्यकाल के क्षीण होते ही पुनः अस्तित्व में आ गये। किन्तु गुप्तकालीन साम्राज्यवाद की चपेट में पुनः आ गये। गुप्तराजाओं के साथ-साथ ही विश्व के अन्य देशों की भांति इस देश में सामन्तवादी व्यवस्था व्याप्त हो गयी।

अन्तिम अध्याय उपसंहार का है, इस अध्याय में मौर्यकाल से गुप्तकाल तक की महत्त्वपूर्ण शासन संस्थाओं का तुलनात्मक स्वरूप एवं विशेषताओं का उल्लेख करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस अंश तक आधुनिक पद्धति, प्राचीन शासन पद्धतियों से प्रभावित हुई है। आधुनिक केन्द्रीय शासन पद्धति, प्रान्तीय शासन पद्धति, स्थानीय स्वशासन व न्यायिक व्यवस्था का यदि पूर्णरूपेण तुलनात्मक अध्ययन मौर्ययुग से गुप्तयुग की पद्धति से किया जाये, तो स्पष्ट है कि हम उस प्राचीन शासन पद्धति के आभारी हैं जिसने हमारा मार्गदर्शन किया है। केवल आवश्यकता है कुछ परिवर्तनों की।

आज हम स्वतन्त्र होकर नवभारत के निर्माण के पाश्चात्य शासन-पद्धति को अपनाना चाहते हैं। किन्तु इस क्षेत्र में अपनी प्राचीन शासन पद्धति को भुला देना उचित न होगा। इस प्राचीनता को नवीनता में प्रत्यावर्तित करना होगा। कोई भी शासन पद्धति क्यों न हो, कोई भी तन्त्र क्यों न हो, उसकी सफलता की मात्रा कसौटी यही है कि वह मानव की सुख-समृद्धि में कहाँ तक सहायक है। इस कसौटी पर मौर्यकाल से गुप्तकाल तक की शासन-व्यवस्था खरी उतरती है, इस युग की श्रेष्ठता का कारण इस युग की वह भावनाएँ हैं, व व्यावहारिक क्रियात्मकता है, जिसे विश्व कभी सीमित नहीं कर पाया। जिसकी व्यापकता को न क्रूर काल ही सीमित

कर सका और न मानव की कृत्रिम भौगोलिक सीमाओं में बाँटनेवाली परम्परा अथवा साम्प्रदायिकता एवं जातीयता ही दूषित कर सकी। यही कारण है, उस युग की कृतियों का मूल्यांकन न कभी पुराना हुआ और न कभी होगा।

आज की परिस्थितियों में जबकि मानव जाति युद्धों की बर्बरता, साम्प्रदायिकता एवं जातीयता के संघर्षों के परिणामस्वरूप सिसकियाँ भर रही है। मौर्ययुग से गुप्तयुग के सम्राटों एवं शासन संस्थाओं का अनुकरण व अध्ययन अनिवार्य हो गया है। हमारा कर्तव्य है कि हम उस युग की शासन प्रणालियों को समझकर परिवर्तित परिस्थितियों में लागू करने की चेष्टा करें।

प्राचीन भारत में सम्प्रभुता का विकास

(वैदिक काल से गुप्त काल तक)

शोधकर्ता—राकेशकुमार
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1984

विषय-क्रम

अध्याय षष्ठ—गुप्तकाल में सम्प्रभुता

गुप्त राजवंश
गुप्तकाल में राजा
मन्त्रिपरिषद तथा उच्चाधिकारी
सामन्त पद्धति का उदय
सम्प्रभुता की अवधारणा

अध्याय सप्तम—उपसंहार

संक्षेपिका

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सम्प्रभुता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों की संरचना के समय सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का पर्याप्त विकास हो चुका था। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय अवधारणा तथा आधुनिक अवधारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रजातान्त्रिक देशों में सम्प्रभुता का निवास जनता में ही समझा जाता है, यह बात प्राचीन भारत के सम्बन्ध में भी भली प्रकार से चरितार्थ होती है। भले ही प्राचीन काल में अपने देश में राजतन्त्रात्मक पद्धति का बोलबाला रहा है किन्तु राजा के निरंकुश अधिकारों पर सदैव नियन्त्रण लगाने का भी प्रयास हुआ है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि शक्तिशाली सम्राट को भी प्रजा ने जब चाहा तो पदच्युत कर दिया। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन काल में सम्प्रभुता का निवास जनता में ही था।

इस शोध प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय स्रोत सामग्री से सम्बन्धित है। सामान्य रूप से ऐसा समझा जाता है कि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन की दिशा में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया किन्तु यह मत भ्रामक है। प्राचीन काल में राजनीतिशास्त्र को राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजधर्म नामों से सम्बोधित किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विद्या का जो विभाजन किया है उसमें दण्डनीति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी उल्लेख आया है कि दण्ड द्वारा अदान्त लोगों का दमन किया जाता है। मनुष्यों में अराजकता को रोकने तथा आर्थिक संरक्षण प्रदान करने के लिए जिस मर्यादा की स्थापना की जाती है उसे ही दण्ड कहते हैं। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है कि दण्ड ही धर्म और राजा है। इन विवरणों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों के दृष्टि-

कोण में दण्डनीति और राजधर्मशास्त्र का बड़ा महत्व था। प्राचीन हिन्दुओं ने अपने धर्मग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी राजा, सभा, समिति एवं राज्य सम्बन्धी अन्य विषयों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वास्तविकता तो यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में अमूल्य ऐतिहासिक निधि निहित है और राजनीति चिन्तन के क्षेत्र में इसने विशेष योगदान दिया है। विवेचन की सुविधा की दृष्टि से भारतीय इतिहास से सम्बद्ध इस विलक्षण साहित्य को निम्न प्रकार से विभक्त किया है।

(1) वैदिक साहित्य
(2) महाकाव्य
(3) धर्मशास्त्र एवं पुराण
(4) बौद्ध ग्रन्थ
(5) जैन ग्रन्थ
(6) कौटिल्य अर्थशास्त्र
(7) नीतिशास्त्र
(8) अन्य साहित्य
(9) पुरातात्त्विक साक्ष्य

द्वितीय अध्याय में सम्प्रभुता का अध्ययन अतीत और वर्तमान सन्दर्भ में किया गया है। प्राचीन अवधारणा के प्रसंग में वैदिक काल का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वास्तविक सम्प्रभु प्रजा ही थी परन्तु वह अपनी सुविधा के लिए राजा को अपने अधिकारों से सुसज्जित कर देती थी। वैदिककालीन सभा और समिति नामक दो लोकप्रिय संस्थाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रजा के प्रतिनिधियों का राजा के ऊपर पर्याप्त अंकुश था। महाकाव्यों के काल में भी अनेक ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जिनसे बोध होता है कि सम्प्रभुता का निवास जनता में ही था। महाजनपदों के काल में जब मगध का उत्कर्ष हुआ और एक साम्राज्य का विकास हुआ तो यह भ्रम उत्पन्न हुआ कि सम्प्रभुता राजा में निवास करनेलगी किन्तु यह धारणा भ्रमातमक है। शोध प्रबन्ध में यह सिद्ध करने का विनम्र प्रयास किया गया है कि साम्राज्यवाद के काल में भी सम्प्रभुता प्रजा में ही निहित थी। मौर्य राजवंश और गुप्त राजवंश के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है।

सम्प्रभुता सम्बन्धी आधुनिक अवधारणा का अध्ययन करते हुए यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि आधुनिक राज्यों के सम्प्रभु होने का विचार ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। यद्यपि 'सम्प्रभुता' शब्द का प्रयोग बौदां ने किया परन्तु सर्वोच्च सत्ता का विचार अरस्तु में भी दृष्टिगोचर होता है। हाब्स ने यह मत प्रतिपादित किया कि राजा सर्वोपरि है और इसकी इच्छा ही कानून है। हाब्स के पश्चात् लाक, रूसो और माण्टेस्क्यू आदि ने सम्प्रभुता के सिद्धातों को विकसित किया। परन्तु इसे कानूनी आवरण पहनाने का कार्य प्रसिद्ध न्यायशास्त्री जान-

आस्टिन ने किया।

तृतीय अध्याय में, वैदिक युग में सम्प्रभुता के स्वरूप, विकास एवं अवधारणा पर विचार किया गया है। आरम्भ में वैदिक ग्रन्थों का तिथिक्रम निर्धारित करते हुए वेदकालीन राज्य के स्वरूप की समीक्षा की गयी है। वेदों में जिस प्रकार के राजनीतिक संगठनों का उल्लेख आया है उनके सम्बन्ध में भी विस्तार से विचार किया गया है। सभा और समिति का जो राजनीतिक महत्व इस समय था उसे भी स्पष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय के अन्त में वैदिक युग में सम्प्रभुता की अवधारणा पर व्यापक रूप से विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में प्राग्-मौर्यकाल में सम्प्रभुता का अध्ययन किया गया है। मौर्यों से पूर्व रामायण, महाभारत तथा बौद्धकालीन गणराज्यों के सम्बन्ध में विचार करते हुए सम्प्रभुता के स्वरूप और उससे सम्बन्धित विभिन्न बातों की समीक्षा की गयी है। मगध में साम्राज्यवाद का जब उत्कर्ष हुआ और सम्प्रभुता के सम्बन्ध में जो विभिन्न विचार विद्यमान थे उनका भी अध्ययन किया गया। इस अध्याय के अन्तर्गत अपना यह विनम्र मत रहा है कि सम्प्रभुता इस काल में भी जनता में निहित थी।

पंचम अध्याय 'मौर्यकाल में सम्प्रभुता' का विस्तृत अध्ययन है। यह बात सर्वविदित है कि चौथी सदी ई०पू० का समय भारतीय इतिहास में ही नहीं वरन् विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल था। इस समय ग्रीस के नगर राज्यों का अन्त हुआ और मकतूनिया के नेतृत्व में एक संगठित राज्य की स्थापना हुई। लगभग इसी समय मध्यपूर्व में फारसी साम्राज्य का पतन हुआ और रोम का उत्कर्ष एक प्रबल शक्ति के रूप में हुआ। उसी काल में भारत में भी एक ऐसे विशाल और संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई जैसा पहले नहीं सुना गया था। मौर्य शासक नन्दवंश का पतन देख चुके थे। अतः उन्होंने प्रजा का कल्याण अपना सर्वोच्च उद्देश्य स्थिर किया था। जब तक मौर्य शासकों ने प्रजा के हित का चिन्तन किया उनका साम्राज्य सुरक्षित बना रहा किन्तु अशोक की मृत्यु के बाद उसके अयोग्य उत्तराधिकारों ने प्रजा के हित की अवहेलना की तो मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया। अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने की। मौर्यों के राज्यकाल पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में भी सम्प्रभुता जनता में ही निहित रही।

षष्ठ अध्याय में 'गुप्तकाल में सम्प्रभुता' का विशद अध्ययन किया है। जिस प्रकार मौर्यकाल में राजा की स्थिति कूटस्थनीय थी उसी प्रकार गुप्त काल में भी राजा की स्थिति केन्द्रीय थी। इसी प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मौर्यकाल में सम्प्रभुता का निवास राजा में था उसी प्रकार गुप्तकाल में भी यह स्थिति बनी रही। गुप्तकालीन नरेश प्रजा के हितों की रक्षा करना तथा उसके

सुख-समृद्धि का ध्यान रखना अपना परम कर्तव्य मानते थे। शासन में सर्वोच्च स्थिति रखते हुए भी वे प्रजा के प्रति भी अपने को उत्तरदायी मानते थे। इसी अध्याय में सामन्त पद्धति के उदय पर भी प्रकाश डाला गया है।

सप्तम अध्याय उपसंहार है। संक्षिप्त रूप से इस अध्याय में यह सर्वेक्षण किया गया है कि वैदिककाल से गुप्तकाल तक सम्प्रभुता का निवास जनता में ही रहा है। कभी-कभी ऐसे अवसर प्रस्तुत हैं जब राजा के अधिकारों में वृद्धि के कारण उसे ही सम्प्रभु माना गया किन्तु ऐसा मत सदैव भ्रामक सिद्ध हुआ है क्योंकि शक्तिशाली से शक्तिशाली नरेश भी यदि सम्पूर्ण प्रजा के रोष का भागी बना तो उसका बध किया गया अथवा उसे पदच्युत कर दिया गया। निष्कर्ष यही है कि प्राचीनकाल में सम्प्रभुता का निवास जनता में ही रहा है।

मौर्यकालीन राजनीतिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ऋषि दयानन्द के राजदर्शन का अध्ययन

शोधकर्ता—साधना सिपाहा
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1984

सारांश

चौथी शती ईसा पूर्व का काल भारतीय इतिहास में ही नहीं वरन विश्व के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण काल है। इसी समय ग्रीस के नगर राज्यों का अन्त हुआ और मकदूनियाँ के नेतृत्व में एक संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई। लगभग इसी समय फारसी साम्राज्य का पतन हुआ और रोम का एक प्रबल शक्ति के रूप में उत्कर्ष हुआ। इसी काल में भारत में भी ऐसे विशाल और संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई, जैसा पहले नहीं सुना गया था। डा० पानिक्कर के अनुसार इसी समय योरोप, मध्य-पूर्व और भारतीय इतिहास की भावी रूपरेखा स्थिर हुई।

भारतीय इतिहास में मौर्यकाल का एक विशेष महत्व है। इस समय पहली बार लगभग समस्त भारत एक राजनीतिक सत्ता के नीचे संगठित हुआ। देश के बाहर भी भारत को एक महान राजनीतिक शक्ति देने का गौरव प्राप्त हुआ। यूनानियों ने अबकी बार जब इस देश पर आक्रमण किया तो उन्हें बुरी तरह परास्त होना पड़ा। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भी मौर्यों की देन अमिट है। उन्होंने शासन की जो पद्धति विकसित की, छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ वह अंग्रेजी शासन काल तक चलती रही। मौर्ययुग के समान विराट सीमाएँ इस देश की न पहले थीं, न मुगल काल में कभी हुईं, न ब्रिटिश भारत में और न ही आज के भारत में हैं। यह सब एक सुदृढ़ राजनीति में परिपक्व समुदाय ही कर सकता था। इस शोध प्रबन्ध का विषय मौर्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन है। साथ ही स्वामी दयानन्द के राजदर्शन की मीमांसा भी की गयी है।

इस शोध प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय शोध सामग्री से सम्बन्धित है। विदेशी तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने यह मत प्रगट किया है कि प्राचीन भारतीय इतिहास लिखने की कला से परिचित नहीं थे, किन्तु यह विदेशी विद्वानों की एक राजनीतिक दुरभि-सन्धि थी जिसके भ्रमजाल में कुछ भारतीय विद्वान भी भटक गये। विदेशी विद्वानों ने यह भी लिखा है कि प्राचीन भारतीय केवल परलोक की चिन्ता में ही व्यस्त रहते थे तथा इहलोक के विषय में अधिक ध्यान नहीं देते थे। इसलिए धर्म की तरफ उनका ध्यान अधिक रहा, यह उक्ति भी भ्रामक है। इस अध्याय में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि धर्म, राजनीति तथा इतिहास का एक-दूसरे से प्रगाढ़ सम्बन्ध है तथा इनको अलग नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य देशों के विद्वान भले ही यह प्रचार करते रहे कि इन तीनों को एक-दूसरे से अलग होना चाहिए पर वे स्वयं भी इन तीनों को अलग-अलग प्रतिष्ठित नहीं कर पाये। मनुस्मृति, महाभारत के शान्तिपर्व, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा शुक्र-नीतिसार में दण्ड-नीति को देश के उत्थान तथा प्रगति के लिए और अराजकता को मिटाने के लिए प्रमुख स्थान दिया गया है। दण्डनीति को इन्होंने धर्म और इतिहास से जोड़ दिया है। चाणक्य तो इतिहास को इतना महत्व देते हैं कि उन्होंने इतिहास को पाँचवाँ वेद मान लिया। सत्य तो यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में अमूल्य ऐतिहासिक निधि सुरक्षित है तथा भारत के ही नहीं वरन विश्व के राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उनका विशेष योगदान रहा है। मौर्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन से सम्बन्धित साहित्य को निम्न प्रकार से विभक्त किया गया है—

1. कौटलीय अर्थशास्त्र
2. संस्कृत ग्रन्थ
3. बौद्ध ग्रन्थ
4. जैन ग्रन्थ
5. विदेशी विवरण
6. पुरातात्विक सामग्री
7. स्वामी दयानन्द और उनकी रचनाएँ।

दूसरे अध्याय में राजा और राज्य के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। इनसे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों की आलोचनात्मक व्याख्या की गयी है। इसी अध्याय में राजपद के महत्व की मीमांसा भी की गयी है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने राज्य को सप्तांग मानकर उसके महत्व पर विशद रूप से विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार शरीर में सब अंग मिलकर काम करते हैं, वैसे ही राज्य के सातों अंग मिलकर चलने से ही पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। वह राज्य नहीं चल सकता, जिसका कोई अंग दूषित हो गया हो। अन्त में यह बतलाया गया

है कि राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए, उनके एक-दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य होते हैं तथा उपरोक्त विषय पर स्वामी दयानन्द के क्या विचार हैं।

तृतीय अध्याय में मन्त्रिपरिषद का विशद रूप से विवेचन किया गया है। मौर्य युग की मन्त्रिपरिषद को जानने से पहले इस अध्याय में मन्त्रिपरिषद की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। विद्वान काशीप्रसाद जायसवाल तथा राय के अनुसार प्रथम संस्था विदथ थी, जिससे सभा और समिति का उदय हुआ। वैदिक युग में राजनः राजकृतः वे व्यक्ति होते थे, जो समिति के सदस्य के रूप में राजा को राजचिह्न प्रदान करते थे। उत्तर वैदिक युग में इन व्यक्तियों का स्थान रत्नियों ने ले लिया। रत्नियों की संख्या बारह होती थी तथा प्रत्येक रत्नि अपने विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। रत्नियों और उनके विभागों के अध्ययन से भविष्य में बननेवाले मन्त्रिमण्डल का आभास होने लगता है। जिस प्रकार राजनः राजकर्ता का स्थान रत्नियों ने ले लिया, उसी प्रकार समिति का स्वरूप भी बदला। जायसवाल के अनुसार परवर्ती काल में समिति के स्थान पर परिषत् (परिषद) आ गयी। अल्तेकर भी रत्नियों को राजपरिषद का सदस्य मानते हैं। सभा और समिति के साथ ही पौर-जानपद का वर्णन किया गया है। इसे कुछ विद्वानों ने लोकसभा के तुल्य माना है तथा राजा और जानपद की सहमति से ही मन्त्रिमण्डल को गठित करने की शक्ति प्राप्त कर सकता था। मौर्य युग तक यह संस्थाएँ अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हो चुकी थीं। जब चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने नन्दों के विरुद्ध क्रान्ति करके उनका विनाश कर दिया तब उन्होंने इन्हीं संस्थाओं के कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए मन्त्रिमण्डल का गठन किया होगा। चाणक्य ने कार्य की सुविधानुसार मन्त्रियों की संख्या रखने का सुझाव दिया है। इसी अध्याय में यह उल्लेख भी किया गया है कि मन्त्री तथा महामात्य पर्यायवाची हैं तथा इनका चयन प्रधानमन्त्री की सहायता से ही मौर्य युग में किया जाता था। इनकी संख्या अठारह थी तथा अपने-अपने विभागों के ये अध्यक्ष थे। ये व्यक्ति जिन गुणों तथा योग्यता के आधार पर चुने जाते थे, उसका वर्णन भी विशद रूप से किया गया है। आगे चलकर राजा और मन्त्रिपरिषद के आपसी सम्बन्ध, एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र तथा एक-दूसरे पर नियंत्रण रखने से सम्बन्धित विषय को स्पष्ट किया गया है। अन्त में मन्त्रिपरिषद के विषय में स्वामी दयानन्द के विचार दिये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय में मौर्ययुग की न्याय-व्यवस्था की समीक्षा की गई है। जब तक अर्थशास्त्र का अध्ययन न किया जाये, यह सोचा भी नहीं जा सकता कि प्राचीन युग में आज के युग से भी अधिक उन्नत तथा सरल न्याय-व्यवस्था उपलब्ध थी। मौर्य युग में न्यायालयों की स्थापना, जनसंख्या के अनुसार की गई थी। जनसंख्या के आधार पर सबसे छोटी इकाई ग्राम थी जिसमें सौ से चार सौ परिवारों का निवास होता था। हर ग्राम में एक न्यायालय होता था। दस ग्राम मिलकर एक संग्रहण

बनता था। ग्राम न्यायालयों के ऊपर संग्रहण न्यायालय थे। दस संग्रहणों को मिलाकर एक खर्वाटक बनता था। संग्रहण न्यायालय के ऊपर खर्वाटक न्यायालय होता था। आठ खर्वाटकों को मिलाकर एक जनपद बनता था। खर्वाटक न्यायालय के ऊपर जनपद सन्धि का न्यायालय होता था। समस्त जनपद न्यायालयों के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होता था, जो राजधानी पाटलिपुत्र में स्थापित था तथा राजा के अन्तर्गत कार्य करता था। इस तरह का सुविधाजनक तथा सर्वांगी न्याय व्यवस्था आज भी उपलब्ध नहीं है। ग्राम तथा राजा के न्यायालय को छोड़कर सभी न्यायालय दो प्रकार के होते थे। धर्मस्थीय जिन्हें आज की भाषा में दीवानी न्यायालय कहा जाता है तथा कण्टकशोधन जो आधुनिक युग में फौजदारी न्यायालय कहलाते हैं। इस अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था, जैसा आजकल हमारे प्रजातन्त्र में राष्ट्रपति है। सर्वोच्च न्यायाधीश के विवरण के बाद विधि के चार अंगों धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राज शासन का विशद रूप से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात न्यायिक प्रक्रिया का ब्यौरा दिया गया है, जिसे पढ़कर अब भी सुखद अनुभूति होती है। न्यायालय सुबह प्रातः ही खुल जाते थे। मुकदमा प्रस्तुत होने से पहले न्यायालय का लेखक मुकदमे के सम्पूर्ण विवरण, जिसमें तिथि, कारण, अधिकरण (घटनास्थल), ॠण की मात्रा, वादी और प्रतिवादी का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम तथा पेशा और उन दोनों की युक्तियों का पूरा विवरण लिखता था। साक्षी को गवाही देने से पहले सत्य बोलने की शपथ लेनी होती थी। मुकदमे के प्रतिवादी को अपना पक्ष तैयार करने के लिए केवल सात दिन का समय दिया जाता था। मुकदमों की सुनवाई न्यायाधीश के साथ तीन न्यायाधिकारी व तीन सभ्य (जूरी) करते थे, जिससे न्याय निष्पक्ष हो सके। कोई भी व्यक्ति यदि नीचे के न्यायालयों के न्याय से सन्तुष्ट न हो तो वह सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर सकता था। आधुनिक युग में भी यही पद्धति देखने को मिलती है, अन्तर केवल इतना है कि मौर्ययुग में न्याय निष्पक्ष तथा जल्दी मिलता था तथा आज वह स्थिति नहीं है। मौर्य युग में शारीरिक दण्ड तथा अंग भंग के निर्देश भी मिलते हैं। मृत्यु देने के तरीके भी अपराधों के तरीके के अनुसार नियत किये जाते थे। यह सब इसलिए किया जाता था, जिससे अपराधियों के हृदय में न्याय के प्रति डर रहे तथा वे न्याय का सम्मान करना सीखें। आज का न्याय इन तरीकों को नकारता है यही कारण है कि आज के युग में अपराध बढ़ रहे हैं और न्याय मखौल बनकर रह गया है। अध्याय के अन्त में न्याय व्यवस्था के बारे में स्वामी दयानन्द के विचार दिये गये हैं।

पंचम अध्याय भू-स्वामित्व और कर-प्रणाली से सम्बन्धित है। इस अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि भूमि का स्वामी कौन होता था। कहलाने को तो सारी भूमि पर राज्य का अधिकार होता था, परन्तु राजा इस भूमि का स्वामी

नहीं होता था। भूमि जोतनेवाले की ही होती थी तथा उसे राज्य की सहमति से बेचने तथा खरीदने का अधिकार होता था। इसी प्रकार राजा तथा उसके रिश्ते-दारों की अपनी निजी स्वामित्व की भूमि हो सकती थी। राज्य के स्वामित्ववाली भूमि सीता कहलाती थी। राजकीय भूमि में से कुछ भूमि ऋत्विक, आचार्य, पुरो-हित तथा श्रोत्रिय आदि को इस प्रयोजन से दी जाती थी, जिससे वे अपना जीवन-निर्वाह तथा धार्मिक अनुष्ठान व मन्दिरों का रख-रखाव कर सकें। यह भूमि ब्रह्म-देय कहलाती थी। जिस भूमि पर राज्य का स्वत्व नहीं होता था, उस भूमि के स्वामी प्रजा के लोग होते थे, जिस पर कृषक स्वयं अथवा कर्मकारों द्वारा खेती कर-वाता था। इससे जो उपज होती थी, उसमें से एक निश्चित अंश राज्य को देना होता था, जो 'भाग' कहलाता था। इसी अध्याय में बलि, शुल्क-कर, तर-कर, आकर-कर, दण्ड-कर तथा तट कर का विस्तृत वर्णन किया गया है। कर लेने के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रत्यक्ष करों में व्यापारियों के तोल और माप के बाँटों पर कर लिया जाता था। यदि तोल और माप गलत पाये जाते थे तो उन पर अर्थदण्ड देना होता था। दूसरा प्रत्यक्ष कर द्यूत पर था। इसी प्रकार वेश्याओं, गणिकाओं, नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, प्लवक, सौभिक तथा चारणों आदि से भी प्रत्यक्ष कर लिया जाता था। चिकित्सक, धोबी, सुनार, आदि को भी प्रत्यक्ष कर देना होता था। अर्थशास्त्र में आपातकालीन कर लेने की व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है। अन्त में कर सम्बन्धी सिद्धान्तों पर स्वामी दयानन्द के विचार दिये गये हैं।

षष्ठ अध्याय में मौर्यकाल की सैन्य व्यवस्था का वर्णन निहित है। मौर्यों की सेना विशाल थी, जिसके बल पर उन्होंने एक बहुत बड़े भू-भाग पर नियन्त्रण कर रखा था। इसी विशाल सेना की वजह से मौर्ययुग में किसी बाहरी शत्रु की इस देश पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं हुई। सैन्य व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वप्रथम युद्ध विभाग का वर्णन है। तत्पश्चात् सेना के पाँचों अंगों का वर्णन है जिसमें सबसे अधिक महत्त्व हस्ति सेना को दिया गया है तथा सबसे कम महत्व नौ सेना को दिया गया है। यूनानी विवरणों में युद्ध-मैदान में घायल सैनिकों की चिकित्सा का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसका विशद रूप से वर्णन किया गया है। इसको हम सेना का छठा अंग मान सकते हैं और आधुनिक युग की आर्मी मेडिकल कोर से तुलना कर सकते हैं। इसी अध्याय में सेना के काम में आनेवाले अस्त्र-शस्त्रों तथा अन्य उपकरणों का समावेश भी है। ये कई प्रकार के होते थे, जैसे—स्थिर यन्त्र, चल यन्त्र, धारवाले तथा नुकीले आयुध, विभिन्न प्रकार के धनुष, क्रकच आयुध तथा पत्थर फेंकने के कई तरह के यन्त्र थे। अन्य उपकरणों में विभिन्न प्रकार के लौह-जाल, कवच, शिरस्त्राण, तथा कण्ठत्राण आदि का वर्णन है। इसी अध्याय में विभिन्न प्रकार के युद्धों तथा रासायनिक युद्धों का उल्लेख किया गया है।

युद्धों के प्रकार के बाद विभिन्न प्रकार के व्यूह, उनकी रचना तथा उनके भेद और प्रभेद का वर्णनकिया गया है । साथ ही युद्ध नीति, युद्ध में हारे हुए सैनिकों तथा प्रजा के साथ विजयी राजा को कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका भी उल्लेख किया गया है । मौर्य युग के युद्ध और अस्त्र-शस्त्र आधुनिक युग के समान नहीं थे, न ही उस समय वायु सेना तथा आकाश युद्ध होते थे । मौर्य युग की नौ-सेना भी आज के समान उन्नत नहीं थी । यह अन्तर काल की गति तथा आधुनिक विज्ञान की उन्नति के कारण हैं । अध्याय के अन्त में स्वामी दयानन्द की दृष्टि में युद्ध और उसके परिणामों पर विचार किया गया है ।

शोध प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय उपसंहार है । इसमें प्रथम छः अध्यायों का सारतत्व प्रस्तुत किया गया है ।

THE EVOLUTION OF INDIAN CULTURE IN BALI

Submitted by :
I Gusti Putu Phalgunadi
Under the Guidence of :
Dr. B. C. Sinha
Year—1984

SUMMARY

The Evolulion of Indian Culture in Bali Passed through many phases. In certain fields the impact was direct and in many others indirect one. In the first chapter, an attempt has been made to show the background of the Baliness culture and the people before the coming of the Hindu influence. The Pre-Hindu people of Bali had a strong spiritual learning and the basic values of their culture survives till today. It is an important point to note that the principal geographical and ethnic factors are very important for understanding later historical and cultural development in Bali. When Hindu culture spread to Bali the Balinese tried to mingle it with their indigenous religion and traditions through the process of assimilation. This is a significant trait of the Balinese character.

The second chapter is devoted to the first Indian immigrants. It has been shown, that Hindu contact with Indonesia was made some centuries before the beginning of the Christian era. Bali was directly Hinduized in early years of the Christian era from India. It was not much influenced by Java before eight century A.D. The Hindu culture migrated from coastal areas of India. It is clear that the South Indian people were the first to carry the Hindu culture to Bali. This culture was

gradually assimilated by the pre-Hindu people of the land. They adopted Sanskrit and Dravidian language and enriched the Balinese (Austronesian) vocabulary. Many Dravidian words are still in use such as Putu and Ktut. The name Murugan (ephitet of Karttikeya) is common both in Bali and Tamil country. The style of using traditional dress and flowers, the custom of erecting "Penjor" (Bamboo-stambha), the art of "Paku-pipid" (palmleaves) and the marriage-pledge along with its procession indicate Tamil influence.

The third chapter contains a study of Political history of Bali. During the later half of the sixth century A.D. the great powers were rising in the two parts of Indonesia. In the western part we see the Srivijaya empire. Later on Java became powerful under the Sanjaya dynasty. Bali was growing powerful under a Ksatriya dynasty. They were the indigenous people of Bali who had Indian blood. They were coronated as kings by the Brahmanas. The Balinese kings had close relations with the Chinese emperors. Embassies to China were sent regularly. It appears that the Balinese kingdom was developing independently. This klngdom continued to be quite powerful till third quarter of the eight century A.D. Before the end of the eight century A.D., Bali was conquered by Hindu Mataram king of Central Java. So Bali was renduced to the position of a vessal. But in the beginning of the ninth century A.D. the Balinese kingdom again rose to power. The first important king of Bali in this period was Sri Kesari—varmadeva. He founded the Varmadeva dynasty. The Vermadeva dynasty ruled Bali upto the last quarter of the fourteenth century A.D. In the last quarter of fourteenth century A.D., Bali lost her independent and the Varmadeva dynasty was uprooted A new envoy of Majapahit was enthroned in Bali to secure its allegiance. In the beginning of fifteenth century A.D., Majapahit empire declined and most of vassals in Indonesia hastened to assert their independence. Bali also declared her independence in the sixteenth centuary A.D In the seventeenth centuary A.D., Bali was practically divided into nine autonomous kingdoms. In 1906 and 1908, the Dutch launched their attacks against kings of Badung and Klungkung and both the kings were defeated. Thus the last independent

क्षेत्र में केन्द्रीय शासन किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करता था।

पंचम अध्याय में न्यायिक व्यवस्था का अध्ययन किया गया है। उस समय न्याय के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रचलित थे, वह पूर्णतः मानवीयता, औचित्य, सामाजिक परम्परा और सबसे ऊपर धर्म पर आधारित था। यद्यपि समस्त न्याय सम्राट के नाम पर किया जाता था, किन्तु स्वयं सम्राट भी कानून के अधीन था। यद्यपि राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था तथापि नीतिशास्त्रों में बार-बार यह लिखा है कि राजा को न्याय करते समय स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए। न्याय देने की शक्ति राजा सहित न्याय सभा में होती थी। कानून बनाने की शक्ति राजा के पास न के बराबर थी, वह पराश्रित था, वह धर्म के अधीन था। न्यायिक क्षेत्र में उसकी सहायतार्थ अन्य महत्वपूर्ण न्यायालयों व केन्द्र से लेकर स्थानीय स्तर तक की संस्थाएँ थीं।

षष्टम अध्याय में मौर्यकाल से गुप्तकाल तक के प्रमुख गणतन्त्रों व उनकी शासन-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। यद्यपि इन गणराज्यों को विजिगोषू व साम्राज्यवादी सम्राटों ने विजित किया परन्तु इनमें व्याप्त स्वतन्त्रता व प्रथकता की भावना का अन्त न कर सके। ये गणराज्य मौर्यकाल के क्षीण होते ही पुनः अस्तित्व में आ गये। किन्तु गुप्तकालीन साम्राज्यवाद की चपेट में पुनः आ गये। गुप्तराजाओं के साथ-साथ ही विश्व के अन्य देशों की भांति इस देश में सामन्तवादी व्यवस्था व्याप्त हो गयी।

अन्तिम अध्याय उपसंहार का है, इस अध्याय में मौर्यकाल से गुप्तकाल तक की महत्त्वपूर्ण शासन संस्थाओं का तुलनात्मक स्वरूप एवं विशेषताओं का उल्लेख करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस अंश तक आधुनिक पद्धति, प्राचीन शासन पद्धतियों से प्रभावित हुई है। आधुनिक केन्द्रीय शासन पद्धति, प्रान्तीय शासन पद्धति, स्थानीय स्वशासन व न्यायिक व्यवस्था का यदि पूर्णरूपेण तुलनात्मक अध्ययन मौर्ययुग से गुप्तयुग की पद्धति से किया जाये, तो स्पष्ट है कि हम उस प्राचीन शासन पद्धति के आभारी हैं जिसने हमारा मार्गदर्शन किया है। केवल आवश्यकता है कुछ परिवर्तनों की।

आज हम स्वतन्त्र होकर नवभारत के निर्माण के पाश्चात्य शासन-पद्धति को अपनाना चाहते हैं। किन्तु इस क्षेत्र में अपनी प्राचीन शासन पद्धति को भुला देना उचित न होगा। इस प्राचीनता को नवीनता में प्रत्यावर्तित करना होगा। कोई भी शासन पद्धति क्यों न हो, कोई भी तन्त्र क्यों न हो, उसकी सफलता की मात्रा कसौटी यही है कि वह मानव की सुख-समृद्धि में कहाँ तक सहायक है। इस कसौटी पर मौर्यकाल से गुप्तकाल तक की शासन-व्यवस्था खरी उतरती है, इस युग की श्रेष्ठता का कारण इस युग की वह भावनाएँ हैं, व व्यावहारिक क्रियात्मकता है, जिसे विश्व कभी सीमित नहीं कर पाया। जिसकी व्यापकता को न क्रूर काल ही सीमित

कर सका और न मानव की कृत्रिम भौगोलिक सीमाओं में बाँटनेवाली परम्परा अथवा साम्प्रदायिकता एवं जातीयता ही दूषित कर सकी। यही कारण है, उस युग की कृतियों का मूल्यांकन न कभी पुराना हुआ और न कभी होगा।

आज की परिस्थितियों में जबकि मानव जाति युद्धों की बर्बरता, साम्प्रदायिकता एवं जातीयता के संघर्षों के परिणामस्वरूप सिसकियाँ भर रही है। मौर्ययुग से गुप्तयुग के सम्राटों एवं शासन संस्थाओं का अनुकरण व अध्ययन अनिवार्य हो गया है। हमारा कर्तव्य है कि हम उस युग की शासन प्रणालियों को समझकर परिवर्तित परिस्थितियों में लागू करने की चेष्टा करें।

प्राचीन भारत में सम्प्रभुता का विकास

(वैदिक काल से गुप्त काल तक)

शोधकर्ता—राकेशकुमार
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1984

विषय-क्रम

अध्याय तृतीय—वैदिक युग में सम्प्रभुता

तिथिक्रम

वेदकालीन राज्य का स्वरूप

वेदों में राजनीतिक संगठन

सभा एवं समिति

वैदिक युग में सम्प्रभुता की अवधारणा

अध्याय चतुर्थ—प्राग् मौर्यकाल में सम्प्रभुता

रामायण

- रामायण में राज्य
- रामायण में राजा
- रामायण में सम्प्रभुता की अवधारणा

महाभारत

- महाभारत में राज्य
- महाभारत में राजा
- महाभारत में सम्प्रभुता की अवधारणा

बौद्धयुगीन गणराज्य

- कपिलवस्तु के शाक्य
- वैशाली के लिच्छवि
- मिथिला के विदेह
- वज्जि संघ
- गणराज्यों में सम्प्रभुता

मगध में साम्राज्यवाद

- हर्यंक वंश
- शिशुनाग वंश
- नन्द वंश
- सम्प्रभुता की अवधारणा

अध्याय पंचम—मौर्यकाल में सम्प्रभुता

मौर्य राजवंश

मौर्यकाल में राजा

मन्त्रि परिषद

सम्प्रभुता की अवधारणा

संक्षेपिका

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सम्प्रभुता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों की संरचना के समय सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का पर्याप्त विकास हो चुका था। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय अवधारणा तथा आधुनिक अवधारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रजातान्त्रिक देशों में सम्प्रभुता का निवास जनता में ही समझा जाता है, यह बात प्राचीन भारत के सम्बन्ध में भी भली प्रकार से चरितार्थ होती है। भले ही प्राचीन काल में अपने देश में राजतन्त्रात्मक पद्धति का बोलबाला रहा है किन्तु राजा के निरंकुश अधिकारों पर सदैव नियन्त्रण लगाने का भी प्रयास हुआ है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि शक्तिशाली सम्राट को भी प्रजा ने जब चाहा तो पदच्युत कर दिया। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन काल में सम्प्रभुता का निवास जनता में ही था।

इस शोध प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय स्रोत सामग्री से सम्बन्धित है। सामान्य रूप से ऐसा समझा जाता है कि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन की दिशा में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया किन्तु यह मत भ्रामक है। प्राचीन काल में राजनीतिशास्त्र को राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजधर्म नामों से सम्बोधित किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विद्या का जो विभाजन किया है उसमें दण्डनीति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी उल्लेख आया है कि दण्ड द्वारा अदान्त लोगों का दमन किया जाता है। मनुष्यों में अराजकता को रोकने तथा आर्थिक संरक्षण प्रदान करने के लिए जिस मर्यादा की स्थापना की जाती है उसे ही दण्ड कहते हैं। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है कि दण्ड ही धर्म और राजा है। इन विवरणों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों के दृष्टि-

कोण में दण्डनीति और राजधर्मशास्त्र का बड़ा महत्व था। प्राचीन हिन्दुओं ने अपने धर्मग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी राजा, सभा, समिति एवं राज्य सम्बन्धी अन्य विषयों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वास्तविकता तो यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में अमूल्य ऐतिहासिक निधि निहित है और राजनीति चिन्तन के क्षेत्र में इसने विशेष योगदान दिया है। विवेचन की सुविधा की दृष्टि से भारतीय इतिहास से सम्बद्ध इस विलक्षण साहित्य को निम्न प्रकार से विभक्त किया है।

(1) वैदिक साहित्य
(2) महाकाव्य
(3) धर्मशास्त्र एवं पुराण
(4) बौद्ध ग्रन्थ
(5) जैन ग्रन्थ
(6) कौटिल्य अर्थशास्त्र
(7) नीतिशास्त्र
(8) अन्य साहित्य
(9) पुरातात्त्विक साक्ष्य

द्वितीय अध्याय में सम्प्रभुता का अध्ययन अतीत और वर्तमान सन्दर्भ में किया गया है। प्राचीन अवधारणा के प्रसंग में वैदिक काल का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वास्तविक सम्प्रभु प्रजा ही थी परन्तु वह अपनी सुविधा के लिए राजा को अपने अधिकारों से सुसज्जित कर देती थी। वैदिककालीन सभा और समिति नामक दो लोकप्रिय संस्थाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रजा के प्रतिनिधियों का राजा के ऊपर पर्याप्त अंकुश था। महाकाव्यों के काल में भी अनेक ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जिनसे बोध होता है कि सम्प्रभुता का निवास जनता में ही था। महाजनपदों के काल में जब मगध का उत्कर्ष हुआ और एक साम्राज्य का विकास हुआ तो यह भ्रम उत्पन्न हुआ कि सम्प्रभुता राजा में निवास करनेलगी किन्तु यह धारणा भ्रमातमक है। शोध प्रबन्ध में यह सिद्ध करने का विनम्र प्रयास किया गया है कि साम्राज्यवाद के काल में भी सम्प्रभुता प्रजा में ही निहित थी। मौर्य राजवंश और गुप्त राजवंश के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है।

सम्प्रभुता सम्बन्धी आधुनिक अवधारणा का अध्ययन करते हुए यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि आधुनिक राज्यों के सम्प्रभु होने का विचार ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। यद्यपि 'सम्प्रभुता' शब्द का प्रयोग बौदां ने किया परन्तु सर्वोच्च सत्ता का विचार अरस्तु में भी दृष्टिगोचर होता है। हाब्स ने यह मत प्रतिपादित किया कि राजा सर्वोपरि है और इसकी इच्छा ही कानून है। हाब्स के पश्चात् लाक, रूसो और माण्टेस्क्यू आदि ने सम्प्रभुता के सिद्धातों को विकसित किया। परन्तु इसे कानूनी आवरण पहनाने का कार्य प्रसिद्ध न्यायशास्त्री जान-

आस्टिन ने किया।

तृतीय अध्याय में, वैदिक युग में सम्प्रभुता के स्वरूप, विकास एवं अवधारणा पर विचार किया गया है। आरम्भ में वैदिक ग्रन्थों का तिथिक्रम निर्धारित करते हुए वेदकालीन राज्य के स्वरूप की समीक्षा की गयी है। वेदों में जिस प्रकार के राजनीतिक संगठनों का उल्लेख आया है उनके सम्बन्ध में भी विस्तार से विचार किया गया है। सभा और समिति का जो राजनीतिक महत्व इस समय था उसे भी स्पष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय के अन्त में वैदिक युग में सम्प्रभुता की अवधारणा पर व्यापक रूप से विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में प्राग्-मौर्यकाल में सम्प्रभुता का अध्ययन किया गया है। मौर्यों से पूर्व रामायण, महाभारत तथा बौद्धकालीन गणराज्यों के सम्बन्ध में विचार करते हुए सम्प्रभुता के स्वरूप और उससे सम्बन्धित विभिन्न बातों की समीक्षा की गयी है। मगध में साम्राज्यवाद का जब उत्कर्ष हुआ और सम्प्रभुता के सम्बन्ध में जो विभिन्न विचार विद्यमान थे उनका भी अध्ययन किया गया। इस अध्याय के अन्तर्गत अपना यह विनम्र मत रहा है कि सम्प्रभुता इस काल में भी जनता में निहित थी।

पंचम अध्याय 'मौर्यकाल में सम्प्रभुता' का विस्तृत अध्ययन है। यह बात सर्व-विदित है कि चौथी सदी ई०पू० का समय भारतीय इतिहास में ही नहीं वरन् विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल था। इस समय ग्रीस के नगर राज्यों का अन्त हुआ और मकतूनिया के नेतृत्व में एक संगठित राज्य की स्थापना हुई। लगभग इसी समय मध्यपूर्व में फारसी साम्राज्य का पतन हुआ और रोम का उत्कर्ष एक प्रबल शक्ति के रूप में हुआ। उसी काल में भारत में भी एक ऐसे विशाल और संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई जैसा पहले नहीं सुना गया था। मौर्य शासक नन्दवंश का पतन देख चुके थे। अत: उन्होंने प्रजा का कल्याण अपना सर्वोच्च उद्देश्य स्थिर किया था। जब तक मौर्य शासकों ने प्रजा के हित का चिन्तन किया उनका साम्राज्य सुरक्षित बना रहा किन्तु अशोक की मृत्यु के बाद उसके अयोग्य उत्तराधिकारों ने प्रजा के हित की अवहेलना की तो मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया। अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने की। मौर्यों के राज्यकाल पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में भी सम्प्रभुता जनता में ही निहित रही।

षष्ठ अध्याय में 'गुप्तकाल में सम्प्रभुता' का विशद अध्ययन किया है। जिस प्रकार मौर्यकाल में राजा की स्थिति कूटस्थनीय थी उसी प्रकार गुप्त काल में भी राजा की स्थिति केन्द्रीय थी। इसी प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मौर्यकाल में सम्प्रभुता का निवास राजा में था उसी प्रकार गुप्तकाल में भी यह स्थिति बनी रही। गुप्तकालीन नरेश प्रजा के हितों की रक्षा करना तथा उसके

सुख-समृद्धि का ध्यान रखना अपना परम कर्तव्य मानते थे। शासन में सर्वोच्च स्थिति रखते हुए भी वे प्रजा के प्रति भी अपने को उत्तरदायी मानते थे। इसी अध्याय में सामन्त पद्धति के उदय पर भी प्रकाश डाला गया है।

सप्तम अध्याय उपसंहार है। संक्षिप्त रूप से इस अध्याय में यह सर्वेक्षण किया गया है कि वैदिककाल से गुप्तकाल तक सम्प्रभुता का निवास जनता में ही रहा है। कभी-कभी ऐसे अवसर प्रस्तुत हैं जब राजा के अधिकारों में वृद्धि के कारण उसे ही सम्प्रभु माना गया किन्तु ऐसा मत सदैव भ्रामक सिद्ध हुआ है क्योंकि शक्तिशाली से शक्तिशाली नरेश भी यदि सम्पूर्ण प्रजा के रोष का भागी बना तो उसका बध किया गया अथवा उसे पदच्युत कर दिया गया। निष्कर्ष यही है कि प्राचीनकाल में सम्प्रभुता का निवास जनता में ही रहा है।

मौर्यकालीन राजनीतिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ऋषि दयानन्द के राजदर्शन का अध्ययन

शोधकर्ता—साधना सिपाहा
निर्देशक—डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
वर्ष—1984

सारांश

चौथी शती ईसा पूर्व का काल भारतीय इतिहास में ही नहीं वरन विश्व के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण काल है। इसी समय ग्रीस के नगर राज्यों का अन्त हुआ और मकदूनियाँ के नेतृत्व में एक संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई। लगभग इसी समय फारसी साम्राज्य का पतन हुआ और रोम का एक प्रबल शक्ति के रूप में उत्कर्ष हुआ। इसी काल में भारत में भी ऐसे विशाल और संगठित साम्राज्य की स्थापना हुई, जैसा पहले नहीं सुना गया था। डा० पानिक्कर के अनुसार इसी समय योरोप, मध्य-पूर्व और भारतीय इतिहास की भावी रूपरेखा स्थिर हुई।

भारतीय इतिहास में मौर्यकाल का एक विशेष महत्व है। इस समय पहली बार लगभग समस्त भारत एक राजनीतिक सत्ता के नीचे संगठित हुआ। देश के बाहर भी भारत को एक महान राजनीतिक शक्ति देने का गौरव प्राप्त हुआ। यूनानियों ने अबकी बार जब इस देश पर आक्रमण किया तो उन्हें बुरी तरह परास्त होना पड़ा। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भी मौर्यों की देन अमिट है। उन्होंने शासन की जो पद्धति विकसित की, छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ वह अंग्रेजी शासन काल तक चलती रही। मौर्ययुग के समान विराट सीमाएँ इस देश की न पहले थीं, न मुगल काल में कभी हुईं, न ब्रिटिश भारत में और न ही आज के भारत में हैं। यह सब एक सुदृढ़ राजनीति में परिपक्व समुदाय ही कर सकता था। इस शोध प्रबन्ध का विषय मौर्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन है। साथ ही स्वामी दयानन्द के राजदर्शन की मीमांसा भी की गयी है।

इस शोध प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय शोध सामग्री से सम्बन्धित है। विदेशी तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने यह मत प्रगट किया है कि प्राचीन भारतीय इतिहास लिखने की कला से परिचित नहीं थे, किन्तु यह विदेशी विद्वानों की एक राजनीतिक दुरभि-सन्धि थी जिसके भ्रमजाल में कुछ भारतीय विद्वान भी भटक गये। विदेशी विद्वानों ने यह भी लिखा है कि प्राचीन भारतीय केवल परलोक की चिन्ता में ही व्यस्त रहते थे तथा इहलोक के विषय में अधिक ध्यान नहीं देते थे। इसलिए धर्म की तरफ उनका ध्यान अधिक रहा, यह उक्ति भी भ्रामक है। इस अध्याय में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि धर्म, राजनीति तथा इतिहास का एक-दूसरे से प्रगाढ़ सम्बन्ध है तथा इनको अलग नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य देशों के विद्वान भले ही यह प्रचार करते रहे कि इन तीनों को एक-दूसरे से अलग होना चाहिए पर वे स्वयं भी इन तीनों को अलग-अलग प्रतिष्ठित नहीं कर पाये। मनुस्मृति, महाभारत के शान्तिपर्व, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा शुक्र-नीतिसार में दण्ड-नीति को देश के उत्थान तथा प्रगति के लिए और अराजकता को मिटाने के लिए प्रमुख स्थान दिया गया है। दण्डनीति को इन्होंने धर्म और इतिहास से जोड़ दिया है। चाणक्य तो इतिहास को इतना महत्व देते हैं कि उन्होंने इतिहास को पाँचवाँ वेद मान लिया। सत्य तो यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में अमूल्य ऐतिहासिक निधि सुरक्षित है तथा भारत के ही नहीं वरन विश्व के राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उनका विशेष योगदान रहा है। मौर्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन से सम्बन्धित साहित्य को निम्न प्रकार से विभक्त किया गया है—

1. कौटलीय अर्थशास्त्र
2. संस्कृत ग्रन्थ
3. बौद्ध ग्रन्थ
4. जैन ग्रन्थ
5. विदेशी विवरण
6. पुरातात्विक सामग्री
7. स्वामी दयानन्द और उनकी रचनाएँ।

दूसरे अध्याय में राजा और राज्य के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। इनसे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों की आलोचनात्मक व्याख्या की गयी है। इसी अध्याय में राजपद के महत्व की मीमांसा भी की गयी है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने राज्य को सप्तांग मानकर उसके महत्व पर विशद रूप से विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार शरीर में सब अंग मिलकर काम करते हैं, वैसे ही राज्य के सातों अंग मिलकर चलने से ही पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। वह राज्य नहीं चल सकता, जिसका कोई अंग दूषित हो गया हो। अन्त में यह बतलाया गया

है कि राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए, उनके एक-दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य होते हैं तथा उपरोक्त विषय पर स्वामी दयानन्द के क्या विचार हैं।

तृतीय अध्याय में मन्त्रिपरिषद का विशद रूप से विवेचन किया गया है। मौर्य युग की मन्त्रिपरिषद को जानने से पहले इस अध्याय में मन्त्रिपरिषद की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। विद्वान काशीप्रसाद जायसवाल तथा राय के अनुसार प्रथम संस्था विदथ थी, जिससे सभा और समिति का उदय हुआ। वैदिक युग में राजनः राजकृतः वे व्यक्ति होते थे, जो समिति के सदस्य के रूप में राजा को राज-चिह्न प्रदान करते थे। उत्तर वैदिक युग में इन व्यक्तियों का स्थान रत्नियों ने ले लिया। रत्नियों की संख्या बारह होती थी तथा प्रत्येक रत्नि अपने विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। रत्नियों और उनके विभागों के अध्ययन से भविष्य में बननेवाले मन्त्रिमण्डल का आभास होने लगता है। जिस प्रकार राजनः राजकर्ता का स्थान रत्नियों ने ले लिया, उसी प्रकार समिति का स्वरूप भी बदला। जायस-वाल के अनुसार परवर्ती काल में समिति के स्थान पर परिषत् (परिषद) आ गयी। अल्तेकर भी रत्नियों को राजपरिषद का सदस्य मानते हैं। सभा और समिति के साथ ही पौर-जानपद का वर्णन किया गया है। इसे कुछ विद्वानों ने लोकसभा के तुल्य माना है तथा राजा और जानपद की सहमति से ही मन्त्रिमण्डल को गठित करने की शक्ति प्राप्त कर सकता था। मौर्य युग तक यह संस्थाएँ अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हो चुकी थीं। जब चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने नन्दों के विरुद्ध क्रान्ति करके उनका विनाश कर दिया तब उन्होंने इन्हीं संस्थाओं के कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए मन्त्रिमण्डल का गठन किया होगा। चाणक्य ने कार्य की सुविधानुसार मन्त्रियों की संख्या रखने का सुझाव दिया है। इसी अध्याय में यह उल्लेख भी किया गया है कि मन्त्री तथा महामात्य पर्यायवाची हैं तथा इनका चयन प्रधानमन्त्री की सहायता से ही मौर्य युग में किया जाता था। इनकी संख्या अठारह थी तथा अपने-अपने विभागों के ये अध्यक्ष थे। ये व्यक्ति जिन गुणों तथा योग्यता के आधार पर चुने जाते थे, उसका वर्णन भी विशद रूप से किया गया है। आगे चलकर राजा और मन्त्रि-परिषद के आपसी सम्बन्ध, एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र तथा एक-दूसरे पर नियंत्रण रखने से सम्बन्धित विषय को स्पष्ट किया गया है। अन्त में मन्त्रिपरिषद के विषय में स्वामी दयानन्द के विचार दिये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय में मौर्ययुग की न्याय-व्यवस्था की समीक्षा की गई है। जब तक अर्थशास्त्र का अध्ययन न किया जाये, यह सोचा भी नहीं जा सकता कि प्राचीन युग में आज के युग से भी अधिक उन्नत तथा सरल न्याय-व्यवस्था उपलब्ध थी। मौर्य युग में न्यायालयों की स्थापना, जनसंख्या के अनुसार की गई थी। जनसंख्या के आधार पर सबसे छोटी इकाई ग्राम थी जिसमें सौ से चार सौ परिवारों का निवास होता था। हर ग्राम में एक न्यायालय होता था। दस ग्राम मिलकर एक संग्रहण

बनता था। ग्राम न्यायालयों के ऊपर संग्रहण न्यायालय थे। दस संग्रहणों को मिलाकर एक खर्वाटक बनता था। संग्रहण न्यायालय के ऊपर खर्वाटक न्यायालय होता था। आठ खर्वाटकों को मिलाकर एक जनपद बनता था। खर्वाटक न्यायालय के ऊपर जनपद सन्धि का न्यायालय होता था। समस्त जनपद न्यायालयों के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होता था, जो राजधानी पाटलिपुत्र में स्थापित था तथा राजा के अन्तर्गत कार्य करता था। इस तरह का सुविधाजनक तथा सर्वांगी न्याय व्यवस्था आज भी उपलब्ध नहीं है। ग्राम तथा राजा के न्यायालय को छोड़कर सभी न्यायालय दो प्रकार के होते थे। धर्मस्थीय जिन्हें आज की भाषा में दीवानी न्यायालय कहा जाता है तथा कण्टकशोधन जो आधुनिक युग में फौजदारी न्यायालय कहलाते हैं। इस अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था, जैसा आजकल हमारे प्रजातन्त्र में राष्ट्रपति है। सर्वोच्च न्यायाधीश के विवरण के बाद विधि के चार अंगों धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राज शासन का विशद रूप से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात न्यायिक प्रक्रिया का ब्यौरा दिया गया है, जिसे पढ़कर अब भी सुखद अनुभूति होती है। न्यायालय सुबह प्रातः ही खुल जाते थे। मुकदमा प्रस्तुत होने से पहले न्यायालय का लेखक मुकदमे के सम्पूर्ण विवरण, जिसमें तिथि, कारण, अधिकरण (घटनास्थल), ऋण की मात्रा, वादी और प्रतिवादी का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम तथा पेशा और उन दोनों की युक्तियों का पूरा विवरण लिखता था। साक्षी को गवाही देने से पहले सत्य बोलने की शपथ लेनी होती थी। मुकदमे के प्रतिवादी को अपना पक्ष तैयार करने के लिए केवल सात दिन का समय दिया जाता था। मुकदमों की सुनवाई न्यायाधीश के साथ तीन न्यायाधिकारी व तीन सभ्य (जूरी) करते थे, जिससे न्याय निष्पक्ष हो सके। कोई भी व्यक्ति यदि नीचे के न्यायालयों के न्याय से सन्तुष्ट न हो तो वह सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर सकता था। आधुनिक युग में भी यही पद्धति देखने को मिलती है, अन्तर केवल इतना है कि मौर्ययुग में न्याय निष्पक्ष तथा जल्दी मिलता था तथा आज वह स्थिति नहीं है। मौर्य युग में शारीरिक दण्ड तथा अंग भंग के निर्देश भी मिलते हैं। मृत्यु देने के तरीके भी अपराधों के तरीके के अनुसार नियत किये जाते थे। यह सब इसलिए किया जाता था, जिससे अपराधियों के हृदय में न्याय के प्रति डर रहे तथा वे न्याय का सम्मान करना सीखें। आज का न्याय इन तरीकों को नकारता है यही कारण है कि आज के युग में अपराध बढ़ रहे हैं और न्याय मखौल बनकर रह गया है। अध्याय के अन्त में न्याय व्यवस्था के बारे में स्वामी दयानन्द के विचार दिये गये हैं।

पंचम अध्याय भू-स्वामित्व और कर-प्रणाली से सम्बन्धित है। इस अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि भूमि का स्वामी कौन होता था। कहलाने को तो सारी भूमि पर राज्य का अधिकार होता था, परन्तु राजा इस भूमि का स्वामी

नहीं होता था। भूमि जोतनेवाले की ही होती थी तथा उसे राज्य की सहमति से बेचने तथा खरीदने का अधिकार होता था। इसी प्रकार राजा तथा उसके रिश्तेदारों की अपनी निजी स्वामित्व की भूमि हो सकती थी। राज्य के स्वामित्ववाली भूमि सीता कहलाती थी। राजकीय भूमि में से कुछ भूमि ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय आदि को इस प्रयोजन से दी जाती थी, जिससे वे अपना जीवन-निर्वाह तथा धार्मिक अनुष्ठान व मन्दिरों का रख-रखाव कर सकें। यह भूमि ब्रह्मदेय कहलाती थी। जिस भूमि पर राज्य का स्वत्व नहीं होता था, उस भूमि के स्वामी प्रजा के लोग होते थे, जिस पर कृषक स्वयं अथवा कर्मकारों द्वारा खेती करवाता था। इससे जो उपज होती थी, उसमें से एक निश्चित अंश राज्य को देना होता था, जो 'भाग' कहलाता था। इसी अध्याय में बलि, शुल्क-कर, तर-कर, आकर-कर, दण्ड-कर तथा तट कर का विस्तृत वर्णन किया गया है। कर लेने के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रत्यक्ष करों में व्यापारियों के तोल और माप के बाँटों पर कर लिया जाता था। यदि तोल और माप गलत पाये जाते थे तो उन पर अर्थदण्ड देना होता था। दूसरा प्रत्यक्ष कर द्यूत पर था। इसी प्रकार वेश्याओं, गणिकाओं, नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, प्लवक, सौभिक तथा चारणों आदि से भी प्रत्यक्ष कर लिया जाता था। चिकित्सक, धोबी, सुनार, आदि को भी प्रत्यक्ष कर देना होता था। अर्थशास्त्र में आपातकालीन कर लेने की व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है। अन्त में कर सम्बन्धी सिद्धान्तों पर स्वामी दयानन्द के विचार दिये गये हैं।

षष्ठ अध्याय में मौर्यकाल की सैन्य व्यवस्था का वर्णन निहित है। मौर्यों की सेना विशाल थी, जिसके बल पर उन्होंने एक बहुत बड़े भू-भाग पर नियन्त्रण कर रखा था। इसी विशाल सेना की वजह से मौर्ययुग में किसी बाहरी शत्रु की इस देश पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं हुई। सैन्य व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वप्रथम युद्ध विभाग का वर्णन है। तत्पश्चात् सेना के पाँचों अंगों का वर्णन है जिसमें सबसे अधिक महत्त्व हस्ति सेना को दिया गया है तथा सबसे कम महत्व नौ सेना को दिया गया है। यूनानी विवरणों में युद्ध-मैदान में घायल सैनिकों की चिकित्सा का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसका विशद रूप से वर्णन किया गया है। इसको हम सेना का छठा अंग मान सकते हैं और आधुनिक युग की आर्मी मेडिकल कोर से तुलना कर सकते हैं। इसी अध्याय में सेना के काम में आनेवाले अस्त्र-शस्त्रों तथा अन्य उपकरणों का समावेश भी है। ये कई प्रकार के होते थे, जैसे—स्थिर यन्त्र, चल यन्त्र, धारवाले तथा नुकीले आयुध, विभिन्न प्रकार के धनुष, क्रकच आयुध तथा पत्थर फेंकने के कई तरह के यन्त्र थे। अन्य उपकरणों में विभिन्न प्रकार के लौह-जाल, कवच, शिरस्त्राण, तथा कण्ठत्राण आदि का वर्णन है। इसी अध्याय में विभिन्न प्रकार के युद्धों तथा रासायनिक युद्धों का उल्लेख किया गया है।

युद्धों के प्रकार के बाद विभिन्न प्रकार के व्यूह, उनकी रचना तथा उनके भेद और प्रभेद का वर्णनकिया गया है। साथ ही युद्ध नीति, युद्ध में हारे हुए सैनिकों तथा प्रजा के साथ विजयी राजा को कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका भी उल्लेख किया गया है। मौर्य युग के युद्ध और अस्त्र-शस्त्र आधुनिक युग के समान नहीं थे, न ही उस समय वायु सेना तथा आकाश युद्ध होते थे। मौर्य युग की नौ-सेना भी आज के समान उन्नत नहीं थी। यह अन्तर काल की गति तथा आधुनिक विज्ञान की उन्नति के कारण है। अध्याय के अन्त में स्वामी दयानन्द की दृष्टि में युद्ध और उसके परिणामों पर विचार किया गया है।

शोध प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय उपसंहार है। इसमें प्रथम छः अध्यायों का सारतत्व प्रस्तुत किया गया है।

THE EVOLUTION OF INDIAN CULTURE IN BALI

Submitted by :
I Gusti Putu Phalgunadi
Under the Guidence of :
Dr. B. C. Sinha
Year—1984

SUMMARY

The Evolulion of Indian Culture in Bali Passed through many phases. In certain fields the impact was direct and in many others indirect one. In the first chapter, an attempt has been made to show the background of the Baliness culture and the people before the coming of the Hindu influence. The Pre-Hindu people of Bali had a strong spiritual learning and the basic values of their culture survives till today. It is an important point to note that the principal geographical and ethnic factors are very important for understanding later historical and cultural development in Bali. When Hindu culture spread to Bali the Balinese tried to mingle it with their indigenous religion and traditions through the process of assimilation. This is a significant trait of the Balinese character.

The second chapter is devoted to the first Indian immigrants. It has been shown, that Hindu contact with Indonesia was made some centuries before the beginning of the Christian era. Bali was directly Hinduized in early years of the Christian era from India. It was not much influenced by Java before eight century A.D. The Hindu culture migrated from coastal areas of India. It is clear that the South Indian people were the first to carry the Hindu culture to Bali. This culture was

gradually assimilated by the pre-Hindu people of the land. They adopted Sanskrit and Dravidian language and enriched the Balinese (Austronesian) vocabulary. Many Dravidian words are still in use such as Putu and Ktut. The name Murugan (ephitet of Karttikeya) is common both in Bali and Tamil country. The style of using traditional dress and flowers, the custom of erecting "Penjor" (Bamboo-stambha), the art of "Paku-pipid" (palmleaves) and the marriage-pledge along with its procession indicate Tamil influence.

The third chapter contains a study of Political history of Bali. During the later half of the sixth century A.D. the great powers were rising in the two parts of Indonesia. In the western part we see the Srivijaya empire. Later on Java became powerful under the Sanjaya dynasty. Bali was growing powerful under a Ksatriya dynasty. They were the indigenous people of Bali who had Indian blood. They were coronated as kings by the Brahmanas. The Balinese kings had close relations with the Chinese emperors. Embassies to China were sent regularly. It appears that the Balinese kingdom was developing independently. This kingdom continued to be quite powerful till third quarter of the eight century A.D. Before the end of the eight century A.D., Bali was conquered by Hindu Mataram king of Central Java. So Bali was renduced to the position of a vessal. But in the beginning of the ninth century A.D. the Balinese kingdom again rose to power. The first important king of Bali in this period was Sri Kesari—varmadeva. He founded the Varmadeva dynasty. The Vermadeva dynasty ruled Bali upto the last quarter of the fourteenth century A.D. In the last quarter of fourteenth century A.D., Bali lost her independent and the Varmadeva dynasty was uprooted A new envoy of Majapahit was enthroned in Bali to secure its allegiance. In the beginning of fifteenth century A.D., Majapahit empire declined and most of vassals in Indonesia hastened to assert their independence. Bali also declared her independence in the sixteenth centuary A.D In the seventeenth centuary A.D., Bali was practically divided into nine autonomous kingdoms. In 1906 and 1908, the Dutch launched their attacks against kings of Badung and Klungkung and both the kings were defeated. Thus the last independent

सीधा प्रभाव पड़ता है। मन की चिकित्सा पाँच भूतों के आधीन है अतः चरक ने मन को भौतिक कह दिया है। सांख्य ने मन को अहंकार से उत्पन्न इसलिए माना है कि अहंकार से दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। 'उभयनिन्द्रियं च' सांख्यदर्शन मन को भी एक इन्द्रिय मानता है। वैसे भी अहंकार मन में ही उत्पन्न होता है।

कार्य कारणवाद के सन्दर्भ में सांख्य और चरक सत्कार्यवादी समान रूप में प्रतीत होते हैं। परन्तु सृष्टि रचना के प्रसंग में दोनों में मौलिक भेद है। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष दोनों को ही सृष्टि की उत्पत्ति में समान उपयोगी मानता है। किन्तु चरक पुरुष को प्रधानता देता है। चरक ने सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण में पाँच इन्द्रियों को स्वीकार किया है और वे इन्द्रियाँ भौतिक हैं जबकि सांख्य दर्शन इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न हुआ स्वीकार करता है। सांख्य के मतानुसार मन न विभु है न प्रच्छन्न किन्तु मध्यम परिमाण वाला है, वह संकोच और विकासशील है। वह आश्रय के भेद से तदाकार हो जाता है। चरक ने इन्द्रियों को विभु माना है। उसका तर्क यह है कि इन्द्रिय विभु न हो तो वह समस्त मिश्रित भूतों में से अपने से संवंध विषय का अन्वेषण नही कर सकती। शोधकर्ता ने सांख्य का मध्यम परिमाणअधिक समीचीन बतलाया है। क्योंकि यदि इन्द्रियाँ विभु हों तो सर्वत्र विषय के प्रकाश की प्रसक्ति होगी। किन्तु इन्द्रियाँ सर्वत्र प्रकाश नहीं करतीं।

चरक और सांख्य दर्शन में दुःखों के उत्पत्ति के विषय में भी मतभेद है। सांख्य ने दुःखों का कारण अधर्म-अवैराग्य तथा प्रकृत्ति पुरुष का संयोग माना है। चरक ने दुःखी की उत्पत्ति में उपधा, मतिभ्रंश, कालक्रम सम्प्राप्ति और प्रज्ञा अपराध आदि को कुकारण माना है। दुःख निवारण के उपायों में दोनों ही समान मत रखते हैं। परन्तु दोनों की निरूपण शैली सर्वथा भिन्न है। चित्त शुद्धि को मोक्ष की प्राप्ति में दोनों ही दार्शनिक स्वीकार करते हैं। दोनों दार्शनिकों के अनुसार मोक्ष का सामान्य अर्थ छुटकारा है। सांख्य दर्शन तीनों दुःखों से छुटकारे का नाम मुक्ति मानते हैं। चरक शारीरिक दुखों को और औषधियों से भी छुटकारे के रूप में मानते हैं।

शंकराचार्य, मध्वाचार्य तथा दयानन्द का तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन

शोधकर्ता—नामदेव दुधारे
निर्देशक—डॉ० जयदेव वेदालंकार
वर्ष—1986

सारांश

भारतीय दर्शनों में अद्वैत वेदान्त दर्शन तथा वैष्णव-दर्शनों में द्वैत दर्शन इन दोनों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रतिनिधि, मध्वाचार्य द्वैतवाद के प्रतिनिधि और महर्षि दयानन्द नैतवाद के प्रतिनिधि माने जाते हैं। इस शोध प्रबन्ध में इन तीनों प्रतिनिधि आचार्यों के दार्शनिक मन्तव्यों के साम्य वैषम्य को दर्शाया गया है। शोध प्रबन्ध का प्रारम्भ भारतीय दर्शन में प्रत्ययवादी और यथार्थवादी धाराएँ एवं उनकी पूर्व पृष्ठभूमि से किया है। प्रत्ययवादी धारा के अन्तर्गत माध्यमिक बौद्ध शून्यवादी योगाचार (विज्ञानवादी बौद्ध तथा अद्वैत-वादी शंकराचार्य का समावेश है। यथार्थवादी धारा में सांख्य न्याय सौत्रान्तिक बौद्ध वैभाषिक बौद्ध, पूर्वमीमांसा मध्वाचार्य और स्वामी दयानन्द आदि दार्शनिकों का समावेश किया गया है।

ज्ञान मीमांसा के विषय में तीनों दार्शनिकों के प्रमाणों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शंकराचार्य केवल छः प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। मध्वाचार्य केवल तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं वे तीन हैं—प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द या आगम। स्वामी दयानन्द भारतीय दर्शनों में माने गए प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव आठ प्रमाणों का वर्णन करते हैं परन्तु न्याय दर्शन की भाँति इन आठों का अन्तर्भाव चार प्रमाणों में मानते हैं। ऐतिह्य का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में तथा अर्थापत्ति सम्भव, एवं अभाव का अन्तर्भाव अनुभव में करते हैं।

आचार्य शंकर ने प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत-ज्ञानगत-प्रत्यक्ष, विषयगत प्रत्यक्ष, अन्तःकरणवृत्ति, सविकल्पक प्रत्यक्ष, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, जीवसाक्षी प्रत्यक्ष, ईश्वर साक्षी प्रत्यक्ष, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष आदि का वर्णन किया है। मध्वाचार्य ने प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद की सिद्धि, त्रिविध भेद—सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेद का स्पष्टीकरण किया गया है। शंकर के अनुसार प्रमाण उसे कहते हैं—जो स्मृति भिन्न हो तथा जिसका विषय पहले से अवगत न हो, एवं जिसका बाध न होता हो। मध्व के मत में यथार्थज्ञान के साधन ही प्रमाण हैं। दयानन्द के अनुसार सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए जिसका उपयोग जाय, वही प्रमाण है।

आचार्य शंकर अनुमान प्रमाण में व्याप्ति का लक्षण अनुमान और भेद-स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान तथा अनुमान की उपयोगिता का वर्णन किया है। मध्व के मत में अनुमान के भेद तथा उनकी सिद्धि का वर्णन विस्तृत रूप में प्राप्त होता। मध्व शंकर ऐतिह्य तथा सम्भव प्रमाण को अस्वीकार करते हैं। दयानन्द और शंकर अभाव प्रमाण को मानते हैं। मध्व अभाव को प्रमाण नहीं मानते हैं।

उपर्युक्त तीनों आचार्य ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं। शंकर के अनुसार जगत् उत्पत्ति स्थिति और विनाश जिससे होता है वही ब्रह्म है। शंकर का ब्रह्म निर्विशेष ब्रह्म है। वह निष्क्रिय, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष तथा विभु है।

मध्वाचार्य ब्रह्म सगुण, साकार सक्रिय सविशेष तथा विभु है। परमात्मा नारायण विष्णु श्रुति आदि नामों से पुकारा जाता है। दयानन्द का ब्रह्म निर्गुण, सगुण और विभु है। अतः शंकर का ब्रह्म निर्विशेष है। मध्व का ब्रह्म सविशेष है। उस ब्रह्म का लक्षण हो सकता है। दयानन्द का दर्शन ब्रह्म के विषय शंकर और मध्व की खाई को पाटता है अर्थात समन्वत करता है। दवानन्द की मान्यता है कि जो-जो गुण ब्रह्म में नहीं हैं उनकी दृष्टि से वह निर्गुण है। जैसे जड़ता आदि जो-जो गुण ब्रह्म में हैं उनकी दृष्टि से वह सगुण है जैसे व्यापकता चेतनता आदि। आचार्य शंकर का सृष्टि कर्त्ता नहीं है। सृष्टि रचना के लिए ईश्वर अवधारण शंकर ने विचित्र रूप में स्वीकार की है।

शंकर, मध्व और दयानन्द जीवात्मा की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं परन्तु शंकर जीवात्मा को पारमार्थिक रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उसे वह मायोपहित चैतन्य स्वीकार करते हैं। जीवात्मा की केवल व्यावहारिक सत्ता है। पारमार्थिक नहीं है। जीवात्मा का परिमाण अणु रूप में स्वीकार करते हैं। मध्व जीवात्मा की विष्णु से हुई है—ऐसा मानते हैं इनके अनुसार जीवात्मा विनाश नहीं होता। जीवात्मा इनके अनुसार नित्य है। जीव अनेक हैं मध्व के अनुसार की उत्क्रान्ति, गति और आगति होने से जीवन अणु परिमाण तथा परिच्छिन्न है।

दयानन्द के मतानुसार जीवात्मा नित्य है। ईश्वर के द्वारा उत्पन्न नहीं होता

है। जीव अनादि और स्वतन्त्र सत्ता वाला है। वह चेतन स्वरूप है। जीव अनेक है। वह दुःखों से छुटकारा पाना चाहते हैं। इनके अनुसार जीवात्मा परिच्छिन्न तय अणु परिणाम वाला है।

सृष्टि रचना के विषय में तीनों आचार्यों में मौलिक मतभेद हैं। आचार्य शंकर ने माया को ऐसी विलक्षण शक्ति मानी है कि वह न सत् और न असत् है अपितु वह मिथ्या है। भूत माया को एक और अनादि माना है परन्तु उधर वह सान्त है। अर्थात् भूत और वर्तमान में है 'भविष्यत में नष्ट हो जायेगी। इसलिए शंकर के अनुसार माया नित्य नहीं है। माया सत्-असत् से रहित अनिर्वचनीय है। वह अपनी शक्ति द्वय आवरण और विक्षेप शक्ति से जगत की रचना करती है। वास्तव में वह माया इन शक्तियों से ब्रह्म को मायोपहित चैतन्य रूप में ब्रह्म ही विवर्त के द्वारा जगत के रूप भासित होता है। वह व्यष्टि और समष्टि रूप में भासित होता है। जैसे सूर्य।

मध्व, माया को ईश्वर की इच्छा, वासना लक्ष्मी और प्रकृति आदि नामों से स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार अनादि और नित्य है। ये प्रकृति अर्थात माया को विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के रूप में स्वीकार करते हैं। यह माया अर्थात प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। मध्व सृष्टि रचना में माया को उपादान कारण मानते हैं। शंकर ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं। अतः मध्व के मत माया अर्थात प्रकृतिसत् है।

दयानन्द रजस तमस् और सत्व की साम्यावस्था को प्रकृति मानते हैं। अतः प्रकृति अनादि नित्य और सृष्टि रचना में उपादानकरण है। इनके अनुसार ब्रह्म निमित्त कारण और जीवात्मा साधारण कारण हैं। महदादि प्रकृति के विकार हैं। प्रकृति का कोई कारण या प्रकृति किसी का विकार नहीं है अपितु समस्त जागतिक पदार्थ प्रकृति के विकार हैं। दयानन्द के अनुसार ईश्वर जीव और प्रकृति ये तीन अनादि सत्ताएँ हैं। मध्व भी इन तीन को अनादि मानते हैं। शंकर इन तीनों को अनादि तो मानते हैं परन्तु केवल ब्रह्म को ही सत् एवं नित्य मानते हैं। जीव और माया नित्य नहीं है। अतः शोधकर्ता न इस विषय में दयानन्द और मध्व को यथार्थ-वादी दार्शनिक स्वीकार किया है।

आचार शास्त्र के विषय में भी तीनों दार्शनिकों साम्य और वैषम्य है। शंकर ज्ञान मार्ग और कर्ममार्ग को मानते हैं। निष्काम कर्म ही देवत्व की प्राप्ति कराता है। ये ज्ञान मार्ग में साधन चतुष्य श्रवण-मनन निदिध्यासन एवं साक्षात्कार को माना है। षष्ट सम्पत्ति आदि को साधन मार्ग मानते हैं।

मध्व के अनुसार श्रेष्ठ आचरण से स्वर्ण दुराचरण से नरकादि प्राप्ति होती है। दयानन्द के अनुसार श्रेष्ठ कर्म करना मनुष्य का परम धर्म है, तीनों आचार्य आचार को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं।

शंकर, मध्व और दयानन्द के मत में मुक्ति की अवधारणा मानी जाती है। शंकर के मत में जीव को यह बोध होना कि वह ब्रह्म है यही मोक्ष है। मध्व के मत में विष्णु के साथ रहना न कि विष्णु हो जाना। दयानन्द के मत दुखों छूटकर परमानन्द की प्राप्ति होना ही मोक्ष है। दयानन्द मुक्ति से जीवात्मा का पुनरावर्तन स्वीकार करते हैं। मध्व और शंकर जीवात्मा का वापिस आना नहीं मानते हैं।

जैन, बौद्ध और न्याय दर्शनों में ज्ञानमीमांसा : एक तुलनात्मक अध्ययन

शोधकर्ता—ओ३म् शर्मा
निर्देशक—डॉ० जयदेव वेदालंकार
वर्ष—1982

सारांश

भारतीय दर्शनों में तत्वमीमांसा का वर्णन जहाँ अतिसूक्ष्म रूप में प्राप्त होता है वहाँ ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा का वर्णन भी अति गहन रूप में किया गया है।

आदिकाल से मानव सत्य का अन्वेषण करने का प्रयास करता रहा है। उसकी ज्ञान पिपासा वैदिककाल के ऋषियों से ही प्राप्त होती है जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है कि 'तत्वं पूषन् अपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये'। जैन न्याय और बौद्ध दर्शन ने ज्ञान का स्रोत क्या है, ज्ञान की प्राप्ति के विषय में तीनों दार्शनिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञान की प्राप्ति को स्वीकार करते हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय और अर्थ के सन्निष्कर्ष से उत्पन्न ज्ञान को स्वीकार किया है परन्तु तीन शर्तों का पूर्ण होना आवश्यक है। वह ज्ञान अव्यय देश्यम हो अव्यभिचारी हो और व्यवसायात्मक हो। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि स्मरण और प्रत्यभिज्ञान के अतिरिक्त सुख-दुःख की अनुभूति द्वारा आत्मा का ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन क्षण आवश्यक हैं, प्रथम क्षण में इन्द्रिय सान्निध्य से विषय की प्रतीति, द्वितीय क्षण में दृष्टा में हेयोपदेयता तृतीय में उसका साक्षात्कार होता है। विषय प्रत्यक्ष के आधार पर ही द्रष्टा की हेयोपादेयता की सिद्धि प्रत्यक्ष होती है। कल्पना प्रौढ़ प्रत्येक्षैव सिद्धपति न्याय दर्शन के मत में प्रत्यक्ष प्रमाण सविकल्पक और निर्विकल्पक होता है। इन्द्रियार्थ सन्निष्कर्ष के पश्चात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद माने जाते हैं। लौकिक और परोक्ष। इसमें मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान भी होता है। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष विषयगत एवं द्रष्टागत प्रत्यक्ष होता है—इन्द्रिय, मनस्, आत्म और योगज ये चार प्रकार के भेद किये गये हैं।

अनुमान प्रमाण को तीनों दर्शन स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। न्याय दर्शन के अनुसार अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। नव्य न्याय के मत में अनुमान प्रमाण व्याप्ति पर निर्भर करता है। नव्य न्याय ने अनुमान प्रमाण पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ये अन्वय और व्यतिरेकि रूप में दो भेद माने जाते हैं।

अनुमान प्रमाण सन्देह आदि से परे हों इसलिए पंच अवयव सहित और हेत्वाभासों से रहित अनुमान वाक्य होने चाहिए। जैन दर्शन में अनुमान प्रमाण के विषय में कहा है कि यह अभिनिबोध ज्ञान होता है। कहा है कि साध्य विषयक निश्चय जो कि हेतु के द्वारा इन्द्रियों के बिना उत्पन्न होता है उसे अभिनिबोध ज्ञान कहते हैं। लिंग 'परामर्शोऽनुमानम्' अर्थात् न्याय की तरह लिंग परामर्श ज्ञान को भी अनुमान कहा है। अनुमान प्रमाण पर अनेक जैन दार्शनिकों ने गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की है।

बौद्ध दार्शनिकों ने न्याय दर्शन की तरह अनुमान प्रमाण की विवेचना मौलिक रूप में तथा गहन रूप में प्रस्तुत की है। आचार्य वसुबन्धु ने कहा है कि अनुमान वही है कि जो प्रत्यक्ष के अवशिष्ट विषय के प्रति आश्वस्त है। धर्मकीर्ति ने कहा है कि सम्बन्धी धर्म से धर्मों के विषय में जो परोक्षानुभूति होती है वही अनुमान है। बौद्ध दार्शनिक अनुमान ज्ञान पर अपने ढंग से विचार करते हैं। कुछ बौद्ध दार्शनिक इसे सन्देह से परे ज्ञान स्वीकार नहीं करते हैं। आचार्य दिङ्नाग अनुमान को स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप में स्वीकार करते हैं। साधर्म्य और वैधर्म्य युक्त भी अनुमान ज्ञान को स्वीकार किया है।

उपमान प्रमाण को न्याय दर्शन ने स्वीकार किया है। सादृश्य ज्ञान को उपमान ज्ञान माना जाता है। जैन दर्शन को उपमान प्रमाण को पृथक् रूप में स्वीकार नहीं किया हैं। परोक्ष ज्ञान में उसे अन्तर्निहित किया गया है। वैसे जैन दर्शन उपमान प्रमाण को अनुपयुक्त माना है। बौद्ध दार्शनिक भी उपमान प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं। न्याय दर्शन उपमान प्रमाण को सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ देते हैं। उनका मत है कि उपमान प्रमाण शब्द और अनुमान ज्ञानपूर्णतः भिन्न है। जहाँ उपमान और उपमेय भाव पाया जाता है वहीं उपमान प्रमाण विषय हो सकता है। सर्वत्र नहीं जैसा माष से माषपर्णी। इस ज्ञान में माष उपमान और माषपर्णी उपमेय है।

न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण स्वीकार किया जाता है। आप्त वचन को शब्द प्रमाण माना गया है। यह ज्ञान आर्य म्लेच्छों में समान होता है। अर्थात् जो विद्वान जिसका ज्ञाता होता है, वही उस ज्ञान का आप्त प्रमाण है। आप्त प्रमाण दृष्ट और अदृष्ट दोनों रूपोंवाला होता है। शब्द बोध रूप यथार्थ ज्ञान के कारण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के विषय में विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत ही स्वीकार किया प्रतीत होता है। बौद्ध दर्शन में भी दो ही प्रमाणों को स्वीकार किया है।

न्यायदर्शन ने शब्दशक्ति बोध पर पर्याप्त विचार किया है।

ज्ञान के स्रोतों के साथ प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय भारतीय दार्शनिकों ने ख्यातिवाद के विषय में गहन युक्तियों का विवेचन किया है। ख्याति का अर्थ है—भ्रम। न्याय-दर्शन अन्यथा ख्यातिवादी माने जाते हैं। उनकी मान्यता है कि जहाँ रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है वह सत् सर्प अन्यत्र स्थान पर होता है। अतः न्यायदर्शन अन्यथा ख्यातिवादी माने जाते हैं। जैन दर्शन स्यात्वाद को मानता है। इसलिए स्यात् शब्द के प्रयोग से ख्यातिवाद के प्रसंग में वह अंशतः प्रत्येक वस्तु को सत् और असत् माना जाता है। अतः जैन दार्शनिक ख्यातिवाद के विषय में भी स्यात् शब्द का प्रयोग करते प्रतीत होते हैं। इस विषय में जैन दर्शन में विशेष विवेचन नहीं किया गया है।

बौद्ध दर्शन में ख्यातिवाद का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। शून्यवादी बौद्ध असत् ख्यातिवादी माने जाते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक आत्मख्यातिवादी हैं।

जैन दर्शन, न्याय दर्शन और बौद्ध दर्शन में अवयव वाक्यों को स्वीकार किया है। बौद्ध दर्शन में हेत्वाभासों का वर्णन विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। न्याय दर्शन में भी हेत्वाभासों का वर्णन बिस्तृत रूप में किया गया है। जैन दार्शनिकों ने भी हेत्वाभासों को माना है। श्री हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण मीमांसा में हेत्वाभासों को तीन प्रकार का स्वीकार किया है।

०००
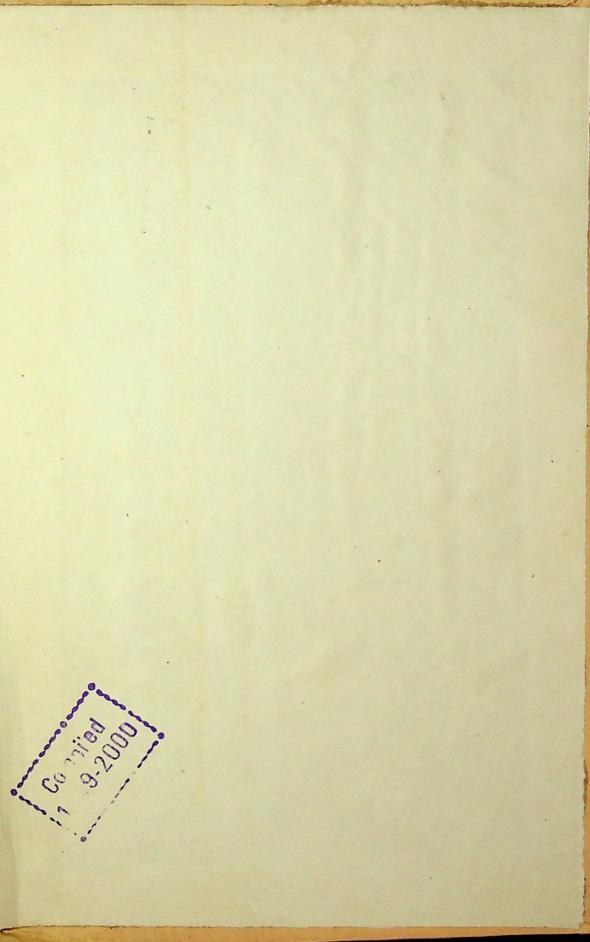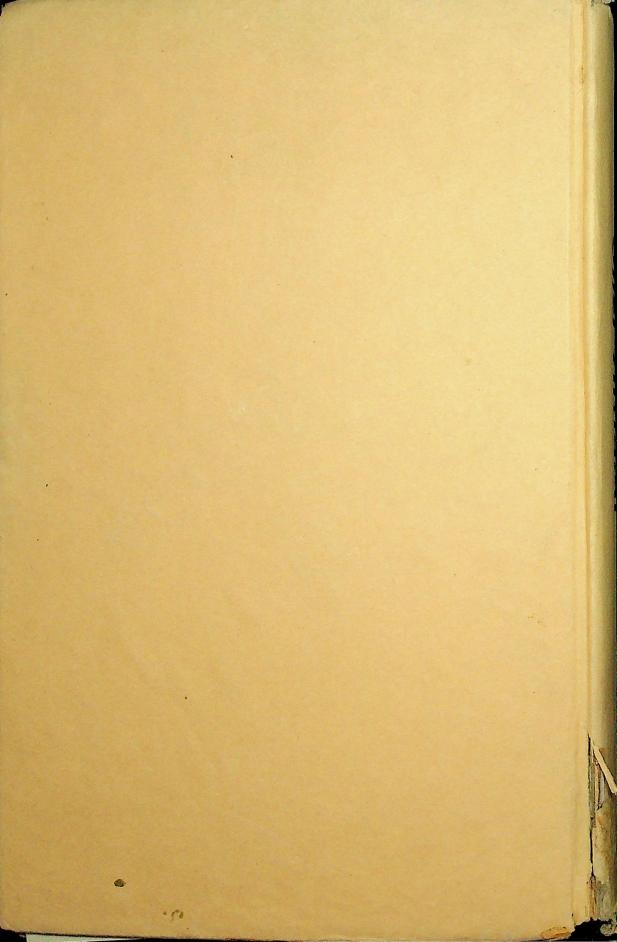
एक और गौरवशाली प्रकाशन

वैदिक साहित्य संस्कृति और समाज-दर्शन

(डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : व्यक्तित्व और कृतित्व)

डॉ० सत्यव्रत की शिक्षा गुरुकुल में ही सम्पन्न हुई। उन्होंने १९१९ में गुरुकुल से स्नातक उपाधि प्राप्त की। उनके अथक प्रयासों और प्रशासनिक कौशल के फलस्वरूप गुरुकुल को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए प्रसिद्ध गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी की स्थापना हुई, जिसने आगे चलकर आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण में कीतिमान स्थापित किया और गुरुकुल को अभूतपूर्व आर्थिक स्थायित्व दिया। इन्हीं के प्रयासों से जून १९६२ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय स्तर के शिक्षा संस्थान की मान्यता प्रदान की। डॉ० सत्यव्रत इस विश्वविद्यालय के प्रथम वाइस चांसलर भी बने, जिस पद से उन्होंने १९६६ में अवकाश ग्रहण किया। पुनः १९८० से १९८७ तक वह गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के 'विजिटर' नियुक्त किए गए।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अर्चना के स्वर, शुभकामनाएँ, श्रद्धांजलियाँ, प्रज्ञालोक, श्रद्धार्चन, जीवन यात्रा, ग्रन्थ-परिचय, लेखन परिदृश्य शीर्षक अध्यायों में बाँटकर डॉ० सत्यव्रत के व्यक्तित्व और कृतित्व का आकलन विभिन्न साहित्यकारों, समाज सुधारकों, राजनेताओं और विद्वानों द्वारा किया गया है। आर्यसमाज : साहित्यिक परिदृश्य शीर्षक से स्वामी दयानंद के साथ गाँधी, मार्क्स, भारतेन्दु, प्रेमचन्द आदि का तुलनात्मक विवेचन किया है और अन्त में डॉ० सत्यव्रत के दो यात्रा-प्रसंग उन्हीं की कलम से दिए गए हैं।